शान्तमूर्ति आचार्य पूज्यश्री विजयसमुद्रसूरीश्वरजी महाराज का

आशीर्वचन

मुनिश्री पद्मविजयजी हमारे एक उत्साही नवयुवक साधु हैं। वे प्राचीन ग्रन्थों का परिशीलन और अनुवाद करते रहते हैं। उनका यह प्रयास समाजहित के लिए उपयोगी है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'उपदेशमाला' (टीकासहित) का इन्होंने सर्वजनहिताय राष्ट्रभाषा हिंदी में रूपान्तर किया है। शास्त्रप्रेमी पुरुषों का तो इस ग्रन्थ के पठन पाठन से कल्याण होगा ही, साधु जीवन के लिए भी यह ग्रन्थ स्वपरहितकारक है। चूंकि साधु का जीवन भी स्वपरकल्याण के लिए होता है और उपदेशमाला में भी इन्हीं दोनों तत्त्वों पर सारगर्भित और विविध धर्मकथाओं से समन्वित विवेचन है। और उसमें भी हिन्दी भाषा में अनुवाद होने से यह और भी हृदयग्राही हो गया है।

आशा है, मुनि पद्मविजयजी इसी तरह स्वपरहितकारी ग्रन्थों के परिशीलन, अनुवाद और सम्पादन में रत रह कर समाज को ऐसे उत्तम प्रकाशनों की भेंट देते रहेंगे और श्रमणजीवन को उन्नत बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहेंगे, यही मंगलकामना है।

दसाश्रीमाली जैन धर्मशाला
गुरुवारपेठ, पूनासिटी (महाराष्ट्र)
संवत् २०२८ कार्तिक कृष्णा नवमी,
सोमवार
दिनांक—१० अक्टूबर १९७१

—द०—समुद्रविजयसूरि

युगवीर आचार्य १००८ श्रीमद् विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज

जन्म सं० १९२७ दीक्षा सं० १९४४ स्वर्गवास सं० २०११

प्रकाशकीय

हिन्दीसाहित्यप्रेमियों के करकमलों में यह 'उपदेशमाला' ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है। 'उपदेशमाला' ग्रन्थ के मूलकर्ता श्रीधर्मदास गणिवर्य हैं। इस ग्रन्थ पर आज तक अनेक आचार्यों द्वारा लिखित टीकाएँ उपलब्ध हैं; लेकिन उन सबमें श्रीरामविजय गणिवर्य की टीका विस्तृत, रुचिकर और विषय को स्पष्ट करने में अपने ढंग की अनूठी है। इसमें उपदेश विषय को स्पष्ट करने के लिए यत्र तत्र रोचक और प्रेरणाप्रद धर्मकथाएँ दी गई हैं। इस कारण मामूली से मामूली व्यक्ति भी इस ग्रन्थ के भावार्थ को भलीभांति समझ सकता है। इसके अतिरिक्त इसमें पाण्डित्ययुक्त तत्त्वज्ञान भी है, जो उपदेशक के स्वयं पढ़ने और मनन के लिए बहुत ही उपयोगी है। बहुमूल्य उपदेशरत्नों से परिपूर्ण इस ग्रन्थ के पढ़ने सुनने से अवश्य ही विरक्तिभाव पैदा होता है, आत्मशान्ति मिलती है। इसलिए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थरत्न में उक्त उपदेशों के अनुसार कोई भव्यजीव आचरण करने का प्रयत्न करे तो वह क्रमशः मोक्षफल प्राप्त कर सकता है।

पूज्य महातपस्वी उपाध्यायश्री प्रकाशविजयजी महाराज के शिष्य अध्ययनशील मुनिश्री पद्मविजयजी ने इसी सुप्रसिद्ध टीका के सहित इस ग्रन्थ का सरल सरस शैली में हिन्दीभाषा में अनुवाद करके आत्मार्थी व्यक्तियों पर महान् उपकार किया है। हमारा अहोभाग्य है कि इस संस्था को ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के प्रकाशन का शुभावसर मिला है। हम मुनिश्री के प्रति अन्तःकरण से कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। आशा है,

७ १४१) शाह हंसाजी जीताजी, पूना
८ १०१) शाह गणेशमल सेसमलजी, बम्बई
९ १०१) एम० के० कपूर, बम्बई
१० १०१) एम० के० शाह एन्ड को, बम्बई
११ १०१) धालचन्दजी सेसमलजी, बम्बई
१२ १०१) वी टी परमार, बम्बई
१३ १०१) एम के शाह, बम्बई
१४ १०१) महेन्द्रकुमार गीमचंद, बम्बई
१५ १०१) संघवी गीमाजी मगाजी, बम्बई
१६ १०१) शा० हजुजी मनरुपजी, बम्बई
१७ १०१) शा० प्रेमचन्दजी गोमाजी, बम्बई
१८ १०१) शा० चंदुलाल गुलालचन्दजी, बम्बई
१९ ५१) शा० धादमल पुखराज, बम्बई
२० ५१) वी जे शाह, बम्बई
२१ ५१) एम, वी ब्रदस, बम्बई
२२ ५१) दीवाली बहन, धर्मपत्नी श्री अचलचन्दजी बम्बई
२३ ५१) मोतीजी एंड सन्स, बम्बई
२४ ५१) प्रेमचंद मागीलाल, बम्बई
२५ ५१) जे एम शाह, बम्बई
२६ ५१) शा० पुनमचंद मेगाजी की कपनी, बम्बई
२७ ५१) समरथमल मोतीलालजी, बम्बई
२८ ५१) शा० जठाजी रवमाजी, बम्बई
२९ ५१) शा० नागजी अचलदासजी, बम्बई
३० ५१) शा० वोरीदास प्रतापजी, बम्बई
३१ ५१) शा० ताराचंद गनाजी की कंपनी, बम्बई
३२ ५१) शा० रूपचन्द लखमीचन्दजी, बम्बई

दो शब्द

तँ

ईशकृपा से पुण्यनगर की पुनीत वसुन्धरा पर इस समय पुण्यमय योगक्षेम का वहन कर रहा हूँ। करुणार्द्रशील आचार्यदेव श्रीविजय समुद्रसूरीश्वरजी महाराज की असीमकृपा का पात्र बन श्री साधु साध्वियों का ज्ञानपरामर्श पुरुष हो गया हूँ। जन्म जात ज्ञान का अधिकारी हूँ, शास्त्रों का पुजारी हूँ, शास्त्रज्ञों का चरणदुलारा हूँ, ज्ञानभाव की साधना कर गुरुभाव की गरिमा का आह्वान कर रहा हूँ। वाङ्मय मेरा आत्मप्रासाद है, चिन्मय मेरा मनोलोक है, प्रोज्ज्वलप्रतिभा मेरी विवेकशीला संजीविनी जीवन सिद्धौषधि है।

एकदा भाद्रपद की भव्यगोधूलिवेला में मुझको मुनिश्री पद्मविजयजी महाराज ने "उपदेशमाला" पर 'दो शब्द' लिखने का आग्रह किया। यह ग्रन्थ उपदेशों का सागर है, कथाओं का कमनीय लोक है। जीवन में बार बार इस ग्रन्थ के पठन पाठन का योग मुझे मिलता आया है। अतः इस ग्रन्थ का मेरे साथ सर्वथा सम्पूर्ण सौहार्द है।

चिन्मयी भारतभारती की चरणभूति से भवभूति बनने वाले भावुक भक्तों का भावोद्गार ही उपदेश है, आचार ही संदेश है, विवेक ही आदर्श है। श्रमणसंस्कृति के सपूत स्नेही क्षमाश्रमण श्रीधर्मदासगणि एक आचारनिष्ठ अनगार बन कर साहित्यलोक में आए और उपदेशकवृन्द श्रमणगणों को ललकारा—

> सुट्ठवि उज्जममाण पचेव करिंति रित्तय समण।
> अप्पथुई परनिंदा जिब्भोवत्था कसाया य॥

इद्दूवर्य मुनिवर श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज ने उदारतापूर्वक श्रम
[तक का समग्ररूप से संशोधन करके मेरे उत्साह में वृद्धि की है
[तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूं।

इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में उत्तम साधुजीवन के मूलगुणों, उत्तरगुणों आदि का प्रतिपादन करने के साथ-साथ विविध युक्तियाँ, दृष्टान्त, [शिक्षा]प्रद कथाएँ और वैराग्यरस में सराबोर कर देने वाले शुभफल [प्रद]र्शक तर्क एवं अनुभव दे कर साधुता के शुद्ध और ध्येयलक्षी मूल्यों का प्रतिपादन कूट-कूट कर किया गया है। सारे मानव-समाज का आदर्श शिरोमणि और परमश्रद्धेय साधु है। वही यदि अपनी मर्यादा, आचरणपरायणता, क्षमा आदि धर्मों के पालन, पंचमहाव्रतों और अष्टप्रवचनमाताओं की चर्या से रहित जीवन बिताने लगता संसार को वह क्या दे सकेगा? इसी दृष्टिकोण को ले कर श्री धर्मदासगणि ने उस युग के शिथिलाचारी उदरम्भरी साधुओं को खूब फटकारा है। यहाँ तक कि उन्हें साधुधर्म और श्रावकधर्म दोनों से भ्रष्ट और अनन्तसंसार-परिभ्रमणशील कहा है। सच्चे सुसाधु की पहिचान भी बताई है। मतलब यह है कि इस ग्रन्थराज के द्वारा साधुता के मूल्यों की सुरक्षा और भौतिकता के प्रवाह में बहते हुए साधुवर्ग को सच्ची साधुता की ओर मोड़ कर शुद्ध मूल्यों का प्रसार हो सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं आज तक लिखी गई हैं। कुछ ये हैं—

(१) कृष्णर्षि के शिष्य जयकीर्तिकृत वृत्ति, प्राकृतभाषा में विक्रम संवत् ६१३ में बनाई है।

(२-३) दुगस्वामी के शिष्य सिद्धर्षिगणिकृत हेयोपादेया वृहत् टीका और लघुवृत्ति।

श्रीधर्मदासगणि का भ० महावीर के पास दीक्षित होने का टीकाकार का मत असन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस ग्रन्थ में भ० महावीर के निर्वाण के उत्तरकालीन साधुओं की जीवनगाथाएँ भी गई हैं। साथ ही संविग्नपक्ष पर बहुत जोर दिया है जो भ० महावीर के कई वर्षों के बाद ही उदय में आया है। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि ये वीरनिर्वाण के बाद पाँचवी शताब्दी में हुए थे। यह मत फिर भी तथ्य के निकट है। क्योंकि उस युग में दीर्घकालीन दुष्कालों का बड़ा जोर था, इस कारण बहुत से साधु साधुवेष रख कर साध्वाचार में शिथिल हो रहे थे। यही कारण है कि श्री धर्मदास गणि ने इस ग्रन्थ में शिथिलाचारियों को खूब आड़े हाथों लिया है। ऐतिहासिक खोज करना इतिहासविदों का काम है। मैंने तो ग्रन्थ को उपादेय समझ कर तटस्थभाव से इसका सटीक अनुवाद किया है। फिर टीकाकार के मत से अनुवादक का सहमत होना कोई आवश्यक भी नहीं।

इस ग्रन्थ की संस्कृतटीका का हिन्दी अनुवाद करने में मैंने हिन्दी की सरस-सरल शैली में भावाभिव्यञ्जन और दुरूह एवं कठिन शब्दों के बदले सरल शब्दों का प्रयोग करने की नीति अपनाई है। अनुवाद कैसा और किस ढंग का हुआ है? इसके निर्णय का भार मैं अपने सुज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। मैंने अपनी मति-गति के अनुसार इसे सरस और सर्वजनग्राह्य बनाने का प्रयास किया है। मेरी मतिमंदता या अल्पज्ञता के कारण मूलग्रन्थकार या टीकाकार के आशय के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो सुज्ञजन मुझे क्षमा करें।

इस महाकाव्य ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन जिन लोगों ने मानसिक वाचिक, कायिक, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से सहयोग देकर अपनी श्रुतज्ञान की भक्ति का परिचय दिया है, वे सभी धन्यवादार्ह हैं।

कहाँ क्या है ?

क्रम	विषय	पृष्ठ

क्रम	विषय	पृष्ठ

क्रम	विषय	पृष्ठ

क्रम	विषय	पृष्ठ

क्रम	विषय	पृष्ठ

प्रारम्भ में धर्मदासगणि के पुत्र रणसिंह का कर्मों को चय करने वाला सुन्दर चरित्र कहते हैं।

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में समृद्धिशाली विजयपुर नाम का नगर था। वहाँ विजयसेन नामक राजा राज्य करता था। उसके अजया और विजया नाम की दो रानियाँ थीं। उनमें विजया रानी राजा को अतिप्रिय थी। वह अपने पति के साथ विषयसुखों का उपभोग करती हुई, गर्भवती हुई। उसे गर्भवती देख कर दूसरी रानी अजया को चिन्ता हुई कि—"मेरे कोई पुत्र नहीं है, यदि विजया के पुत्र होगा तो वही राज्य का स्वामी होगा। अतः किसी उपाय से उसके गर्भस्थ बालक को ही खत्म करवा देना चाहिए। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।" ऐसा द्वेषपूर्ण विचार करके प्रसूतिकर्म करने वाली दाई को बुलाया और उसे बहुत-सा द्रव्य गुप्तरूप से दे कर कहा—"जब विजया के पुत्र हो, उस समय किसी का मरा हुआ पुत्र ला कर उसे दे देना और उसका जीवित पुत्र मुझे सौंप देना।" उसके साथ इस प्रकार की सांठगांठ की। गर्भकाल पूर्ण होने पर विजया रानी ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। प्रसव कराने वाली पापिन दाई किसी का मरा हुआ बालक उठा लाई और रानी को बता दिया। और जो विजयारानी का खास पुत्र था, उसे उसकी सौत अजयारानी को जा सौंपा। दुष्ट अजया ने एक दासी को बुला कर आज्ञा दी—"इस बालक को किसी अंधे कुंए में फेंक आ।" दासी उस बालक को ले कर जंगल में गई। और एक अंधे कुंए के पास खड़ी हो कर मन ही मन सोचने लगी—"धिक्कार है मुझ दुष्टकर्मकारिणी को कि मैं एक निर्दोष बालक को मारने के लिये तैयार हो गई। इस क्रूरकर्म से मेरा कोई भी स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा; उलटे मेरे लिए नरकगतिरूपी अनर्थ पैदा होगा। इस दया की लहर के फलस्वरूप वह उस बालक को कुंए के

पास जहाँ घनी घास उगी हुई थी, वहाँ पर लिटा कर आ गई। अपयारानी के पूछने पर निवेदन किया—"मैं उस बालक को कुएँ में फेंक आई हूँ।" सौत के पुत्र को मारने का समाचार सुन कर उसे बड़ी खुशी हुई।

संयोगवश कुछ देर बाद ही सुधामवासी सुन्दर नामक किसान वहीं पशु के लिए घास लेने आया। रोते हुए बालक को देख कर उसे दया आई। बड़ी खुशी से उसे अपने घर लाकर अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा—'हे सुनागरे! यह पुत्र हमें वनदेवता ने दिया है। बड़े यत्न से इसकी रक्षा करना और अपने पुत्र के समान पालन करना।' वह भी अपने पुत्र की तरह भलीभांति उसका पालन करने लगी। रण (अरण्य) में मिलने से उसका नाम 'रणसिंह' रखा। द्वितीया के चन्द्रमा की समान वह बालक दिनोदिन बढ़ने लगा।

इधर कुछ दिनों के बाद किसी ने विजयसेन राजा को उस पुत्र को मारने का सारा वृत्तान्त सुनाया। इसे सुन कर राजा को बहुत दुःख हुआ। सोचने लगा—निर्मम मेरे पुत्र को (षड्यन्त्र रच कर) मरवा दिया, धिक्कार है, उस दुष्ट रानी को! और धिक्कार है इस संसार के स्वरूप को भी! सदा रागद्वेष के वशीभूत हो कर जीव स्वार्थवश इस तरह के अनिष्ट कर्म का आचरण करता है। अतः इस संसार में रहना उचित नहीं। लक्ष्मी (धनवैभव) चपल है। यह जीवन भी क्षणभंगुर है। यह काया भी अस्थिर और दुःखरूप है। अतः अब मुझे प्रमाद छोड़ कर (समस्त सुखों की खान) धर्म की आराधना में उद्यम करना चाहिए। कहा है—

सम्पदो जलतरङ्गविलोला यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि।
शारदाभ्रमिव चञ्चलमायुः किं धनैः कुरुत धर्ममनिन्द्यम् ॥१॥

सा नत्थि कला, न नत्थि ओसह न नत्थि किंपि विन्नाणं ।
जेण धरिज्जइ काया, खज्जंती कालसप्पेण ॥२॥

'संपदा (वैभव) पानी की तरंगों की तरह चंचल है, जवानी तीन-चार दिन की है, और आयुष्य शरदऋतु के बादल के समान चंचल है; फिर धनवैभव से क्या प्रयोजन ? अतः निर्दोष धर्म की आराधना करो ।'

'ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई औषध नहीं है और ऐसा कोई विज्ञान नहीं है, जिससे कालरूपी सर्प के द्वारा भक्षित होते हुए शरीर की रक्षा की जा सके ।'

इस प्रकार वैराग्ययुक्त हो कर राजा विजयसेन ने अपनी पत्नी विजयारानी और उसके भाई सुजयकुमार के साथ किसी वंशज को राज्य सौंप कर श्रीवर्धमान स्वामी के पास चारित्र अंगीकार किया। भगवान् ने उन्हें स्थविर मुनि को सौंप दिया। नवदीक्षित मुनि विजयसेन समय पा कर सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन करके महाज्ञानी बने। इस कारण उनका नाम धर्मदासगणि रखा और उनके गृहस्थ-पक्ष के साले सुजय का नाम जिनदासगणि रखा। उसके बाद एक बार भगवान् की आज्ञा ले कर बहुत से साधुओं के साथ वे इस भूमण्डल पर भव्यजीवों को प्रतिबोध देते हुए विचरण करने लगे।

इधर वह रणसिंह नामक बालक भी बचपन में बालक्रीड़ा करता हुआ क्रमशः यौवन-अवस्था को प्राप्त हुआ। और सुन्दर के यहाँ खेती के काम में मदद करने लगा। उस खेत के पास ही चिन्तामणियक्ष से अधिष्ठित श्रीपार्श्वनाथ भगवान् का एक मन्दिर था। वहाँ विजयपुर के निवासी बहुत से लोग आ कर प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक

'जिनेश्वर भगवान् की प्रतिमा के प्रमार्जन करने में सौ गुना पुण्य है, विलेपन करने मे हजार गुना पुण्य है, पुष्प की माला पहनाने में लाख गुना पुण्य है, और गीत-वाद्य (गाने-बजाने) आदि से अनन्त गुना पुण्य मिलता है।'

"अत यदि तू प्रतिदिन पूजा करने मे असमर्थ है तो ऐसा नियम तो कर ले कि देव-दर्शन करके भोजन करना। इस नियम के पालन से तू सुखी होगा।" यह सुन कर रणसिंह ने मुनि से प्रतिदिन दर्शन का नियम लिया। वे चारण ऋषि भी आकाश में उड़ गये।

रणसिंह के लिए जब खेत में हमेशा कूर, करबा आदि भोजन आता तो वह तुरन्त हल को छोड़ कर उसमें से थोड़ा-सा भोजन लेकर श्रीपार्श्वनाथ प्रभु के दर्शन करके उसे नैवेद्य के रूप में चढ़ा देता, तब भोजन करता था। इस नियम का पालन करते हुए उसे बहुत दिन हो गये। एक दिन चिन्तामणि यक्ष उसकी परीक्षा करने के लिए सिंह का रूप बना कर मंदिर के दरवाजे पर बैठ गया। दोपहर में रणसिंहकुमार भी नैवेद्य लेकर जब जिनदर्शन के लिए आया, तब वहाँ सिंह को देख कर सोचने लगा—"ग्रहण किया हुआ नियम तो प्राणान्त होने पर भी नहीं छोडूंगा। यदि यह सिंह है तो मैं भी रणसिंह हूं। मेरा यह क्या करेगा?" ऐसा विचार कर वीरतापूर्वक रणसिंह ने सिंह को आवाज दी। सिंह भी उसका साहस देख कर अदृश्य हो गया। उसके बाद जिनभक्ति कर रणसिंह ने अपने खेत में आकर भोजन किया। एक वार तीन दिन तक मूसलधार वर्षा हुई। इस कारण नदी में बाढ़ आ जाने से रणसिंह के लिए खेत पर भोजन नही आ सका। चौथे दिन जब भोजन आया तो जिनमन्दिर में जाकर नैवेद्य चढ़ाया और जिनदर्शन कर अपने खेत मे आया। वहाँ बैठ कर विचार करने लगा—अगर कोई

अतिथि मुनिराज यहाँ पधार जाएँ तो उन्हें भावपूर्वक आहार दे कर पारणा करूँ। सौभाग्य से ठीक उसी समय वहाँ दो मुनिवर पधारे। उनके चरणों में नमस्कार कर उन्हें शुद्ध आहार दिया और मन में अतीव आनन्दित हुआ। सोचा—आज मैं धन्य हूँ कि मुझे मुनिदर्शन प्राप्त हुए और उनकी भक्ति का लाभ मिला।

इसके प्रभाव से चिन्तामणि यक्ष ने प्रगट हो कर कहा—"वत्स! मैं तुम्हारा सत्त्व (पराक्रम) देख कर बहुत खुश हुआ हूँ। वरदान मांगो।" रत्नसिंह बोला—"स्वामिन्! आपके दर्शन से मुझे नवनिधि प्राप्त हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं है।" यक्ष ने कहा—"देवदर्शन कभी मिथ्या नहीं होता। अतः कुछ न कुछ मांगो।" रत्नसिंह ने कहा—"यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे राज्य दें।" यक्ष ने कहा—"आज से सातवें दिन तुम्हें राज्य प्राप्त होगा। परन्तु तुम्हें कनकपुर नगर में कनकशेखर राजा की रानी कनकमाला की पुत्री कनकवती के स्वयंवर में जरूर जाना होगा। वहाँ पर मैं तुम्हें चमत्कार दिखाऊँगा, वह देखना। फिर भी मेरे योग्य कोई काम आ पड़े तो मुझे याद करना।" ऐसा कह कर वह यक्ष अदृश्य हो गया।

रत्नसिंहकुमार भी दो छोटे बैल हल में जोड़ कर स्वयं उस पर बैठा और कनकपुर आया। वहाँ स्वयंवर में पहले से अनेक राजकुमार आए हुए थे। स्वयं भी जा कर दूर एक ओर खड़ा रहा। थोड़ी ही देर में सोलह शृंगारों से सुसज्जित हो कर नूपुर और कंगनों की ध्वनि करती हुई अनेक दासियों के साथ राजकुमारी कनकवती भी वहाँ आ पहुँची। वह दोनों ओर पंक्तिबद्ध बैठे हुए राजाओं को देखती हुई वहाँ पहुँची जहाँ रत्नसिंह कुमार हल को छोड़ कर किसानवेश में खड़ा था। कनकवती ने उसके गले में वरमाला डाल दी। यह देख कर सभी के मन में क्षोभ

भड़क उठा। व राजा कनकशेखर के पास आ कर उसे उपालंभ देने लगे-"राजन् ! यदि अपनी पुत्री किसान को देने की इच्छा थी तो हमे बुलाकर हमारा अपमान क्यों किया ?" कनकशेखर ने कहा—"इसमे मेरा दोष नही; क्योंकि मेरी पुत्री ने अपनी इच्छा से वर पसंद किया है। इसमे अनुचित क्या हुआ ?" यह सुनते ही क्रोध से उनके चेहरे लाल हो गए। क्रोधावेश मे आकर उन्होने शस्त्र उठा कर रणसिंह को घेर लिया और कहा—"अरे दरिद्र ! सच-सच बता तू कौन है ? कौनसा तेरा कुल है ?" रणसिंह ने कहा—"कुल बताने का अभी समय नहीं है। मैं बताऊंगा तो भी आपको विश्वास नही होगा। कुल की परीक्षा तो मेरे साथ युद्ध करने से ही हो जायेगी।" यह सुन कर सभी युद्ध के लिए तैयार होगये। रणसिंह भी हल लेकर दौड़ा। उनमें परस्पर युद्ध हुआ। देवप्रभाव से रणसिंह द्वारा हल के प्रहार से घायल हो कर एक के बाद एक सब राजा भाग गए। यह चमत्कार देख कर कनकशेखर ने रणसिंह से अर्ज की-"महानुभाव ! आपने इस सादे वेश में महान् चमत्कार दिखाया है। अत अब आप अपना स्वरूप प्रकाशित करें।" उस समय यक्ष ने प्रगट हो कर रणसिंहकुमार का सारा चरित्र कहा। उसे सुन कर कनकशेखर अति हर्षित हुआ और बड़े धूमधाम से उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह किया। तत्पश्चात् अन्य सभी राजाओं को भी बहुत से वस्त्र-अलंकारों से सम्मानित किया। वे सभी राजा अपने-अपने देश को लौटे। इसके बाद कनकशेखर ने अपने दामाद रणसिंह को एक प्रदेश का राज्य दिया। रणसिंह यहां कनकवती के साथ आनन्दपूर्वक रह कर विषयसुखो के उपभोग मे समय बिताने लगा। उसने परम-उपकारी सुन्दर किसान को बुला कर उसे यथायोग्य राज्याधिकारी बना दिया।

धर सोमापुरी नगरी में पुरुषोत्तम राजा राज्य करता था; रत्नवती

उसकी रत्नवती पुत्री थी। वह कनकशेखर राजा की बहन की लड़की थी। रत्नवती के विवाह का सारा वृत्तान्त जान कर उसे रणसिंह के प्रति अनुराग पैदा हुआ और उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि अगर वह विवाह करेगी तो रणसिंह के साथ ही करेगी। पुरुषोत्तम राजा को अपनी लड़की की मनोभावना का पता लगा तो उसने रणसिंह को बुला लाने के लिए अपने मुख्य पुरुषों को भेजा। मुख्य पुरुषों ने वहाँ जा कर रणसिंह को आमन्त्रण दिया। उसने कहा—"इन सब बातों के बारे में कनकशेखर जानते हैं वे ही निर्णय करेंगे मैं कुछ भी नहीं जानता।" प्रधानपुरुषों ने कनकशेखर से निवेदन किया। कनकशेखर राजा ने सोचा—यह सच है कि रत्नवती मेरी बहन की पुत्री है। यदि रत्नवती और रणसिंह का विवाह हो जाय तो अच्छा है। कनकशेखर नृप ने रणसिंह को बुलाया। उसे रत्नवती तथा उसकी प्रतिज्ञा के बारे में परिचय दे कर कहा—"तुम रत्नवती के साथ विवाह करने चले जाओ।" रणसिंह शीघ्र ही अपने श्वसुर की बात स्वीकार करके सपरिवार चल दिया। रास्ते में पाटलीखण्ड नगर के उपवन में चिन्तामणियक्ष मंदिर देख कर वहाँ ठहर गया। जब वह यक्षमंदिर में नमस्कार करके खड़ा हुआ तब उसकी दाहिनी आँख फड़कने लगा। रणसिंह ने सोचा—आज यहाँ किसी न किसी इष्टवस्तु का संयोग होगा। ठीक उसी समय पाटलीखण्ड के नरेश कमलसेन की रानी कमलिनी की अंगजात राजकुमारी कमलवती अपनी दासी सुमंगला के साथ पुष्प-धूप आदि पूजा के साधन ले कर यक्षमंदिर में आई। रणसिंह को देख कर वह मुग्ध हो गई। कुमार भी उसे देख कर मोहित हो गया। दोनों अपलक नेत्रों से एक दूसरे को टकटकी लगा कर देखने लगे। कमलवती ने यक्ष की पूजा की और उससे प्रार्थना करने लगी—'हे देव! इस पुरुष को देख कर मुझे इसके प्र

अनुराग उत्पन्न हुआ है। अत यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों तो ऐसा वरदान दें जिससे यह राजकुमार मेरा पति हो।' यक्ष ने कहा— 'तू चिन्ता न कर; इसे तू अपना पति ही जान। इसके साथ यथेष्ट सुखोपभोग—पूर्वक जीवन बीता।' यह सुन कर कमलवती अति आनंदित हुई। सेवक से उसने उस पुरुष का नाम पुछवा कर और स्नेहानुरागवश बार-बार उसका मुख निहारती हुई अपने स्थान पर लौटी। कुमार भी अपने स्थान पर पहुचा।

कमलवती दूसरे दिन भी उसी तरह यक्षपूजा के लिये आई। उसने यक्षपूजा की और कुमार को भी वहाँ देख कर मधुर स्वरलहरी मे वीणा बजाई; सुन्दर संगीत की तान छेड़ी और गा-बजाकर घर लौट आई। कुमार ने उसके मधुर स्वर से गीत और वीणा सुन कर मन ही मन सोचा—"इस लड़की के साथ मेरा-विवाह हो तभी मेरा जन्म सफल हो, अन्यथा इस जीवन से क्या ?" राजकुमारी के प्रति अनुराग के कारण रणसिंह वहीं रहा, आगे प्रस्थान नहीं किया। यह देख कर पुरुषोत्तम राजा के मन्त्री ने पूछा—"स्वामिन् ! यहाँ पर आपके इतने दिन ठहरने और सोमापुरी पहुचने मे विलम्ब करने का क्या कारण है ?" कुमार ने कहा "यहाँ मुझे कुछ जरूरी कार्य है। उस कार्य के होने के बाद ही आगे बढ़ूंगा। मंत्रीजी ! आप आगे पधारे, मैं आपके पीछे-पीछे ही शीघ्र आ रहा हूँ।" कुमार का यह उत्तर सुन कर मन्त्री सोमापुरी पहुचा। और पुरुषोत्तम राजा से निवेदन किया—"महाराज ! कुमार ने कुछ दिन बाद आने की बात कही है।"

किन्तु रणसिंहकुमार तो कमलवती के रूप मे मोहित हो कर वहीं रहने लगा। उस समय कनकसेन राजा का सेवक भीमराजा का एक पुत्र भी कमलवती का रूप देख कर मोहित था। परन्तु कमलवती

उसे मन से भी नहीं चाहती थी। कमलवती को यक्षपूजा के लिये गई जान कर एक दिन भीमपुत्र भी उसके पीछे पीछे वहाँ पहुँचा। मन ही मन सोचा—"जब राजपुत्री यक्षपूजा करके बाहर आएगी तभी मैं अपने मन की बात उसके सामने प्रगट करूँगा।" यों विचार कर वह मंदिर के बाहर खड़ा रहा। कमलवती ने उसे वहाँ देख लिया। उसने अपनी दासी सुमंगला को मन्दिर के द्वार पर नियुक्त करके कहा—"जो पुरुष दरवाजे पर खड़ा है, वह यदि मंदिर के अन्दर घुसने लगे तो उसे रोक देना।" स्वयं कमलवती ने मन्दिर के अन्दर एकान्त में जा कर एक जड़ी कान पर बांधी, जिससे वह तत्काल पुरुष बन गई। पूजा से निवृत्त हो कर जब वह मंदिर के दरवाजे पर आई तो भीमपुत्र ने उससे पूछा—"देवपूजक! राजकुमारी कमलवती अभी तक पूजा करके मंदिर से बाहर क्यों नहीं निकली?" "मैंने तो यहाँ पर केवल स्वामी को ही मंदिर में देखा है, उसके सिवाय और कोई स्त्री यहाँ मुझे नहीं दिखाई दी।" यों कह कर वह अपने घर आई और उस जड़ी को कान से हटाते ही वह मूलरूप में हो गई। इधर दरवाजे पर खड़े भीमपुत्र ने मंदिर के अन्दर कई बार तलाश की। लेकिन वहाँ कमलवती को न देख वह निराश हो कर अपने स्थान को लौट गया। सुमंगला दासी ने घर आते ही कमलवती को देखा तो आश्चर्यचकित हो कर पूछा—"स्वामिनि! आप यहाँ पर कब आई? मैंने तो आपको मन्दिर से बाहर निकलते नहीं देखा।" कमलवती ने उस जड़ी के माहात्म्य से स्त्री से पुरुषरूप में परिवर्तित होने की बात कही। यह सुन कर दासी ने विस्मित हो कर पूछा—"स्वामिनि! ऐसी अद्भुत जड़ी आपको कहां से मिली?" कमलवती ने जड़ी के पाने की घटना सुनाते हुए कहा—"सुनो! पहले एक दिन मैं यक्षमंदिर में गई थी। उस समय वहाँ एक विद्याधर विद्याधरी

का जोड़ा आया हुआ था। विद्याधरी ने मुझे देख कर सोचा—यदि इस अद्भुत रूप लावण्य सम्पन्न स्त्री को मेरा पति देख लेगा तो मोहित हो जायगा। अत मुझे पता ही न चले, इस ढंग से मेरे कान मे उसने एक जड़ी बॉध दी। इसके जडी बांधते ही अपने आपको पुरुष-रूप मे देख कर मै आश्चर्य मे पड गई। मैंने इसका पता लगाने के लिए शरीर के एक-एक अंग को टटोला तो मुझे अपने कान में लगी हुई एक जडी मिली। तब कुतूहलवश मेरे द्वारा उस जड़ी के हटाते ही मैं अपने असली रूप (स्त्रीरूप) में आ गई। तब से मैंने वह जडी अपने पास बड़े जतन से सहेज कर रख ली। आज मैंने उसका प्रयोग किया तो उसके प्रभाव से मैं पुरुषरूप धारण कर मंदिर से निकल आई थी।" इस तरह कमलवती ने दासी को उस जडी की महिमा और प्राप्ति की घटना बताई।

इधर भीमराजा के पुत्र ने बहुत उपाय किये, लेकिन सब निष्फल हुए। निरुपाय हो कर उसने कमलवती की माता के पास अपना अभिप्राय निवेदन किया। उसने भी विचार किया—'यह महान् राजपुत्र है। इसके साथ राजपुत्री का विवाह कर देना ठीक ही है।' उसने अपने पति के सामने प्रस्ताव रखा तो उसने भी स्वीकार कर लिया; और दूसरे ही दिन विवाह करने का निश्चय किया। कमलवती को यह बात मालूम हुई तो उसे बडा दुःख हुआ। उसने खाना-पीना, सोना, बोलना, हंसना आदि सब छोड़ दिया। वह मन ही मन विचार करने लगी कि—मै उस यक्ष के पास जाकर उपालंभ दूं, जिसने मुझे रणसिंह को पतिरूप मे सौपने का वचन दिया था। उसके सिवाय और कोई चारा नहीं। ऐसा विचार कर रात को वह गुप्तरूप से निकल पड़ी। यक्षमन्दिर मे आई और यक्ष को उलाहना देने लगी—"यक्षदेव! सब देवो में आप मुख्य है। मेरे पूज्य

ही कमलवती नीचे गिर पड़ी और मूर्च्छित हो गई, शीतल वायु आदि के उपचार से मूर्च्छा दूर होने पर वह स्वस्थ हुई। तब रणसिंह ने उससे पूछा—"सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किस कारण से तुमने गले में फन्दा डाला और क्यों ऐसा साहस किया ?" कमलवती के बदले सुमगला ने उत्तर दिया—"स्वामिन् ! क्या आपको अभी तक इस बात का पता नही है ? इस राजकुमारी कमलवती का चित्त आप मे लीन है। परन्तु इसके पिताजी इसकी इच्छाके विरुद्ध भीमराज के पुत्र को देने के लिए दृढ़निश्चयी थे। इस कारण इसने आत्महत्या करके मरने की ठान ली थी। परन्तु मैंने इसका गले का फन्दा काट कर इसकी प्राणरक्षा की है।" यह सुनकर रणसिंहकुमार खुश हुआ। तब सखा सुमित्र ने कहा—"मित्र ! मधुर भोजन मिलने पर कौन भूखा आदमी विलम्ब करता है ? अत तुम्हे चाहने वाली इस बाला के साथ पाणिग्रहण करके इसका कामसागर से उद्धार करो।" मित्र की बात सुन कर रणसिंह ने कमलवती के साथ गान्धर्वविवाह किया। कमलवती का मन हर्ष से प्रफुल्ल हो उठा। वह अपने पति रणसिंह की अनुमति लेकर सुमित्र के साथ अपने पीहर पहुची। उस समय अपने परिवार को विवाह के कार्य मे व्यग्रचित्त और हर्षोत्फुल्ल जान कर कमलवती ने मौका देख कर अपना वेश सुमित्र को दिया, स्वयं ने जडी के प्रभाव से पुरुषवेश धारण किया और रणसिंह-कुमार के पास पहुच गई। अपने पति के सामने सारा वृत्तान्त कहा। कुमार ने भी स्नेहदृष्टि से दोनो हाथो से गाढ़ आलिंगन कर उसे अपने पास बिठाई।

इधर विवाह के समय भीमपुत्र भी हाथी पर चढ कर बड़े आडंबर से वहाँ आया और बडे महोत्सव के साथ कमलवती का वेश धारण करने वाले सुमित्रकुमार के साथ शादी करके उसे ले कर अपने स्थान आया। वह कामातुर हो कर नवीन वधू से मधुर-आलापपूर्वक बारबार

बात करता है, परन्तु वह जरा भी नहीं बोली। चुपचाप बैठी रही। अन्त कामविकारवश जब उसने उसके हाथ का स्पर्श किया तब उसे पुरुष का-सा स्पर्श जान पड़ा। भीमपुत्र ने पूछा—'तू कौन है? उसने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपकी वधू हूँ।" कुमार ने कहा—'तू कहाँ वधू है? तेरा शरीर तो पुरुष-सा कठोर मालूम होता है। उस समय वधूवेशधारक सुमित्र ने कहा—"प्राणनाथ! आप क्या कह रहे हैं? क्या आप अपनी चेष्टायें प्रगट कर रहे हैं? विवाह मंत्र में नया होता कर मुझे अपनी चेटकविद्या से पुरुषरूप बना रहे हैं? मैं अभी अपने पिता के पास जा कर शिकायत करूंगी कि मैं कुमार के प्रभाव से स्त्रीपन छोड़ कर पुरुषरूप हो गया हूँ।' ऐसा कहने से भीमपुत्र का चित्त व्यग्र हो गया। प्रातःकाल स्त्रीवेषधारक सुमित्र रणसिंहकुमार के पास गया और रात का सब वृत्तान्त सुनाया। उनकी कुतूहलपूर्ण बात सुन कर सभी परस्पर तालियाँ बजा कर हँसने लगे। इधर भीमपुत्र भी कनकसेन राजा के पास जाकर कहने लगा—'आपकी जिस लड़की का मेरे साथ विवाह हुआ है वह लड़का दीखता है।' यह सुन कर सास श्वसुर कहने लगे—"क्या तुम पागल हो रहे हो? अथवा तुम्हारे में भूत का प्रवेश हुआ है जिससे इस प्रकार की असंबद्ध बात कर रहे हो? ऐसी प्रवृत्ति कभी भी नहीं हुई, और न होगी, और न ही सुना है कि एक ही जन्म में जीव स्त्रीत्व छोड़ कर पुरुषत्व प्राप्त करता है। कहीं दामाद तो झूठ नहीं बोल रहे हैं? अथवा कोई पुरुषवेषी धूर्त दीखता है।' ऐसा कह कर राजा ने अपनी कमलवती की खोज करवाई, परन्तु वह कहीं पर भी नहीं मिली। तब राजा अति शोकातुर हुआ। रानी भी पुत्रीमोह से रुदन करने लगी। उसने सेवकों से कहा—"जो मेरी प्यारी बेटी को ले आयेगा मैं उसका यथाभिलषित पूर्ण कर दूंगी।' सेवकों ने घूम घूम कर अत्यन्त खोज की। किन्तु वे निराश हो कर वापिस आये। प्रातःकाल किसी मनुष्य

ने आ कर कनकसेन से कहा—"स्वामिन् ! कमलवती को हमने विवाह के वेश में रणसिंहकुमार के तम्बू मे क्रीड़ा करते हुए देखा है ।" यह सुनते ही राजा की आँखे क्रोध से लाल हो गईं । भीमपुत्र के साथ बड़ी सेना लेकर वह वहाँ आया और रणसिंहकुमार के साथ युद्ध छेड़ दिया । रणसिंह भी सिंह की तरह युद्ध करने लगा । अकेले ही रणसिंह ने देव की सहायता से भीमपुत्र के साथ कनकसेन राजा को जीत कर पकड़ लिया । उस समय कमलवती की दासी सुमंगला ने आ कर सभी वृत्तान्त निवेदन किया । कमलवती ने भी आ कर पिता को नमस्कार किया फिर दोनों हाथ जोड कर खडी रही । कनकसेन राजा ने भी भीमराजा के पुत्र की सारी बातें सुन कर अतिक्रोध से उसे बहुत धिक्कारा । कमलवती ने भी भीमपुत्र को छोड दिया और कनकसेन राजा भी रणसिंह का कुल, धैर्य आदि देख कर बडा खुश हुआ, और बड़े ठाठबाट से उसके साथ कमलवती का विवाह किया । हस्त मिलाप के समय दामाद को बहुत से हाथी-घोड़े दहेज मे दिये । रणसिंह काफी दिनो तक ससुराल मे रहा । कुछ समय बीत जाने के बाद कमलवती को ले कर वापिस अपने देश को लौटा और वहाँ कनकवती तथा कमलवती के साथ ईष्ट सुखो का उपभोग करता हुआ आनन्द से समय बिताने लगा । अधिक समय लग जाने से इधर सोमापुरी के पुरुषोत्तम राजा की पुत्री रत्नवती चिन्तित हुई—"अहो ! मेरे विवाह के लिये आते हुए रणसिंहकुमार ने मार्ग मे ही कमलवती से शादी कर ली है और उसके प्रति अत्यन्त मुग्ध है । इतना ही नहीं; मेरे प्यारे पति मुझे भूल गये हैं, जिससे मुझ से शादी करने नहीं पधारते । उन्हे कमलवती के सिवाय और कुछ नही दिखता । कमलवती ने ऐसा क्या जादू कर दिया है कि उन्हे दूसरा कोई नजर नहीं आता । पति के हृदय को कमलवती ने स्नेह से परिपूर्ण कर दिया दीखता है । उसमे अब मेरे स्नेह को अवकाश नहीं रहा ।"

परन्तु मैं तभी अपने कार्य में सफल होऊँगी, जब किसी भी उपाय से कमलवती पर कलंक चढ़ा कर पति के चित्त को उससे हटा दूँगी।" ऐसा विचार कर अपनी माता के सामने उसने सारी बात प्रगट की। माता ने कहा—"यथेच्छ कार्य कर।"

इसी गाँव में गंधमूषिका नाम की दुष्टा संन्यासिन, मोहन एवं वशीकरण कार्य करने में कुशल परिव्राजिका रहती थी। रत्नवती ने उसे बुला कर कहा—"माताजी मेरा एक कार्य कर दो। रत्नसिंह कुमार कमलवती पर अत्यन्त आसक्त है। अतः ऐसा उपाय करो, जिससे रत्नसिंहकुमार उसे कलंक से शापित समझ कर घर से निकाल दे।" यह सुन कर उस परिव्राजिका ने उसका कहना स्वीकार किया और कहा—"यह कौनसा बड़ा कार्य है? इसे तो थोड़े से समय में कर दूँगी।" यों बोल करके वह दुष्ट स्त्री वहाँ से रत्नसिंह के महल में आई, और कमलवती के अन्तःपुर में पहुँची। कमलवती को उसने रत्नवती के कुशल समाचार आदि कहे, रत्नवती की तरफ से कुशल समाचार कहलाने से कमलवती ने उसका सत्कार किया। परिव्राजिका अब हमेशा अन्तःपुर में आने लगी और कुशल विनोद की बातें करने लगी। कमलवती से घुल मिल कर बातें करके वह उस पर अपना विश्वास जमाने लगी। कमलवती के यहाँ विशेष आवागमन करते-करते एक दिन अवसर पाकर अपनी दुष्ट विद्या से रत्नसिंहकुमार को कमलवती के महल में परपुरुष को आते हुए बताया। परन्तु कुमार के मन में इससे जरा भी शंका नहीं हुई। परिव्राजिका ने विचार किया कि 'कमलवती का चरित्र सर्वथा निष्कलंक है, इसलिए कुछ बार इसे परपुरुष बताऊँ।' उसने वैसा ही किया। परपुरुष को बार बार अपने महल में आते देख कर रत्नसिंहकुमार ने सोचा—"क्या कमलवती का परपुरुष के साथ सम्बन्ध हो गया है? यह

मै प्रत्यक्ष क्या देख रहा हूं ?" उसने कमलवती से पूछा तो उसने कहा—"प्राणनाथ ! मैं इस बारे में कुछ भी नही जानती। जब आप ही मेरे बारे मे परपुरुष के आने-जाने की शका करते है, तो यह तो मेरे कर्मो ही का दोष है। मैं मद-भागिनी हूँ। इसी कारण आप मुझे शंका की दृष्टि से देखते है। इसलिए इच्छा होती है, यदि यह पृथ्वी जगह दे तो मै इसमे समा जाऊँ; ताकि मुझे ऐसे शब्द न सुनने पड़ें। यह सुन कर कुमार सोचने लगा—"हो न हो, इसमे अवश्य ही भूत आदि कोई प्रविष्ट हो गया दीखता है और किसी प्रकार की कुचेष्टा नही नजर आती, यद्यपि यौवन में उन्मत्त मृग-लोचना अपने कटाक्ष से परपुरुष के चित्त को हर लेती है। परन्तु परपुरुष के साथ नित्य संगम हो कैसे सकता है ? और खास कर अन्त'पुर में तो परपुरुपसंगम होना अत्यन्त दुष्कर है। कौन हमेशा यहाँ आ कर अकाल में मौत का मेहमान बनना चाहेगा ?" यों भली-भांति विचार करने पर कुमार को कमलवती के शील के बारे मे बात सच्ची न जची। फिर भी परपुरुष के आने-जाने की बात आंखों देखी होने से वह शकाकुल रहने लगा। अपना दाव निष्फल होता देख दुष्ट परिव्राजिका ने सोचा—"कुमार का मन कमलवती से अभी तक विरक्त नही हुआ तो न सही। मैं ऐसा उपाय करूंगी, जिससे कुमार के हृदय की स्नेह-गाठ टूट जाय।" उसने इस बार ताम्बूल और भोजन आदि पर मत्र तथा चूर्ण आदि का प्रयोग कर कमलवती के प्रति रणसिंह को नाराज कर दिया। किन्तु लोकनिन्दा से डर कर कुमार विचार करने लगा और कुछ कहने या करने के बजाय कमल-वती को अब उसके पिता के यहाँ भेज देना अच्छा है, यहाँ रखना ठीक नहीं। यों सोच कर उसने शीघ्र ही अपने नौकर को बुलाया और आज्ञा दी–"कमलवती को किसी बहाने से रथ मे बिठा कर उसे अपने पिता के यहाँ छोड़ आओ।" यह सुनकर नौकर ने सोचा—

कमलवती रथ में बैठी हुई शोकसंतप्त हो कर रास्ते में इस प्रकार विचार करने लगी—"हाय ! मुझ निरपराधी के लिए कुमार ने ऐसा क्यों किया ?" चलते-चलते कुछ दिनों बाद जब रथ पाडली-खण्डपुर के पास पहुंचा, तब कमलवती ने सारथी से कहा—'भाई ! अब तू यहीं से रथ को वापिस लौटा ले जा। अब आगे मुझे रथ की कोई जरूरत नहीं है। मैं इस स्थान से परिचित हूं। यहां से सामने ही पाडलीखण्डपुर का उपवन दिखाई दे रहा है। अत. अब मैं अकेली सुखपूर्वक चली जाऊँगी।" यह सुनते ही सारथी की आंखों में आँसू छलछला आए। वह कमलवती को नमस्कार करके बोला—"स्वामिनि ! आप निर्दोष है, शीलरूपी आभूषण को धारण करने वाली साक्षात् लक्ष्मी हैं। लेकिन मैं निरा अधम कर्म करने वाला चांडाल हूं, जो आपको इस घोर जंगल में छोड़ कर जा रहा हूं। इस दुष्कर्म के लिए मुझे धिक्कार है। क्या करूं, स्वामी की आज्ञा के सामने मैं लाचार था।"

कमलवती ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"भाई ! घबराओ मत ! इसमे तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। सेवक को अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही पडता है।" परन्तु स्वामी की एक बात मुझे रह-रह कर खटकती है, इसलिए इस मंदभागिनी की ओर से स्वामी को कहना—"क्या ऐसा करना आपके कुल के लिए उचित है ?" सारथी ने स्वीकार किया और निरुपाय हो कर एक बड के पेड़ के नीचे कमलवती को छोड़ कर वह रथ को ले कर लौट गया। सारथी के जाने के पश्चात् अकेली असहाय कमलवती भयकर रुदन और विलाप करने लगी—"हाय रे विधाता ! तूने अति-क्रूर बन कर मेरे साथ ऐसा क्यों व्यवहार किया ? मैंने तेरा क्या बिगाड़ा था, जिससे तूने अकाल-में वज्रपात के समान प्रियतम से वियोग का दु:ख दिया ? मैं अन्य सभी दु:खो का सहन कर सकती

परलोक मे सुख देने वाला है। शील के प्रभाव से प्रज्वलित आग शान्त हो जाती है और सर्प का भय भी मिट जाता है. आगम में भी कहा है—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारीं नमंसंति, दुक्कर जे करेंति ते ॥१॥ उत्तरा०
जो देइ कणयकोडि, अहवा कारेइ कणयजिनभुवणं।
तस्स न तत्तियं पुण्णं जत्तियं बभव्वए धरिए ॥२॥

'दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले मनुष्य को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते है ॥१॥ करोड़ों स्वर्णमुद्राएं दान देने से या सोने का जिनमन्दिर बना देने से भी जितना पुण्य नही होता, उतना पुण्य ब्रह्मचर्यव्रत के धारण करने से होता है।'

अत. ब्रह्मचर्यपालन करने का दृढ़ निश्चय करके कमलवती ने जड़ी के प्रभाव से एक ब्राह्मण का रूप बनाया और पाडलिखंडपुर के पश्चिम मे चक्रधर नाम के गांव के पास चक्रधरदेव के मन्दिर का पुजारी बन कर रहने लगी। और वहाँ वह सुख से अपना समय बिताती रही।

इधर सारथी ने रणसिंहकुमार को कमलवती का सारा वृत्तांत सुनाया। कुमार सुनते ही मन ही मन सोचने लगा—"हो न हो, यह सब मंत्रादि के प्रभाव द्वारा उस दुष्टा गंधमूषिका की काली करतूत जान पड़ती है। क्योंकि वही मेरे अन्तःपुर में बार-बार कमलवती के पास आया करती थी और उससे चिकनी-चुपड़ी बाते किया करती थी। हाय! अब क्या करूं? मैंने ही गलतफहमी से कुल के विरुद्ध आचरण किया। अपनी निर्दोष प्राणप्रिया को

कुमार के विरक्त होने और उसे निकाल देने का सारा वृत्तांत कह सुनाया। सुन कर रत्नवती बड़ी खुश हुई। अपने पिता पुरुषोत्तम राजा से उसने कहा—"पिताजी! अब रणसिंह को बुलाइये।" राजा ने भी रणसिंह को बुलाने के लिये कनकपुरनगर में कनकशेखर राजा के पास अपने सेवको को भेजा। सेवकों ने वहाँ जा कर राजा से कहा—"स्वामिन्! रणसिहकुमार रत्नवती से विवाह करने पधार रहे थे; परन्तु रास्ते से ही लौट आये है। यह उन्होंने ठीक नहीं किया। ऐसा करके उन्होंने हमे अपमानित किया है।" परन्तु रत्नवती का मन रणसिंह मे ही निमग्न है। उसे रणसिंह के बिना कुछ नहीं सूझता। अत. आप किसी तरह से रणसिंह को समझा कर रत्नवती से विवाह करने के लिए यहाँ भेजे।" कनकशेखर ने भी रणसिंह को बुला कर कहा "कुमार! जाओ, रत्नवती के साथ विवाह करके आओ।" कमलवती के विरह से दु खी मन होने पर भी कनकशेखर राजा के आग्रह से रणसिंह ने जाना स्वीकार किया और शुभ दिन और शुभ शकुन देख कर सैन्यसहित रणसिंह ने प्रस्थान किया। रास्ते में वे पाडलिखण्डपुर आये। वहाँ प्रिया की खोज करते-करते संयोगवश वे चक्रधर गाँव के पास उद्यान मे पहुचे। वहाँ उन्होंने शामियाने बंधवा कर पड़ाव डाला। कुमार वहीं निकटवर्ती चक्रधरदेव के मदिर मे पूजा के लिए गया। अकस्मात् उस समय उसकी दांयी आँख फड़कने लगी। कुमार ने सोचा—"आज अवश्य किसी ईष्ट वस्तु का समागम होगा; परन्तु कमलवती के सिवाय मुझे और क्या ईष्ट है? यदि आज वह मिल जाय तो मैं समझूंगा कि सभी ईष्टलाभ मिल गए।" कुमार यों विचार कर ही रहा था कि सामने से एक पुष्पबटुक (पुरुषवेशी कमलवती) बहुत-से फूल ले कर आया और उसने वे कुमार को दिये। कुमार ने भी उसे

वटुक की प्रीति और गाढ़ हो गई। एक क्षण भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता; साथ ही बैठता, साथ ही उठता, चलता एव सोता था। शरीर के साथ छाया की तरह वे दोनों एक क्षण भी अलग नहीं होते थे। दूध और जल की तरह उनकी मैत्री गाढ़ हो गई। कहा भी है—

> क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः।
> क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुत ॥१॥
> गंतु पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापद।
> युक्तं तेन जलेन शाम्यति पुनर्मैत्री सतामीदृशी ॥२॥

'दूध ने अपने साथ मिश्रित जल को अपने सब गुण दे दिये। दूध को आग पर रखा देख कर पानी जलने लगा, उस समय अपने मित्र को आपत्ति मे देख कर दूध उछल कर अग्नि मे पड़ने को तैयार हुआ। उसे पुन जब पानी की सहायता (पानी के छींटे) मिली, तब वह शान्त हो गया। सज्जनो की मैत्री भी ऐसी ही होती है।'

एक दिन कुमार ने वटुक से कहा—"मित्र! मेरा मन काबू मे नहीं है, कोई उपाय करो।" वटुक ने कहा—"आपका मन कहाँ घूम रहा है?" कुमार—"मेरी प्राणप्रिया कमलवती मे मग्न हो रहा है।" उसने पूछा—"कमलवती कैसे और कहाँ चली गई?" कुमार ने कहा—"मुझ मन्दभाग्य के घर मे ऐसा स्त्रीरत्न कहाँ से रहता? मुझ भ्रान्तचित्त की करतूत ने ही उसे निकाल दिया है। न मालूम वह कहाँ गई होगी?" वटुक—"जिसके लिये तुम इतना खेद कर रहे हो, पता है वह कैसी है?" यह सुनते ही कुमार की आँखों मे आँसू उमड़ पड़े। उसने कहा—"मित्र! उसके गुणो

का वर्णन एक जीभ से मैं कैसे कर सकता हूँ ? वह सर्वगुणों की खान थी। अभी भी उसके बिना मुझे सारा संसार सूना लगता है। परन्तु तुम्हें देख कर मुझे असीम आनंद होता है।" तब बटुक ने उपदेश के लहजे में कहा—"प्रिय वयस्य ! इतना पश्चात्ताप करना उचित नहीं है, क्योंकि विधि ने जो कुछ निर्माण किया है, उसे नष्ट करने की किसमें ताकत है ? नीतिज्ञ भी कहते हैं— "विधि (भाग्य) असंभवित को संभवित बना देता है और जो भलीभांति बनी हुई घटना है, उसे बिगाड़ देता है। मनुष्य की कल्पना में भी नहीं आ सके, ऐसी घटना भाग्य के द्वारा हो जाती है।" इसलिए अब इस बारे में अधिक सोचना व्यर्थ है।"

रणसिंह भी बटुक के साथ चलते-चलते बहुत दिनों के पश्चात् रत्नपुरी पहुँचा। पुण्यात्मा राजा कनकरथ के लिए अत्यन्त उत्साह से कुमार के सामने पहुँचा और उसने आडंबर से दामाद का अपने नगर में प्रवेश कराया। शुभ मुहूर्त में अपनी कन्या रत्नवती का उसके साथ विवाह किया। दहेज में राजा ने बहुत से हाथी घोड़े आदि दिये। श्वसुर के द्वारा दिये हुए महल में रत्नवती के साथ रह कर कुमार आनन्दपूर्वक समय बिताने लगा। एक दिन रात को मौका पा कर रत्नवती ने कुमार से पूछा—"हे प्राणनाथ ! कनकवती रानी कैसी थी, जो उसके चले जाने के बाद भी वह आपके मन से नहीं हटती ? मेरी शादी के लिए आते हुए भी उसको आपने घर में लिया और आप मेरे साथ शादी किए बिना वहीं से ही लौट कर चले गये।" कुमार ने कहा—"प्रिय ! उसके समान स्त्री तो तीन लोक में कहीं भी नहीं है। उसके शील और रूप लावण्य का क्या वर्णन करूं ? उसके मरने पर भी, उसके साथ विवाह से मुझे जो आनंद मिला, वह आनंद अब कहां ? जैसे गाढ़

चावल आदि उत्तम अनाज नहीं मिलने पर मनुष्य को कांग-कोदरा आदि घटिया अनाज के खाने से जो आनंद मिलता है, ऐसी ही दशा इस समय मेरी हो रही है। जिस मनुष्य का मन सुन्दर हीरों के पहनने में लगा है, उसका मन स्फटिकमणि मे कैसे लग सकता है ?" यह सुन कर रत्नवती रोष मे आ कर बोली—"मैंने ही तो उसको ठिकाने लगाया था। उस अभिमानिनी दुष्टा को मैंने ही सजा दिलवाई थी। गंधमूषिका को अन्त.पुर मे भेजने तथा आपका मन उससे विरक्त करने का सारा काम मैंने ही किया है। आप तो क्रीतदास की तरह उसकी जीहजूरी करते ल ॊ थे, उसके गुलाम बन कर गुणगान करते नही अघाते थे। मुझ मे शक्ति ज्यादा है या उसमे आप जाच-पड़ताल कर ले ?" कुमार ने यह सुनते ही सोचा—'यह सारी करतूत इसी की है। कमलवती निर्दोष है। इसी ने उस पर कलंक चढ़ाया है।' कुमार ने क्रोध से आँखे लाल कर रत्नवती का हाथ पकड़ कर जोर से चांटा मारा और फटकारते हुए कहा—"धिक्कार है मलिनकर्मिणी तुझे! तूने ही आज्ञा दे कर ऐसा कुकर्म कराया है और अपने आपको दु ख के अथाह समुद्र में डाल दिया है। तुम्हारे जैसी स्त्री से तो कुतिया ही अच्छी, जो भौंकती जरूर है, लेकिन खाना देने से वह वश मे हो जाती है, भौंकना बन्द कर देती है। मगर तुम-सी स्त्री तो बहुत सम्मान देने पर भी वह अपनी नहीं होती।" यों कह कर कुमार शोक करने लगा—"हाय! इस अनर्थकारिणी ने मेरी कमलवती को मिथ्या कलंकरूपी चिता में डाल दिया! न मालूम वह मर गई या जिंदा है ? अब मुझे भी ऐसे जीने से क्या लाभ ?" यो शोक-मग्न हो कर कुमार ने नौकर को बुलाया और उसे आदेश दिया—"मेरे मकान के पास एक बडी चिता बनाओ, ताकि मैं अपनी प्रिया कमलवती के विरह-दु ख मे मरण-शरण हो जाऊं।" नौकर बेचारा

क्योंकि जीव अपने कर्म के अनुसार परभव में जाता है। जीव की चौरासी लाख योनियाँ हैं। प्रत्येक जीव को मरने के बाद कोई न कोई गति मिलती है; लेकिन वह मिलती है कर्म के अनुसार ही। आप तो स्वय पण्डित है, समझदार हैं। पण्डित पुरुष आगामी परिणाम (नतीजे) का विचार करके कार्य करते है। अविचार से किया हुआ कार्य बाद मे शल्य के समान दुखदायी होता है। इसलिये इस साहस को छोड़ दो।" 'मनुष्य जीता रह कर सैकडो कल्याण के दर्शन कर सकता है।' मरने पर तो कल्याण का कोई भी अवसर हाथ मे नही रहता। अत आप मेरी बात मान कर अपने प्राणों की रक्षा करें। जिंदा रहने पर तो कदाचित् कमलवती का भी सगम हो जाय, अज्ञानवश प्राणत्याग करने पर तो उसका संगम अतिदुर्लभ है।" इस प्रकार बटुक की बात सुनने से कुमार के मन को थोड़ी सान्त्वना मिली और कमलवती के पाने की भी आशा हुई।" उसने उत्सुकतावश बटुक से पूछा—"मित्र! क्या तुमने कही मेरी प्रियतमा को भी देखा है? वह जीवित है, ऐसा तुम्हें किसी ने कहा है या तुम अपने ज्ञानबल से जानते हो? यदि जानते हो तो मुझे बताओ कि कमलवती मुझे मिलेगी या नही? सच-सच बताओ, तुम मुझे अग्नि-प्रवेश करने से क्यो रोक रहे हो?" बटुक ने कहा—"कुमार! मै अपने ज्ञानबल से जानता हूँ कि तुम्हारी प्रिया कमलवती विधाता के पास है। यदि आप कहें तो मैं अपनी आत्मा विधाता के पास भेज कर कमलवती को यहाँ ले आऊँ।" कुमार ने फौरन कहा—"यदि यह सत्य है तो फिर विलम्ब क्यों करते हो? मैं कमलवती को देखूंगा, तभी मेरा जन्म सार्थक होगा।"

बटुक—"हे सुन्दर! दक्षिणा के बिना मन्त्रविद्या आदि की सिद्धि कैसे हो सकती है?" कुमार बोला—"मित्र! पहले तो मैंने

पूर्वक कमलवती को ले कर अपने घर आया। और विषयसुखों का उपभोग करता हुआ आनन्दपूर्वक दिवस व्यतीत करने लगा।

एक दिन रणसिंहकुमार ने कमलवती से पूछा—"सुलोचने! क्या कोई तेरे सरीखी आकृति वाला वटुक नाम का ब्राह्मण तुझे लेने के लिए विधाता के पास आया था? तूने उसे देखा था या नहीं?" यह सुन कर विस्मयसहित कमलवती बोली—"प्राणेश! वह वटुक ब्राह्मण तो मैं ही थी।" ऐसा कह कर जड़ी के प्रभाव का सारा रहस्य उसने खोला। कुमार को यह सुन कर बड़ा संतोष हुआ। एक दिन कमलवती को विचार आया कि 'मेरा पति रत्नवती के सामने जरा भी नहीं देखता, उसके प्रति अत्यन्त निःस्नेही हो चुका है, ऐसा होने में मेरी भी लोगों में बदनामी होती है। यद्यपि अपराध उसका है, फिर भी मुझे उसके प्रति इस विचार को अब रफादफा कर देना चाहिये, क्योंकि उपकार करने वाले के प्रति उपकार करना कौन-सी बड़ी बात है? अपितु अपकार करने वाले के प्रति उपकार करने में ही विशेषता है। यही सत्पुरुष का लक्षण है।' कहा भी है—

> उपकारिणि वीतमत्सरे वा, सदयत्व यदि तत्कृतोऽतिरेक ।
>
> अहिते सहसाऽपराधलुब्धे, सरल यस्य मनः सता स धुर्यः ॥१॥

'यदि कोई उपकार करने वाले अथवा मत्सर-रहित मनुष्य पर दया करता है, तो उसमें उसकी क्या विशेषता है? अपितु जो अहित करने वाले तथा सहसा अपराध करने वाले के प्रति दया करे, वही सत्पुरुषों में अग्रणी है।'

यों उदारभावों में डूबती-उतराती हुई कमलवती रणसिंहकुमार के पास आई और बोली—"प्राणनाथ! अगर आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो एक वरदान आपसे चाहती हूँ।" कुमार ने कहा—"तुम्हारी

जो इच्छा हो, वह वर माँग लो।" कमलवती ने कहा—"यदि आप मुझे इच्छित वस्तु देने के लिए तैयार हैं तो मेरे प्रति जैसा आपका प्रेम है, वैसा ही प्रेम रत्नवती के प्रति भी हो। यद्यपि उसने अपराध किया है, फिर भी वह क्षमा करने योग्य है, क्योंकि आपने उत्तम कुल में जन्म लिया है, उत्तम कुलवान मनुष्य को चिरकाल तक क्रोध करना उचित नहीं है। कहा है—"कुलवान को क्रोध नहीं आता। कदाचित् क्रोध आ जाय तो भी लम्बे समय तक नहीं रहता। कदाचित् लम्बे समय तक क्रोध रह जाय तो भी वह प्रकट नहीं होता। इसलिए सत्पुरुषों का क्रोध नीच पुरुष के स्नेह जैसा होता है" और स्त्रियों का हृदय तो प्रायः निर्दय होता है। नीतिज्ञों ने कहा है—"असत्य, साहस, माया, मूर्खता, अतिलोभ, अशुचिपन तथा निर्दयता स्त्रियों में ये दोष स्वाभाविक होते हैं।" वे अपने स्वार्थ के लिए नीचतम का भी आचरण करती हैं।" इस तरह कमलवती के समझाने पर रणसिंह कुमार ने रत्नवती का भी सम्मान किया। कुछ दिनों तक वहीं रह कर पुरुषोत्तम राजा की आज्ञा ले कर कुमार ने कनकपुर की तरफ प्रस्थान किया। राजा ने अपनी पुत्री के लिए बहुत से स्वर्ण-मणि अलंकार, वस्त्र आदि दिये और कुमार को बहुत से हाथी घोड़े रथ, पैदल सेना, कोष, सामग्री आदि बहुत सी वस्तुएँ भेंट दीं। रणसिंहकुमार शुभदिन देख कर रत्नवती और कमलवती को ले कर वहाँ से चले। क्रमशः पाडलीखंड नगर के पास आये। वहाँ अपनी पुत्री का आना सुन कर राजा कमलसेन भी अगवानी के लिए आया। वह महोत्सव के साथ दामाद को अपने यहाँ ले गये। कमलवती का बहुत सम्मान किया तथा नागरिक लोगों ने भी उसकी प्रशंसा की। माता ने भी स्नेह से अपनी पुत्री का आलिंगन किया। बहुत दिन रहने के बाद कुमार ने कनकपुर की ओर प्रयाण किया। कनकशेखर भी रणसिंहकुमार का आगमन सुन कर आनन्द के [illegible]

लेने के लिये सम्मुख आये; विस्मयपूर्वक मिले, और कुमार का नगर-प्रवेश कराया। उस समय बहुत से भाई और बहन उसे देखने आये। परस्पर आनन्द से कहने लगे—"देखो कमलवती अपने शील के प्रभाव से यमराज के पास जाने के बाद भी यम की आँखों मे धूल झौक कर वापिस आ गई। उसके गुण से आकर्षित हो कर ही रणसिंह ने उसके पीछे जल मरना तक अंगीकार कर लिया। सतियों में श्रेष्ठ कमलवती को धन्य है।" इस प्रकार लोगों के मुख से कमलवती की प्रशंसा सुनता हुआ कुमार अपने निवासस्थान पर आया और तीनों सुन्दरियों के साथ दोगंदुक देव के समान यथेष्ट विषयसुखों का उपभोग करने लगा।

एक बार रणसिंहकुमार ने विजयपुर नगर के पास श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के मन्दिर मे आठ दिन का महोत्सव करवाया। इससे चिंतामणियक्ष प्रगट हुआ और प्रसन्नतापूर्वक बोला—"वत्स! मेरा आशीर्वाद है कि तुम यहाँ से विजयपुर पहुचते ही अपने पिता का राज्य प्राप्त करोगे।" यक्ष के वचन सुन कर कुमार बड़ी भारी सेना के साथ विजयपुर आया। विजयपुर के राजा ने रणसिंह की विशाल सेना देखी तो वह किले मे घुसा रहा। न तो वह किले के बाहर निकला, और न उसने नगर छोड़ा। जब यक्ष ने रणसिंह की विशाल सेना आकाश से उतरती हुई दिखाई, तब भयभीत हो कर राजा नगर छोड कर भाग गया। रणसिंहकुमार ने निश्चित हो कर विजयपुर मे प्रवेश किया। मन्त्री-प्रधान आदि सभी राजदरबारियों ने कुमार को उसके पिता विजयसेन के स्थान पर स्थापित किया। कुमार राजा बना। वह सज्जनों का सन्मान और दुर्जनों को दण्डित करता हुआ श्रीरामचन्द्र के समान नीतिमान बन कर अपने राज्य का पालन करने लगा।

है; क्योंकि इसकी तलाशी लेने पर हमें इसके पास सिर मिला है; फिर भी यह सत्य नहीं बोलता, और 'घडइ घडइत्ति' ऐसा उत्तर देता है। राजा ने क्रोध से कहा—"इसे शूली पर चढ़ा दो। सेवक उसे ले कर शूली के पास आये। उस समय कोई एक विकराल रूपधारी पुरुष आ कर कहने लगा—"मनुष्यो ! यदि तुम इसको मारोगे तो मैं तुम सबका काम तमाम कर दूंगा।" राजपुरुषों को उसकी बात सुन कर क्रोध चढ़ा। वे उसके साथ युद्ध करने लगे। उसने सबको भगा दिया। राजपुरुष भाग कर राजा के पास पहुंचे। राजा उनसे सारा वृत्तान्त सुन कर स्वयं युद्ध करने के लिए चल पड़ा। उस विकराल पुरुष ने उस समय अपना शरीर एक कोस का बना लिया। उसे देख कर राजा ने विचार किया—"यह कोई मनुष्य नहीं है। यह तो कोई यक्ष अथवा राक्षस मालूम देता है।" राजा ने धूप-उत्क्षेप आदि से उसकी पूजा करके कहा—"देव ! हमारे अपराध क्षमा करिए और अपना परिचय देने की कृपा करिए।" तब उसने प्रत्यक्ष हो कर और अपना शरीर छोटा बना कर कहा—"राजन् ! सुनो मेरा नाम दुःषमकाल है। लोग मुझे 'कलि' कहते हैं। अभी मेरा राज्य भारत क्षेत्र में है। भगवान् महावीर-स्वामी के निर्वाण के बाद तीन साल और साढ़े आठ महीने व्यतीत होने के बाद मेरा राज्य प्रारम्भ हुआ है। अतः मेरे राज्य में किसान ने ऐसा क्यों अन्याय किया ? क्योंकि खेत में वह दुगुना मूल्य रख कर खरबूजा उठा लाया था ? मेरे राज्य का नियम ऐसा नहीं है। यह मेरा चोर है। इसलिए मैंने खरबूजे के बदले मस्तक बता कर इसे प्रत्यक्ष सजा दी है। अतः अब से ऐसा जो भी अन्याय करेगा, उसे मैं संकट में डालूंगा। उसी समय सेठ का पुत्र भी जीवित हो कर आया, राजा ने उसे अपनी गोद में बिठाया और अर्जुन का सम्मान किया। बाद में उस कलिपुरुष ने अपना प्रभाव बताते कहा—

पांच आश्रवों का सेवन करने वाला जीव एकान्त पापकर्म से लिप्त होता है और ससार-सागर मे डूबता है। इसलिए हिंसा के त्याग के विना धर्म कहां से हो सकता है? कहा भी है—

> लक्ष्म्या गार्हस्थ्यमक्ष्णा मुखममृतरुचिः श्यामयाम्भोरुहाक्षी,
> भर्त्रा न्यायेन राज्यं वितरणकलया श्रीर्नृपो विक्रमेण।
> नीरोगत्वेन कायः कुलममलतया निर्मदत्वेन विद्या,
> निर्दम्भत्वेन मैत्री किमपि करुणया भाति धर्मोऽन्यथा न॥

'लक्ष्मी से गृहस्थ की शोभा है; नेत्र से मुख की शोभा है, रात्रि चन्द्रमा से सुशोभित होती है; स्त्री की शोभा पति से है, न्याय से राज्य शोभा देता है; दान से लक्ष्मी की शोभा है; पराक्रम से राजा की शोभा है, निरोगता से काया सुशोभित होती है। निर्मलता से कुल सुशोभित होता है, विनय से विद्या की शोभा है, निर्दंभता से मैत्री शोभा देती है और दया से धर्म शोभा पाता है, अन्य किसी वस्तु से धर्म शोभा नही पाता।' यही कारण है कि आगमों में आश्रव को संसार का हेतु और सवर को संसार से निवृत्ति का असाधारण कारण वताया गया है। इसलिए वत्स! तेरा असली स्वभाव तो सज्जनता से युक्त था; मगर कलिपुरुष के छल से वह इस समय विपरीत हो गया है। लेकिन ऐसी दुर्जनता ठीक नही है। कहा भी है—

> वरं क्षिप्तपाणिः कुपितफणिनो वक्त्रकुहरे,
> वरं झंपापातो ज्वलदनलकुंडे विरचितः।
> वरं प्रासप्रांतः सपदि जठरांतर्विनिहितो,
> न जन्य दौर्जन्य तदपि विपदां सद्म विदुषा॥

'कोपायमान सांप की मुखरूपी गुफा में हाथ डालना अच्छा;

में बताया है कि "हे गुणभंडार वत्स! लाखों जन्मों में दुष्प्राप्य, जन्म-जरा-मृत्युरूप संसार से पार उतारने वाले जिनवचन के पालन में एक क्षण का भी प्रमाद मत करो।"

जिनदासगणि इस प्रकार समझा रहे थे, तभी रणसिंह की गृहस्थ-पक्षीया माता विजया साध्वीजी भी वहाँ पधार गईं। उन्होंने भी कहा—"वत्स! तुम्हारे गृहस्थपक्षीय पिता श्रीधर्मदासगणि ने तुम्हे बोध देने के लिए यह 'उपदेशमाला' ग्रन्थ बनाया है। तू इसका भलीभांति अध्ययन कर, इसके अर्थ का चिन्तन कर और अन्यायधर्म को छोड कर मोक्षसुख की प्राप्ति कराने वाले सम्यक् धर्म का पालन कर। तेरे पिता की आज्ञा का पालन कर।" अपनी माता के वचन सुन कर रणसिंह ने उपदेशमाला का अध्ययन करना स्वीकार किया। प्रथम श्रीजिनदासगणि उपदेशमाला की गाथा बोलते, उसके अनुसार रणसिंह भी बोलता। इस तरह दो-तीन बार बोलने से संपूर्ण उपदेशमाला ग्रन्थ उसे कंठस्थ हो गया। बाद में उसके अर्थ पर चिन्तन-मनन करते-करते उस भव्यात्मा को वैराग्य हुआ और विचार करने लगा "धिक्कार है मुझे! अज्ञानतावश मैं यह क्या विपरीत आचरण कर बैठा? धन्य है मेरे पिता को! जिसने मेरे जीवन-विकास के लिये अवधिज्ञान से मेरा स्वरूप पहले से जान कर यह ग्रन्थ बनाया है। इन विषयसुखों मे क्या पड़ा है? ये तो, बादल की बिजली के समान चंचल है। कहा भी है—

चला लक्ष्मीश्चला प्राणाश्चलं चंचलयौवनं।
चलाऽचलेस्मिन् संसारे, धर्म एको हि निश्चलः ॥१॥

'लक्ष्मी चंचल है, प्राण चंचल हैं, यौवन भी चंचल है। इस चलाचल संसार में एक धर्म ही निश्चल है।'

इस तरह विचार कर रणसिंह राजा घर आया। और तब से अपने जीवन में न्याय धर्म का पालन करने लगा। कुछ समय बाद उसने उचित अवसर जान कर कमलवती के पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं ने श्री मुनिचन्द्रसूरि से मुनिदीक्षा अंगीकार की। शुद्धचारित्र की आराधना करके वहाँ से मृत्यु प्राप्त कर स्वर्गलोक में देव बने। इसके बाद कमलवती के पुत्र ने भी उपदेशमाला ग्रन्थ पढ़ा और सभी लोगों को परस्पर पढ़ाया। इसी तरह परम्परा से इसके पठनपाठन का क्रम चलता आ रहा है। आज भी उपदेशमाला ग्रन्थ का पठन वाला इन्द्रियों और भावों पर विजय प्राप्त करता है।

सारांश यह है कि यह "उपदेशमाला प्रकरण" श्री धर्मदासगणि ने अपने पुत्र को प्रतिबोध देने के लिए बनाया है। अन्य बुद्धिमान पुरुषों को भी सम्यग्रूप से इसका रहस्य जानना चाहिए। इसके वृद्धों के परम्परागत आम्नाय (मान्यता) का भी दिग्दर्शन कराया गया है। रणसिंह राजा के साथ इस ग्रन्थ का मूल सम्बन्ध होने से सर्वप्रथम हमने उसकी जीवनगाथा लिखी है। इसके बाद अब "नमिऊण जिणवरिंदे" आदि मूल गाथाओं का अर्थ और विवेचन आदि किया जायगा।

उपदेशमाला की प्रथम पीठिका समाप्त।

※ नमो नाणस्स ※

※ श्री उपदेशमाला ※

[टीकाकार का मगलाचरण]

नत्वा , विभुं सकलकामितदानदक्षम् ।
शंखेश्वर जिनवर जनितासुपक्षम् ॥
कुर्वे सुबोधितपदामुपदेशमालाम् ।
बालाव बोधकरणक्षमटिप्पनेन ॥१॥

सकल कामनाओं को पूर्ण करने में तत्पर तथा सुपक्ष को उत्पन्न करने (वताने) वाले जिनेश्वर श्रीशंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान् को नमस्कार करके वाल (अज्ञानी) जीवों के प्रतिबोध करने मे समर्थ सरल टिप्पण (टीका) द्वारा उपदेशमाला के पदो को सुगमता से समझने लायक वना रहा हूँ ।

मूल गाथा

नमिऊण जिणवरिंदे, इ दनरिंदच्चिए तिलोअगुरु ।
उवएसमालमिणमो, वुच्छामि गुरुवारसेण ॥१॥

शब्दार्थ—'देवेन्द्र और नरेन्द्र (राजा) के द्वारा पूजित तथा तीनों लोकों के गुरु श्रीजिनवरेन्द्र को नमस्कार करके तीर्थकर, गणधर आदि गुरुजनों के उपदेश से मैं इस "उपदेशमाला" को कहूगा ।

ही इस जगत् मे मुकुट के समान आदि तीर्थकर श्रीऋषभदेव भगवान् सुशोभित हो रहे हैं। और चौवीसवें तीर्थकर श्री महावीर प्रभु कैसे है ? त्रिभुवन के मस्तक में तिलक-समान। जैसे मानव के मस्तक पर तिलक शोभा देता है, वैसे ही तीनो जगत् मे तिलक के समान श्री वीरपरमात्मा सुशोभित है। इन दोनों तीर्थकरो मे प्रथम श्री ऋषभदेव भगवान को सूर्य की उपमा दी है, क्योंकि अज्ञान अथवा मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश कर जगत् के सभी जीवो को मोक्षमार्ग बताने से वे सूर्य के समान है। और चरम तीर्थकर श्री महावीर स्वामी को चक्षु की उपमा दी है। अर्थात् वे तीनों जगत् के जीवों को ज्ञानरूपी नेत्र देने से चक्षुरूप है।'

अब दोनों तीर्थकर भगवतों द्वारा आचरित तपरूप चरित्र का उपदेश देते है—

संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो।

इअ विहरीया निरसणा, जइज्जए ओवमाणेणं ॥३॥

शब्दार्थ—'श्री ऋषभदेव भगवान् ने एक वर्ष तक और जिनचन्द्र श्रीवर्धमान स्वामी ने छह महीने तक आहारपानीरहित विहार किया थे। इसी दृष्टांत से दूसरो को भी तप मे उद्यम करना चाहिये।'

भावार्थ—'श्री प्रथम तीर्थकर श्री आदिनाथ भगवान् ने (उत्कृष्ट) एक वर्ष का तप किया था, और जिनचन्द्र श्रीवर्धमान स्वामी ने (उत्कृष्ट) छह महीने का तप किया था। श्रीवर्धमान स्वामी सर्वगुणों मे प्रधान होने से उन्हे जिनचन्द्र की उपमा दी गई है। ये दोनों तीर्थकर भगवन्त आहाररहित होने पर भी विहार करते थे। इस दृष्टान्त से गुरु शिष्य को उपदेश देते है कि "जैसे तीर्थकर परमात्मा ने उत्कृष्ट तप किया था, वैसे तुम्हे भी तप मे यथाशक्ति उद्यम

भावार्थ—'जिनचन्द्र श्रीवर्धमान स्वामी, मेरुपर्वत के समान अचल थे। जैसे मेरुपर्वत को महाप्रचड अन्धड़ चलायमान नहीं कर सकते; वैसे ही देवों, मनुष्यों या तिर्यञ्चों के द्वारा किये गए हजारों उपसर्ग भी प्रभु के ध्यान को चलायमान करने मे समर्थ न हो सके। इसी कारण से देवों ने उनका नाम 'महावीर' रखा। इस दृष्टान्त को ध्यान मे रख कर अन्य मुनियों को भी प्राणान्तक उपसर्ग होने पर भी ध्यान से विचलित नहीं होना चाहिए।'

अब गणधर के दृष्टान्त से शिष्य को विनयगुण का उपदेश देते हैं—

भद्दो विणीयविणओ, पढम गणहरो समत्त-सुअनाणी ।
जाणतोवि तमच्छ, विम्हिअसो सुणइ सव्व ॥६॥

शब्दार्थ—'भद्र और विशेष विनय वाले प्रथम गणधर श्रीगौतम-स्वामी समस्त श्रुतज्ञानी थे, उसके अर्थ को जानते थे, फिर भी जब प्रभु कहते थे, तब वे उन सब अर्थों (बातों) को विस्मित-हृदय वाले हो कर सुनते थे!'

भावार्थ—'भद्र यानी कल्याणकारी, मंगलरूप और अत्यन्त विनयी प्रथम गणधर श्रीगौतमस्वामी सर्वश्रुतज्ञान के पारगागामी (श्रुतकेवली) थे। वे शास्त्रों के सभी भावों को जानते हुए भी पहले स्वयं भगवान् से पूछते थे, फिर जब भगवान् उसके उत्तर मे जो कुछ कहते उसे गौतमस्वामी विशेष जानने की दृष्टि से और प्रफुल्लित आंखों वाले हो कर सुनते थे। इस तरह अन्य शिष्यों को भी विनय-पूर्वक गुरु से प्रश्न पूछना चाहिए और गुरु महाराज जो कुछ कहें, उसे विनयपूर्वक सुनना चाहिए।'

में गुरुमहाराज (आचार्य आदि) श्रेष्ठ हैं और आनंद को देने वाले हैं।'

अब बाल्यावस्था के गुरुमहाराज की महिमा बतलाते हैं—

वालुत्ति महीपालो, न पया परिभवइ एस गुरु-उवमा।
जं वा पुरओ काउं, विहरंति मुणी जहा सोवि ॥९॥

शब्दार्थ—"जैसे राजा बालक होने पर भी, प्रजा उसका अपमान नहीं करती; यही उपमा गुरु को दी गई है। जैसे गीतार्थमुनि चाहे बालक हो, उस बालगुरु को भी प्रमुख मान कर विचरण करना चाहिए।"

भावार्थ—'राजा बालक होने पर भी प्रजाजन उसका पराभव या तिरस्कार नहीं करते, अपितु उसे मान्य कर लेते हैं। यही बात गुरु के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। उम्र और दीक्षा पर्याय कम होने पर भी ज्ञान में श्रेष्ठता से वह गीतार्थ है तो वह दीपक के समान है। अत. उस बालगीतार्थ की आज्ञा माननी चाहिये। और दीक्षा मे बड़े तथा गुरु को विशेषरूप से मान्य करना चाहिए।'

उपदेशक गुरु (आचार्य) कैसे होने चाहिये? उसका स्वरूप कहते हैं—

पडिरूवो तेयस्सी, जुगप्पहाणागमो महुरवक्को।
गंभीरो धिइमंतो उवएसपरो अ आयरिओ ॥१०॥

शब्दार्थ—'तीर्थंकर आदि के समान रूप वाले, तेजस्वी, युग-प्रधान, मधुरवक्ता, गंभीर, धृतिमान और उपदेश देने वाले आचार्य होते हैं।'

[भाव]ार्थ—'आचार्य भगवान् आकृति और रूप मे तीर्थंकर=गणधर

कइयावि जिण वरिंदा, पत्ता अयरामरं पह दाउं ।
आयरिर्हि पवयणं, धारिज्जइ सपय सयल ॥१२॥

शब्दार्थ—'किसी समय जिनवरेन्द्रों ने भव्यजीवों को सन्मार्ग बता कर अजर-अमर स्थान प्राप्त किया था । वर्तमानकाल मे आचार्यों ने उनकी समस्त सम्पदा और प्रवचन धारण किए हुए है ।'

भावार्थ—'किसी काल मे तीर्थकर भगवान् ज्ञान-दर्शन-चरित्र-रूपी मार्ग भव्यजीवों को बता कर जन्म-जरा-मृत्यु-रहित मोक्षस्थान प्राप्त करते है । उनकी अविद्यमानता में वर्तमानकाल मे चतुर्विध-संघरूप प्रवचन-तीर्थ अथवा द्वादशांगीरूपी प्रवचन (आगमसम्पदा) को आचार्य भगवान् धारण करते है । तीर्थकर भगवान् के अभाव में आचार्य ही प्रवर्तक है और वे ही शासन की रक्षा करते है । अतः आचार्य भगवान् उनके समान पूजनीय-माननीय है ।'

अब साध्वी को विनय का उपदेश देते है—

अणुगम्मई भगवई, रायसु अज्जा सहस्सविदेहिं ।
तहवि न करेइ माणं, परियच्छइ तं तहा नूणं ॥१३॥

शब्दार्थ—'श्री भगवती राजपुत्री आर्या चन्दनबाला हजारो साध्वी वृन्दों के सहित होने पर भी अभिमान नहीं करती थी । क्योंकि वह उसका निश्चय कारण जानती थीं ।'

भावार्थ—'दधिवाहन राजा की पुत्री साध्वी चन्दनबाला हजारों साध्वियों तथा जन-समूह से घिरी रहती थी । अर्थात हजारों लोग उसकी सेवाभक्ति के लिये उसके पीछे-पीछे घूमते थे, वह इतनी पूज्या होने पर भी जरा-सा भी अहंकार नही करती थी । यह एक आश्चर्य है । वह अच्छी तरह से जानती थी कि यह मेरा प्रभाव

फिर रहा था, उस भिक्षुक ने मार्ग मे साध्वी चन्दनबाला का वह समूह देखा। उसे देख कर वह विस्मित हो कर सोचने लगा— "यह क्या कौतुक है ? यहां बहुत से मनुष्य क्यों एकत्रित हुये है ?" यों सोचता हुआ वह भी कौतुक देखने के लिए उस समूह के पास आया। उसने देखा कि ससार की आसक्ति से रहित, पृथ्वी-तल को पवित्र करने वाली, शान्तमूर्ति आर्या चन्दनबाला साध्वी के सिर के केश लुञ्चित थे। वह बहुत-सी साध्वियो से घिरी हुई थी और बहुत से राजपुरुष उसे वन्दन कर रहे थे। यह देख कर उसके मन मे कुतूहल हुआ। अत साध्वी के पास खडे एक वृद्ध पुरुष से उसने पूछा कि "यह कौन है ? और कहाँ जा रही है ?" तब वृद्ध पुरुष ने कहा—ले, स्थिर मन से सुन। मैं इसकी जीवनगाथा सुनाता हूं—

चंपानगरी में दधिवाहन नाम का राजा था। उसके अतिरूप-लावण्य गुणों से युक्त, शील से अलङ्कृत और माता-पिता को प्राणों से भी अधिक प्रिय वसुमति नाम की पुत्री थी। एक समय किसी कारण दधिवाहन और कौशाम्बी नगरी के स्वामी शतानीक राजा में परस्पर वैमनस्य हो गया। शतानीक राजा ने विशाल सेना ले कर चंपानगरी पर चढ़ाई की। दधिवाहन भी सेना एकत्रित कर लड़ाई के लिये सामने आया। घोर युद्ध हुआ। बहुत से सैनिक मारे गये। दधिवाहन ने सेना को खतम होते देखा तो मैदान छोड़ कर भाग गया। शत्रु की सेना ने निर्भय हो कर अनाथ कामिनी (स्त्री) की तरह चंपापुरी को लूटा। राजा के अन्तःपुर को भी लूटा। उस समय अन्त पुर मे भय से चंचल नाम वाली, अपने समूह से भ्रष्ट हुई हिरनी की तरह दौड़ती हुई राजकन्या वसुमती को किसी पुरुष ने पकड़ा। जब शतानीक राजा की सेना वापिस अपने नगर में आई, तब उसके साथ वसुमति भी कौशाम्बी मे कैदी के रूप मे

को कोई नही जान सकता। धिक्कार है मेरी स्त्री को।" सेठ ने वसुमति से पूछा कि "पुत्री! तेरी ऐसी दशा क्यों हुई? किसने की?" वसुमति ने कहा—'पिताजी! यह सब मेरे कर्मो का दोष है।" सेठ ने उसे घर की देहली के पास बिठा कर कहा—'तू यही बैठ। मैं बेड़ी कटवाने के वास्ते लुहार को बुला कर लाता हूं।" वसुमति ने कहा—"मुझे बहुत भूख लगी है। जो भी कुछ मिल जाय, खाने को दो।" उस समय घोडे के लिये उडद के बाकले बनाये हुए थे। सेठ ने सूप के एक कोने में उन्हें डाल कर वसुमति को खाने के लिये दिये। वह भी एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर देहली के बाहर रख कर बैठी हुई उस सूप के कोने मे पडे हुए उड़द के बाकुले खाने के लिए आतुर थी। उस समय श्री श्रमण भगवान महावीर ने छद्मस्थ अवस्था मे विचरते हुए अपने कर्मक्षय करने के लिये इस प्रकार का अभिग्रह (सकल्प) तप किया हुआ था। कोई राजकन्या हो, जिसका मस्तक मुंडित हो, दोनों पैरों मे बेडी पड़ी हो, आँखों मे आंसू हो, अधोभाग पर कच्छा बाधे हो. हाथ भी बेड़ियों से जकड़े हो, कैदीरूप मे पकड़ी हुई हो, मूल्य से खरीदी हुई हो, एक पैर देहली के बाहर और एक पैर देहली के अन्दर रख कर बैठी हो, दो पहर बीत गये हों, ऐसी कोई स्त्री सूप के कोने मे रखे हुए उड़द के बाकुले देगी तो ग्रहण करूंगा।" ऐसा घोर अभिग्रह लिए हुए प्रभु महावीर को पांच महीने और पच्चीस दिन व्यतीत हो गये थे। लेकिन अभी तक वह पूर्ण नहीं हो रहा था।

इसी अभिग्रह के सिलसिले मे ग्रामानुग्राम विचरते हुए महावीर स्वामी कौशाम्बी मे पधारे। वे एक घर से दूसरे और दूसरे से तीसरे घर मे जाते, परन्तु अभिग्रह के अनुरूप भिक्षा नही मिलती थी। घूमते-घूमते भगवान् धनावह सेठ के घर के पास पहुचे।

नाम चन्दनवाला है। इसकी अच्छी तरह से रक्षा करना। यह आगे जा कर धर्म का उद्योत करने वाली होगी और महावीर प्रभु की प्रथम शिष्या होगी। यों कह कर इन्द्र अपने सौधर्म देवलोक गया। चन्दनवाला वहीं रहने लगी। राजा शतानीक और अन्य लोगों ने उसका बहुत सन्मान किया। कुछ दिनों के बाद जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब भगवान् महावीर से चन्दनवाला ने साध्वीदीक्षा ग्रहण की और उनकी प्रथम शिष्या हुई। वही आर्या चन्दनवाला साध्वी आआर्य सुस्थिताचार्य को जो निकटवर्ती उपाश्रय मे विराजमान थे, वंदन करने के लिये इस समय जा रही है।"

इस प्रकार वृद्धपुरुष ने भिखारी को चन्दनवाला का जीवन-वृत्तान्त सुनाया। सुन कर उस भिखारी के मन में हर्ष का पार न रहा। वहाँ से वह भिखारी साधुओं के उस उपाश्रय मे गया, जहाँ चन्दनवाला साध्वी अपने गुरु को वंदन करने जा रही थी। चन्दनवाला साध्वी वंदन करके अपने उपाश्रय में गई। गुरुमहाराज ने उस भिक्षुक को देख कर अपने ज्ञान का उपयोग लगा कर जाना कि "यह थोड़े समय मे सिद्धिगति (मुक्ति में) जाने वाला है; अतः इसे धर्ममार्ग में लगाना चाहिये।" ऐसा विचार कर उसे मिष्टान्न भोजन दिया, और साथ में उपदेश भी। इससे वह बड़ा खुश हुआ और मन में विचार करने लगा—अहो! यह साधु कितने दयालु हैं, इनका मार्ग भी इस जन्म और दूसरे जन्म के लिए बड़ा हितकर है। इस जन्म में मिष्टान्न आदि भोजन मिलेगा और दूसरे जन्म मे स्वर्ग आदि सुख मिलेगा। ऐसा विचार कर उस भिक्षुक ने गुरु के पास मुनिदीक्षा ग्रहण की। गुरु ने भी उसे चारित्र में दृढ़ करने के लिए बहुत साधुओं के साथ साध्वी के उपाश्रय में भेजा। अन्य साधु बाहर खड़े रहे और द्रमुक (नवदीक्षित साधु) अकेला ही

चाहिए, क्योंकि एक दिन का भी साधु हो, वह साध्वी के लिये पूजनीय होता है।'

अब साधु की पूजनीयता का कारण बताते हैं—

धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिट्ठो।
लोए वि पहू पुरिसो, किं पुण लोगुत्तमे धम्मे ॥१६॥

शब्दार्थ—'धर्म पुरुष के द्वारा उत्पन्न हुआ है यानी प्रचलित किया हुआ है। और श्रेष्ठ पुरुष ने ही धर्म का प्रथम उपदेश दिया है। अतः पुरुष ही ज्येष्ठ (बड़ा) है। लोकव्यवहार में भी पुरुष ही स्वामी माना जाता है, तो लोकोत्तम धर्म में पुरुष को ज्येष्ठता माना जाय, इसमें कहना ही क्या ?'

भावार्थ—'जो दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं का रक्षण (धारण) करे, वह धर्म कहलाता है। पुरुष अर्थात् गणधर भगवन्तों से धर्म उत्पन्न (प्रचलित) हुआ है। पुरुषवर=पुरुषों में श्रेष्ठ, श्री तीर्थंकर परमात्मा ने बतलाया (प्ररूपित) है। श्रुत-चारित्ररूपी धर्म के स्वामी पुरुष होने से पुरुष बड़े हैं। संसार में मालिक पुरुष को ही बनाया जाता है, स्त्री को नहीं। जब लोक (संसार) में पुरुष मुख्य माना जाता है तो लोकोत्तरधर्म में क्यों नहीं ? धर्म में तो विशेषता पुरुष की ही रखना श्रेष्ठ है।'

इसके लिये दृष्टान्त देते हैं—

संवाहणस्स रन्नो, तइया वाणारसीए नयरीए।
कन्नासहस्स महिअं, आसी किर रूपवतीण ॥१७॥
तह वि य सा रायसिरि उल्लट्टंती न ताइया ताहिं।
उयरट्ठिएण एक्केण, ताइया अंगवीरेण ॥१८॥

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थ,
सोऽवश्यं भवति नृणा शुभोऽशुभो वा।
भूताना महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाऽभाव्य भवति, न भाविनोऽस्ति नाश ॥

'नियति के बल से शुभ अथवा अशुभ जो पदार्थ प्राप्त होने वाला होता है, वह मनुष्य को अवश्य ही प्राप्त होता है। मनुष्य के अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं होने वाला नहीं होता और जो होने वाला है वह नही रुकता।' राजा इन्हीं विचारो के भवरजाल में गोते खाता हुआ बूढ़ा हो गया। संयोगवश उस समय पटरानी के गर्भ मे एक जीव पुत्ररूप में आया। राजा पुत्र का मुख देखे विना ही परलोक सिधार गया। सभी नगरवासी एकत्रित हो कर विचार करने लगे कि 'अब क्या होगा? राजा के पीछे किसी पुत्र के विना राज्य कैसे चलेगा? उनका उत्तराधिकारी कौन बनेगा? और विना राजा के राजगद्दी खाली रहेगी।' इस तरह सभी नगरवासी लोग शोकाकुल हुए। जब शत्रु-राजाओं ने भी सुना कि संबाधन राजा अपुत्र ही मरा है तो उन सभी ने एकत्रित हो कर, परस्पर एकमत हो कर विशाल सेना इकट्ठी की; और शस्त्रास्त्र से सुसज्जित हो कर वाराणसी की ओर कूच की। वाराणसी के लोगों ने राज्य पर शत्रु-राजाओं के चढाई करके आने की वात सुनी तो वे वड़े दु:खी हुए और अपने-अपने घर से धन निकालने लगे। उस समय उन शत्रु राजाओं ने किसी नैमित्तिक से पूछा—"हमारी जय होगी या नही?" नैमित्तिक ने पंचांग से लग्नबल देख कर कहा—"आप सब मिल कर विजय की अभिलाषा रखते है, लेकिन सबाधन राजा की पटरानी के गर्भ के प्रभाव से आपकी पराजय होगी।" ऐसा सुन सभी शत्रु निराश हो वापस चले गये। सभी नागरिक खुश हुए और कहने लगे—"अहो!

किं परजण-बहुजाणावणाहिं, वरमप्पसक्खियं सुकयं।
इह भरहचक्कवट्टी, पसन्नचंदो य दिट्ठंता ॥२०॥

शब्दार्थ—'दूसरे लोगों को बहुत (धर्मक्रिया) बताने से क्या मतलब? सुकृत आत्मसाक्षिक करना ही श्रेष्ठ है। इस विषय में भरतचक्रवर्ती और प्रसन्नचन्द्र का दृष्टांत जाने।

भावार्थ—'मैंने यह अनुष्ठान (धर्माचरण या धर्मध्यान) किया, इस प्रकार बहुत से मनुष्य दूसरे लोगों को बताते या कहते फिरते हैं। पर दूसरों को अपनी धर्मकरणी बताने या कहने से क्या लाभ? हे आत्मन्! आत्मसाक्षिक सुकृत-धर्म करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस विषय में भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देना उचित होगा, जिसने आत्म-साक्षिक अनुष्ठान से सिद्धि-सुख प्राप्त किया है। प्रसन्नचन्द्र का दृष्टांत भी इस बारे में बोधरूप है।'

पहले हम भरतचक्री का दृष्टांत देते हैं—

भरतचक्रवर्ती का दृष्टान्त

अयोध्यानगरी में ऋषभदेवजी के बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती बन गए थे। ऋषभदेवजी ने संयम-ग्रहण के समय अपने सौ पुत्रों को अपने-अपने नाम से अंकित देश दिये। बाहुबली को बहुली देश में तक्षशिला का राज्य दिया और भरत को अयोध्या नगरी का राज्य दिया। एक समय भरत राज्यसभा में बैठा था, उस समय यमक और समक नाम के दो पुरुष बधाई देने राज्यसभा के मुख्य द्वार पर आये। प्रतिहारी ने उनके आगमन का भरत को निवेदन किया। भरत राजा ने भ्रूसंज्ञा से द्वारपाल को उन्हें लिवा लाने की अनुमति दी। यमक और समक राजसभा में आये और हाथ जोड़ कर भरत महाराज की आशीर्वादपूर्वक स्तुति की। पहले यमक ने अज

वाद्यों की आवाज से सारा आकाश मण्डल गूंज रहा था। 'जय जय' की ध्वनि हो रही थी, नृत्य गीत हो रहे थे। प्रभु सिंहासन पर बैठ कर उपदेश दे रहे थे। उस समय देवदुंदुभि की ध्वनि और 'जय जय' के नारे सुन कर मरुदेवी माता ने कहा—"यह कौन-सा कौतुक है यहाँ ?" भरत ने कहा—"यह आपके पुत्र ऋषभ का ऐश्वर्य है।" मरुदेवी विचार करने लगी—'अहो ! पुत्र ने तो इतनी समृद्धि प्राप्त कर ली ? मैं तो समझ रही थी कि मेरा बेटा बड़े कष्ट में होगा ! परन्तु यहाँ तो और ही दृश्य देख रही हूँ।' इस तरह की उत्कंठा से माता जी के हर्षाश्रु उमड़ पड़े। उनके नेत्रपटल खुल गए। उन्होंने विस्फारित नेत्रों से सारा दृश्य प्रत्यक्ष देखा। सहसा कण्ठ से वाणी फूट निकली—'अहो ! मेरा पुत्र ऋषभ इतना ऐश्वर्यशाली है ? मैं तो समझती थी कि कष्ट से मुझे याद करेगा। परन्तु इसने मुझे एक बार भी याद नही किया ? मैं तो एक हजार वर्ष तक पुत्र-मोह से दुःखित थी, और इसके मन में जरा भी मोह नही है। अहो ! धिक्कार है मेरी मोह की चेष्टा को ! मोहान्ध मनुष्य कुछ भी नही सोचता। इस तरह वैराग्यरस मे डूब कर वे क्षपकश्रेणि मे आरूढ़ हुईं। आठ कर्मों का क्षय कर डाला और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर वे मोक्ष पहुचीं। देवों ने उसका महोत्सव किया। इन्द्र आदि सभी देवों ने समवसरण से आ कर मरुदेवी माता के निष्प्राण शरीर को क्षीर सागर के प्रवाह में बहा दिया। तत्पश्चात् शोकातुर भरत को आगे करके सभी समवसरण मे पहुचे। प्रभु को तीन बार प्रदक्षिणा दे कर भरत यथायोग्य स्थान पर बैठा। प्रभु की वाणी सुनी उससे भरत का शोक दूर हुआ। धर्मदेशना के बाद भरत ने प्रभु को वदन किया और उनसे श्रावकधर्म अंगीकार करके अयोध्या में आया। और तब चक्ररत्न का उत्सव किया।

में निम्नगा और उन्निम्नगा नाम की दो नदियां आई। चर्मरत्न के सहारे से दोनों नदी पार उतरे। आगे चल कर दूसरे दरवाजे से बाहर निकले और सैन्य वहीं रखा। वहाँ बहुत से म्लेच्छ राजा एकत्रित हो कर भरतचक्री के साथ युद्ध करने लगे। भरतचक्री ने सबको जीत लिया और वे सब उनके सेवक बने। वहाँ से तीन खंड जीत कर आगे चलते-चलते मार्ग मे नदी का किनारा देख विश्राम के लिए उचित जान कर वहीं सेना का पडाव डाला। उस किनारे पर नौ निधान प्रगट हुए। उनका स्वरूप एक गाथा मे इस प्रकार है—

(१) नैसर्प (२) पाडुक (३) पिंगल (४) सर्वरत्न (५) महापद्म (६) काल (७) महाकाल (८) माणवक और (६) शंख। ये नौ निधानों के नाम हैं। ये गंगा के मुख में रहने वाले हैं। इनमें आठ पहिये होते हैं। ये आठ योजन ऊँचे, नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बी मंजूषा (पेटी) के आकार के होते है। इनमे वैडूर्यमणि के दरवाजे होते हैं। यह स्वर्णमय व विविध प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण होता है। इसके अधिष्ठाता देव इसी नाम के और एक पल्योपम आयुष्य वाले होते हैं।

भरतचक्रवर्ती ने वहाँ आठ दिन का निधान-सम्बन्धी महोत्सव किया। गंगा नदी की अधिष्ठायिका गंगादेवी भरत चक्रवर्ती को अपने घर ले गई। भरत ने उसके साथ एक हजार साल तक सुखोपभोग में बिताए। उसके बाद चक्री आगे बढ़ा। वैताढ्य पर्वत पहुच कर चक्री ने नमि, विनमि नाम के विद्याधरो को जीता। नमि विद्याधर ने चक्रवर्ती को अपनी पुत्री दी। वह उनकी स्त्रीरत्न बनी। इस तरह भरत चक्रवर्ती साठ हजार वर्ष तक दिग्विजय कर वापस अयोध्या में लौटा। इस प्रकार वह षट् खण्डाधिपति महाऋद्धि मान हुआ। चक्रवर्ती की ऋद्धि का थोड़ा-सा वर्णन इस प्रकार है—

मोहित हो कर बैठा हूँ। इस देह को धिक्कार है। और सर्प के फणों के समान इन विषयों को धिक्कार है! अरे आत्मन्! इस संसार में तू अकेला ही है, और कोई तेरा नहीं है।" इस प्रकार अनुप्रेक्षा (गम्भीर चिंतन) करते हुए भरत परमपद पर चढ़ने के लिए सोपानरूप क्षपक-श्रेणी पर आरुढ़ हुए। चार घनघाती कर्मों का क्षय करने से उन्हें उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसी समय शासनदेवी ने आ कर उन्हें मुनिवेश अर्पण किया। मुनिवेष धारण कर इस भूमण्डल पर विचरण कर स्वपर-कल्याण करते हुए भरत केवली ने क्रमश मोक्षसुख प्राप्त किया। इसलिये आत्मसाक्षिक अनुष्ठान ही फल देने वाला होता है। दूसरे की साक्षी से दूसरों के सामने अपने धर्मानुष्ठानों का ढिंढोरा पीटने से वे धर्मानुष्ठान-क्रिया आदि यथेष्ट फल नहीं देते। इस प्रकार आध्यात्मिक स्वत.स्फुरित (स्वसाक्षिक) अनुष्ठान में भरत चक्रवर्ती का दृष्टांत समझना चाहिए।

अब प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का दृष्टान्त कहते है—

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा

पोतनपुर नगर मे प्रसन्नचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था। वह अतीव धार्मिक, सत्यवादी और न्यायधर्म में कुशल था। एक दिन संध्या समय गवाक्ष (खिड़की) में बैठा हुआ वह नगर का दृश्य देख रहा था। उस समय आकाश में अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे बादल छाये हुए थे। संध्या का रंग भी खिला हुआ था। उसे देख कर राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वह उसकी ओर गौर से बार-बार देखने लगा। थोड़ी ही देर मे बादल भी बिखर ए और संध्या की लाली भी क्षणिक होने के कारण मिट गई।

है, धन में आग से जल जाने या राजा द्वारा हरण किये जाने का भय है, दास (नौकर) को स्वामी का भय है, गुण में नीच मनुष्य का भय, वंश में कुभार्या (नीच स्त्री) का भय है, मान के साथ अपमान का भय लगा है, विजय के पीछे शत्रु का भय लगा है, और शरीर को यमराज का भय होता है। इस संसार में प्राणियों को सर्वत्र भय है। एकमात्र वैराग्य मे ही निर्भयता है।

इस तरह राजा ने सांसारिक सुखों से विरक्त हो कर अपने बाल-पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं ने तत्काल केशों का लोचन कर जैनेन्द्री दीक्षा अंगीकार की। मुनि बन कर वे पृथ्वी पर विचरण करते-करते क्रमश' राजगृही नगरी पहुंचे। और वहाँ के एक उद्यान में कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानस्थ खडे रहे। उस समय चौदह हजार साधुओं के अधिपति श्रमण भगवान् महावीरस्वामी अपनी शिष्य-मण्डलीसहित एक गांव से दूसरे गांव विचरते हुए देवों द्वारा रचित स्वर्णकमल पर अपने चरण रखते हुए राजगृही नगरी के बाहर गुण-शील नामक चैत्य मे पधारे। देवों ने वहाँ उपस्थित हो कर समव-सरण (धर्मसभा) की रचना की। उद्यानपालक ने नगर में जा कर राजा श्रेणिक को खुशखबरी सुनाई—'स्वामिन्! आप के मन को अत्यन्त प्रिय श्रमण भगवान् महावीरस्वामी उद्यान मे पधारे है।" यह सुन कर राजा को अति प्रसन्नता हुई। उसने उद्यानपाल को कोटिप्रमाण धन और सोने की जीभ बनवा कर दी। श्रेणिक राजा बड़े आडंबर से भ० महावीरस्वामी को वंदन करने के लिए चला। राजा की सेना के आगे-आगे सुमुख और दुर्मुख नाम के दो दण्डधर (रक्षापाल) चल रहे थे। प्रसन्नचन्द्र मुनि को वन मे कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े देख कर सुमुख बोला—"धन्य है इस मुनि को, जिसने महान् राजलक्ष्मी का त्याग कर संयमरूपी लक्ष्मी ग्रहण की है। इनके नाम लेने मात्र से पाप नष्ट हो जाते है, तो फिर सेवा करने से कहना ही

लिए इस मुनीश्वर की निन्दा करता है ?' तब दुर्मुख बोला—'अरे ! इस पापी का नाम भी न लो ! क्योंकि इस मुनि ने पांच वर्ष के बालक को राजगद्दी पर बिठा कर खुद ने दीक्षा ग्रहण की है। परन्तु शत्रुओं ने एकत्रित हो कर उसके नगर को लूट लिया है। उस नगर के निवासी आक्रंद और विलाप कर रहे हैं। महान् युद्ध हो रहा है, अब वे शत्रु उस बालक को मार कर राज्य अपने कब्जे मे करेंगे। यह सब पाप इसके सिर पर ही तो है !" यह सुन कर ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि सोचने लगे—"अरे ! मेरे जीवित रहते यदि शत्रु मेरे बालक को मार कर राज्य-ग्रहण करेगा तो मेरी प्रतिष्ठा नष्ट होगी।" इस प्रकार विचार करते-करते वे ध्यान से विचलित हुए और मन से ही कल्पना से शस्त्र बना कर कल्पना से ही शत्रु के साथ युद्ध करने लगे। उनके मन मे भयंकर परिणाम आने से रौद्रध्यान पैदा हुआ। अत वे मन से ही वैरियों को मारने लगे। मैंने अमुक को मार दिया, अमुक को यह मारा" ऐसी दुर्बुद्धि के कारण मन का दुर्विचार वाणी से भी फूट निकला—'बहुत अच्छा हुआ।' अब 'जो बच गये हैं, उनको भी अभी मार गिराता हूं।" इस तरह वे मुनि बार-बार मन से ही घमासान युद्ध छेड़ बैठे। उस समय महाराजा श्रेणिक ने हाथी के होदे पर बैठे हुए प्रसन्नचन्द्र मुनि को देखा और उत्साह से स्तुति की-धन्य है राजर्षि को, जो मन की एकाग्रतापूर्वक ध्यान करते हैं।" राजा ने हाथी से नीचे उतर कर मुनीश्वर की तीन प्रदक्षिणा की, बार-बार वंदना की और स्तुति की। इसी तरह मन से वंदन-स्तुति करता हुआ राजा हाथी पर चढ़ कर भ० महावीर स्वामी के पास पहुचा। भगवान् का समवसरण देखते ही पंचाभिगम कर श्रीजिनेश्वर भगवान को वंदन किया और हाथ जोड़ कर निम्नोक्त श्लोकों से प्रभु की स्तुति की—

"भगवन्! इस समय अगर उनका शरीर छूट जाय तो कहाँ जायेंगे?" भगवान् ने कहा—"प्रथम देवलोक मे।" श्रेणिक ने फिर यही प्रश्न वार-वार दोहराया तो भगवान् ने अनुक्रम से दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ देवलोक बताया। तत्पश्चात् क्रमश नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान मे जाने का कहा। इस तरह श्रेणिक राजा प्रश्न पूछता जाता था और भगवान् उसका उत्तर देते जा रहे थे। इस तरह धर्मसभा मे प्रश्नोत्तर चल ही रहे थे कि आकाश मे देवदुंदुभियाँ गडगड़ाने लगीं। श्रेणिक ने पूछा—"प्रभो! ये देवदुंदुभियाँ किसलिए वज रही हैं?" प्रभु ने उत्तर दिया—"प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान हो गया है। इसलिए देव दुंदुभियाँ वजा रहे हैं और जयजयनाद कर रहे हैं।" श्रेणिक राजा ने विस्मित हो कर पूछा—"भगवन्! यह कैसी विस्मयजनक वात है? यह अटपटी वात समझ मे नहीं आ रही है। कृपया, इसका वास्तविक रहस्य बताइए, जिससे मेरे मन का समाधान हो जाय।" प्रभु ने संक्षेप में कहा—"राजन्! सर्वत्र मन की ही प्रधानता है।" कहा है—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बधमोक्षयो.।
क्षणेन सप्तमीं याति, जीवस्तण्डुलमत्स्यवत् ॥१॥

अर्थात्—'मनुष्यों का मन ही वन्ध और मोक्ष का कारण है। तंदुल नाम का मत्स्य के जीव (मानसिक दुर्भावो के कारण) थोडे ही समय मे सातवीं नरक मे चला जाता है।' और भी कहते हैं—

मण मरणे इंदियमरण, इंदियमरणे मरति कम्माइं।
कम्ममरणेण मुक्खो, तम्हा मणमारणं पवरं ॥२॥

किया है; भोगों का वमन किया है; ऐसा युद्ध करना मेरे लिए सर्वथा अयोग्य है। किसका पुत्र! किसकी प्रजा! और किसका अन्तःपुर! अरे दुरात्मन्! तूने यह क्या अधम विचार किया? विचार ही नहीं, अधमाधम आचरण भी कर लिया! ससार की तमाम वस्तुऐं अनित्य है। अनित्य वस्तुओं के लिए तेरी इतनी तीव्रता!

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवन, कृतांतदन्तान्तर्वर्ति जीवितं।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने, अहो! नृणां विस्मयकारि चेष्टितम् ॥१॥

यह ऐश्वर्य चंचल है, यौवन क्षणभंगुर है, जीवन यमराज के दांतो के बीच मे दबा हुआ है। फिर भी मनुष्य परलोक की साधना मे अवज्ञा करता है, अहो! मनुष्य कितनी आश्चयजनक चेष्टाऐं करता है!

इस तरह क्रमश शुभध्यान मे लीन हो कर प्रसन्नचन्द्र मुनि प्रतिक्षण दुष्ट-अतिदुष्ट अध्यवसाय से बंधे हुए कर्मदलिको के मूल उखाड़ने लगे और उसी शुभ अध्यवसाय के बल से सात नरकों मे जाने वाले कर्मदलो को छेदनकर उत्तरोत्तर क्रमश सर्वार्थसिद्धि विमान तक जाने के योग्य कर्मदलों को उन्होने इकट्ठा कर लिया और अपनी बढ़ती हुई शुभ परिणामधारा से परमपदप्राप्ति के कारण भूत क्षेपक श्रेणी का आश्रय लिया और घातिकर्मो को नष्ट कर दिये। उसी समय उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसके प्रभाव से देव एकत्रित हो कर अब नृत्य गीतवाद्य आदि उत्सव कर रहे हैं।"

प्रभु के मुखारविंद से समाधान पाकर श्रेणिक राजा को आश्चर्य-मिश्रित हर्ष हुआ। इसके फलस्वरूप वह बारबार अपना सिर हिलाने लगा और संदेहरहित हो कर प्रभु को भक्तिभावपूर्वक वन्दना नमस्कार करके अपने स्थान को लौटा। भगवान् ने भी अन्यत्र विहार किया।

शब्दार्थ - 'वेष धर्म की रक्षा करता है। वेष होने से 'मैं दीक्षित हूं,' ऐसा जान कर किसी बुरे कार्य मे प्रवृत्त होने में खुद शंकित होगा। जैसे राजा जनपद (देश) को रक्षा करता है, वैसे ही उन्मार्ग में गिरते हुए व्यक्ति की वेष भी रक्षा करता है।'

भावार्थ—'धर्म की रक्षा का मुख्य कारण वेष है। वेष चारित्र-धर्म की रक्षा करता है। किसी भी प्रकार के पापकार्य मे प्रवृत्त होते समय चारित्रधारी "मैं मुनिवेष धारण किया हुआ साधु हूं, दीक्षित हूं" ऐसा विचार कर एकदम लज्जित होता है। मुझे ऐसा कार्य करना योग्य नहीं है। अत. चारित्रमार्ग से गिरते हुए की वेष से रक्षा होती है। जैसे राजा के भय से प्रजाजन उन्मार्ग मे नहीं जाते। यदि प्रजाजन उन्मार्ग मे जा रहे हो तो भी राजा के डर से वापस सुमार्ग पर आ जाते हैं। अत मुनिवेष उन्मार्ग से रोकता है।'

अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो।

अप्पा करेइ त तह, जह अप्पसुहावह होइ ॥२३॥

शब्दार्थ—'आत्मा ही अपने आप (आत्मा) को यथार्थ (यथास्थित) रूप से जानता है। इसलिये आत्म-साक्षी धर्म ही प्रमाण है। इससे आत्मा को वही क्रियानुष्ठान करना चाहिए, जो अपने (आत्मा के) लिए सुखकारी हो।'

भावार्थ—'अपनी आत्मा शुभ परिणामवाली है अथवा अशुभ-परिणाम वाली है, इसका (अपनी स्थिति का यथार्थ) ज्ञान अपनी आत्मा को होता है। क्योंकि दूसरे की चितवृत्ति को छद्मस्थ जीव नहीं जान सकता। इसलिये आत्म-साक्षी धम ही प्रमाणरूप है। आत्मा को वही क्रिया, धर्म या अनुष्ठान आदि-उसी प्रकार करना चाहिये, जो अपने लिए इस जन्म और अगले जन्म मे सुखकारी हो।'

से धर्म नहीं होता।' इस विषय में बाहूबलि का दृष्टान्त देना अप्रासंगिक न होगा—

बाहूबलि का दृष्टान्त

भरतचक्रवर्ती ने छही खण्डों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अपने ६८ भाइयों (बाहूबलि को छोड़ कर) को बुलाने के लिए दूत भेजा। दूत ने वहाँ जा कर कहा—"आप को भरत महाराजा बुलाते हैं।" यह सुन कर सभी भाई एकत्रित हो कर विचार करने लगे— भाई भरत इस समय लोभरूपी पिशाच से ग्रस्त हो कर सत्ता के मद मे मतवाले बने हुए है। ६ खंडो का राज्य मिलने पर भी इनका लोभ-तृष्णा शान्त नहीं हुई। अहो लोभान्धता कैसी होती है! कहा भी है कि—

> लोभमूलानि पापानि, रसमूलानि व्याधयः।
>
> स्नेहमूलानि दुःखानि, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भव ॥१॥

लोभ पाप का मूल है, रस (स्वाद) वृत्ति व्याधि का मूल है, और स्नेह (आसक्ति) दु.ख का मूल है। इसलिए तीनों को छोड़ कर सुखी हो जाओ।

> भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता।
>
> कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥२॥

"भोगो का हमने उपभोग नही किया, भोगों ने ही हमारा उपभोग (भक्षण) कर डाला है। हमने तप नही किया, तप ने ही हमे तप्त कर दिया, काल (वक्त) नही गया (कटा), हम ही चले गये (कट गए)। यानी हमारी उम्र ही बीत चली। और हमारी तृष्णा जीर्ण (बूढ़ी) नहीं हुई, हम ही जीर्ण (बूढे) हो गये।"

अर्थात्—'सम्पदाएँ जल की तरगों के समान चचल है; यौवन तीन-चार दिनो का है, आयुष्य शरदऋतु के बादल की तरह चंचल है, अतः धन बटोरने से क्या लाभ ? अनिन्द्य (ससार मे निर्दोष) धर्म की आराधना करो।

"इसलिये पुत्रो ! जमीन के टुकडे पर, सांसारिक वस्तुओ पर इतना मोह-विलास क्यो कर रहे हो ? किसका पुत्र ? किसका राज्य है ? और किसकी स्त्री है ? कोई भी साथ जाने वाला नही है।" कहा भी है—

द्रव्याणि तिष्ठन्ति गृहेषु नार्यो, विश्रामभूमौ स्वजना. श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो याति स एव जीवः ॥१॥

'मृत्यु हो जाने पर धन घर में ही पड़ा रहता है, नारी विश्राम भूमि तक जाती है, स्वजन श्मशान तक आते है और शरीर चिता मे रहता है, परलोक मे गमन करते समय जीवन अपने कर्मो को पीछे लिए हुए अकेला जाता है।'

"अतः इस भौतिक अनित्य राज्य को छोड़ो मैं तुम्हें एक अक्षय राज्य पाने का मार्ग बताता हू। उसे ग्रहण कर अक्षय मोक्षराज्य को प्राप्त करो।"

इस प्रकार प्रभु का उपदेश सुन कर सभी ने दीक्षा ग्रहण की और निर्दोष चारित्र पालन करने लगे। दूत ने आकर भरत चक्रवर्ती को ६८ भाइयों का सारा आँखो देखा हाल निवेदन कर दिया। सुनते ही चक्रवर्ती भरत ने साधु बने हुए अपने भाइयों ६८ भाइयों के पुत्रों को बुला कर उन्हें अपने-अपने हिस्से का राज्य सौप दिया।

इसके बाद भरतचक्री दिग्विजय करके जब अयोध्या मे आये तो

पहुंच गया। सुवेग को नया और अजनबी व्यक्ति देख कर वहाँ के निवासियों ने पूछा—"तुम कौन हो? कहाँ जा रहे हो? यहाँ किस प्रयोजन से आए हो?" दूत ने उत्तर दिया—"मैं भरत-चक्रवर्ती का सुवेग नाम का दूत हू और वाहूबलि को लेने आया हूँ।" तब लोगों ने आश्चर्यमुद्रा मे पूछा—"यह भरत कौन है?" सुवेगदूत ने कहा—"यह छह खण्ड का अधिपति जगत् का स्वामी है, वाहूवलि का वडा भाई है, और लोगों मे विख्यात है।" तब लोगो ने कहा—"इतने दिन तक तो हमने इसका नाम नही सुना। वह रहता कहाँ है? हमारे देश मे तो स्त्रियों के स्तन की काचली आदि के कपडों पर भरत (कसीदे) का काम होता है, इस अर्थ में जरूर भरत शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन भरत हमारा राजा है, ऐसा तो हमने नहीं सुना। कहाँ हमारा राजा और कहाँ भरत? हमारे स्वामी के भुजदण्ड के प्रहार को सहन मे इस जगत् में कोई भी समर्थ नही है।" लोगों के मुख से वाहूवलि के वल की प्रशंसा सुन कर दूत चकित होता हुआ, तक्षशिला आया और वाहूवलि के सभामंडप के निकट पहुचा। द्वारपाल को अपना परिचय दिया। द्वारपाल ने राजा से दूत के आगमन का निवेदन किया। राजा ने द्वारपाल को दूत को अन्दर वुला लाने की आज्ञा दी। सुवेगदूत रथ से उतर कर वाहूवलि के पास पहुचा और उनके चरणों में नमस्कार किया। वाहूवलि ने दूत से अपने भाई के सर्वकुशल समाचार पूछे। दूत ने कहा—'आपका भाई भरत सब प्रकार से कुशल है। अयोध्यापुरी कुशल-मंगलमय है। भरत के सवा करोड़ पुत्र भी कुशल है। उनके घर में चौदह रत्न, ६ निधान आदि महान् ऐश्वर्य सम्पत्ति है। अतः उन्हें अकुशल करने में कौन समर्थ है? यद्यपि उन्हें समस्त ऋद्धि-सम्पत्ति मिली है, फिर भी अपने भाई के दर्शन की उनकी महान् उत्कंठा है। इसी कारण

तत्काल दूर हो जा।" इस प्रकार बाहूबलि की लाल-लाल आंखे और सूर्यमंडल के समान उद्दीप्त मुख देख कर सुवेग दूत भयभीत हो कर अपना-सा मुंह लिए धीरे-२ वहा से बाहर निकला और नगरी में थोडा-सा घूम कर अपमानित स्थिति में ही रथ में बैठ कर अयोध्या की ओर चल पड़ा।

रास्ते में वह बहली (बाल्हीक=बलख) देश को देखता हुआ जा रहा था। उसने कई जगह लोगों को कानाफूसी करते हुए सुना—"अरे! यह भरत कौन है? जो हमारे स्वामी के साथ युद्ध करना चाहता है? हमें तो उसके सरीखा कोई मूर्ख नही दीखता, जो सोये हुये सिंह को जगा रहा है।" इस तरह लोगों के मुंह से भिन्न-भिन्न बातें सुन कर सुवेग आश्चर्य मे पड़ गया और विचार करने लगा—"सचमुच इस देश के निवासी शूरवीर, पराक्रमी, स्वाभिमानी और राजभक्त जान पड़ते है। वास्तव मे इनके स्वामी (राजा) के गुणों की ही प्रतिच्छाया इनमे दिखाई देती है। इन पर बाहूबलि का ही प्रभाव है, भरत का नहीं। भरत ने इन्हें बुला कर यह क्या किया? सचमुच उन्होंने अयोग्य किया है।"

इस प्रकार वहाँ के लोगों से शंकित, भीत और चिन्तित होता हुआ दूत कुछ दिनों मे अयोध्या पहुचा। भरत की राज्यसभा मे जा कर उसने सारा हाल निवेदन किया और अन्त मे कहा—"ज्यादा क्या कहू! आपका छोटा भाई आपको तृणवत् समझता है। इतने से आप समझ जाइए।" दूत से सारी बात सुन कर भरत चक्रवर्ती ने वहाँ से ससैन्य कूच किया। भरत की महासेना जब चलने लगी, तब दिशामंडल भी कम्पायमान होने लगा। उस सैन्य का स्वरूप बताते हैं—

मुंचन्त्येकेऽट्टहासान्निजपति कृतसम्मानमाद्यप्रसादे,

स्मृत्वा धावति मार्गे जितसमरभया' प्रौढिवन्तो हि भक्त्या ॥

अर्थात्—"कई सुभट रणभूमि मे हताहत होने से जीवशेष हो-कर लुढ़क गए हैं, कोई मूर्छित हो गए हैं, कितने ही योद्धा होश मे आ कर पुन' मूर्छित हो जाते है, कई सुभट खिलखिला कर हंस रहे हैं, और कई योद्धा अपने स्वामी द्वारा दिये गये सम्मान और पूर्व-प्रदत्त प्रसाद को याद करके युद्ध के भय को छोड़ कर भक्ति से ढीठ वन कर युद्ध के मार्ग मे भागदौड़ कर रहे है।" इस तरह इस घोर युद्ध मे कितने ही योद्धा हाथियों के झुंड को पैरो से पकड़कर आकाश मे घुमाने लगे। कई उछलते हुए योद्धाओ को पकड कर भूमि पर गिराते थे। कई सिंहनाद करते थे और कई हाथों को जोर से फटकार कर वैरियो के हृदय को फाड़ रहे थे। यो योद्धागण अपने स्वामी की भ्रुकुटि के इशारे पर उत्तेजित हो कर जोरों से युद्ध करने लगे। कहा है कि—

राजा तुष्टोपि भृत्याना, मानमात्रं प्रयच्छति।

ते तु सन्मानमात्रेण, प्राणैरप्युपकुर्वते ॥

राजा खुश होने पर सेवक को केवल सम्मान देता है, परन्तु सेवक केवल उस सम्मान का बदला अपने प्राणों को दे कर देता है।

युद्ध मे एक मित्र दूसरे मित्र से कहता है—'मित्र! डरपोक मत वन, क्योंकि युद्ध मे दोनों प्रकार से सुख मिलेगा। अगर जीते रहे तो इस लोक का सुख मिलेगा और मर गए तो परलोक मे देवागनाओं (देवियो) के आलिंगन का सुख मिलेगा। कहा भी है—

जिते च लभ्यते लक्ष्मीमृते चाऽपि सुरागना।

क्षणविध्वसिनी काया, का चिंता मरणे रणे ॥

ने कहा—'पिता के तुल्य अपने बड़े भाई के साथ तुम जो युद्ध कर रहे हो; क्या यह तुम्हें ठीक लगता है ?' मेरी यह नम्र राय है कि तुम उसके पास जा कर नमस्कार करके अपराध की क्षमा मांगो और इस नरसंहार से निवृत्त हो ।'

बाहूबलि ने कहा—"इन्द्र ! इसमे दोष मेरा नहीं, परन्तु भरत का है । उसे यहाँ सेना ले कर किसने बुलाया था ? वह यहाँ युद्ध के सिवाय और किस लिये आया है ? वह राज्य का भूखा है । उसे लज्जा नही आती कि अपने ९८ छोटे भाइयों का राज्य हड़प कर अब मेरा राज्य छीनने के लिए यहा आया है । परन्तु उसे पता नही है कि सभी विलों मे चूहे नही रहते, किसी मे सर्प भी रहता है । अतः मैं उससे किसी कदर अब पीछे हटने वाला नहीं । मानहानि से प्राणहानि श्रेष्ठ है । कहा भी है—

अधमा धन मिच्छति, धनमानौ च मध्यमा ।
उत्तमा मानमिच्छति, मानो हि महता धनम् ॥

'अधम मनुष्य धन की इच्छा करता है, मध्यम मनुष्य धन और सम्मान की और उत्तम मनुष्य सिर्फ सम्मान की ही इच्छा करता है । क्योंकि सम्मान ही महान् पुरुषों का धन है । और भी कहा है—

वरं प्राणपरित्यागो, ना मानपरिखंडनम् ।
मृत्युतस्तत्क्षणिका पीडा, मानखडे दिने-दिने ॥

'प्राणत्याग कर देना अच्छा, परन्तु मानखण्डन होने देना अच्छा नहीं । मृत्यु तो उसी समय पीडा देती है, मगर मानहानि प्रतिदिन पीड़ा देती रहती है ।'

इस तरह बाहूबलि के निश्चय वचन सुन कर इन्द्र ने कहा—

वाहूवलि ने अपने सिर के केशों का पंचमुष्टि लोच कर लिया। देव ने उन्हें रजोहरण आदि मुनिवेष दिया। इस प्रकार वाहूवलि स्वयं चारित्र अंगीकार करके मुनि वन गए। भरत ने जव यह सुना और मुनिवेष मे अपने भाई को देखा तो वह अपने अकृत्य से लज्जित हो कर पश्चात्ताप करने लगा। उसकी आखों में आंसू उमड़ पड़े और वाहूवलि मुनि के पास आ कर अश्रुपात करते हुए उसने सपश्चात्ताप विनम्र निवेदन किया—"मुनिवर! धन्य है आपको! आपने मुनि वेष धारण कर लिया। धिक्कार है मुझे कि मैंने आपको अपने स्वार्थ-वश बहुत हैरान किया। मेरा सव अपराध क्षमा करें और यह राज्य-लक्ष्मी ग्रहण करें।" वाहूवलिमुनि वोले—"भरतजी! यह राज्य, वैभव, भोग-विलास आदि सभी अनित्य है! यौवन भी टिकने वाला नहीं। शरीर भी नाशवान है और ये विषय वार-वार दुःख देने वाले है। तव भला मै नाशवान और अस्थायी राज्यलक्ष्मी तथा उससे सम्वन्धित विषयभोगों को कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? मैं तो आपसे भी यही कहता हू कि आप इनसे आसक्त न हों।" यह उपदेश सुन कर भरतचक्रवर्ती को भी कुछ-कुछ विरक्ति हो चली। भरत उन्हें वन्दना करके और वाहूवलि का राज्य उनके पुत्र सोमयश को दे कर अपने स्थान पर लौटे। वाहूवलि अकेले उसी स्थान पर ध्यानमुद्रा मे खडे रहे। उस समय वाहूवलि के मन मे विचार आया—'मुझे भ० ऋषभदेव के पास जाने की क्या जरूरत है? क्या मै स्वयं अपनी साधना नही कर सकता? अगर वहां गया तो अपने से छोटे भाइयों—जो भ० ऋषभदेव के पास मुझसे पूर्व दीक्षित हैं—को वन्दन करना पडेगा। न वावा, यह मुझसे नही होगा। मै तो अकेला ही कठोरतम साधना करके केवलज्ञान प्राप्त करके वता दूंगा।" इस अभिमान को अपने में समाए हुए वाहूवलि ने एक साल तक शर्दी, गर्मी, वर्षा, तूफानी ठडी-गर्म हवाएँ आदि परिषह सहे। आग से

इस कथा का सारांश यह है कि अभिमान से धर्म नहीं होता। धर्म होता है सरलता से। इसलिए यह कथन उचित ही है कि मोक्ष-सुख के अभिलाषी मुमुक्षुजीव को धर्म-कार्य मे विनय करना चाहिए, अहंकार नहीं।

अब अपनी स्वच्छन्दबुद्धि से चलने वाले अभिमानी की दशा बताते है—

निअगमइविगप्पिअ-चिंतिएण सच्छंदबुद्धिरइएण।

कत्तो पारत्तहियं, कीरइ गुरु-अणुवएसेण ॥२६॥

शब्दार्थ—'गुरु के उपदेश को अयोग्य समझने वाला, अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पना करके विचरने वाला और स्वतन्त्र बुद्धि से चेष्टा करने वाला जीव अपना पारलौकिक हित कैसे कर सकता है?'

भावार्थ—'भारी कर्मों के कारण जो जीव गुरुमहाराज के उपदेश को अयोग्य समझता है, आगम, पूर्वाचार्य आदि के विचारों को निरर्थक समझ कर छोड़ देता है और बौद्धिक कल्पना से विचार करता है तथा अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से आचरण करता है. उस मनुष्य का परलोक में हित कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता।'

थद्धो निरोवयारी अविणीओ गव्विओ निरुवणामो।

साहुजणस्स गरहिओ, जणे वि वयणिज्जयं लहइ ॥२७॥

शब्दार्थ—'स्तब्ध (अक्खड़), निरुपकारी, अविनीत, गर्वित, किसी के सामने नमन न करने वाला पुरुष, साधुजनों द्वारा निन्दित है और आम जनता मे भी वह निन्दनीयता पाता है।'

भावार्थ—'अक्कड़पन मे रहने वाला अभिमानी, किसी के द्वारा किये गए उपकार को न मानने वाला कृतघ्न, अपने से बड़े, पूज्य,

चक्रवर्ती ने पूछा—"सिर क्यों हिला रहे हो ?" उन्होंने कहा—'आपके रूप की तारीफ सुन कर बहुत ही दूर से हम आपके दर्शनों को आए थे। और जैसा हमने सुना था, वैसा ही पाया।' ब्राह्मणों के वचन सुन कर चक्री रूपगर्वित हो कर बोला—"अजी ! इस समय इस अवस्था में मेरा रूप क्या देख रहे हैं ? जब मैं स्नान करके उत्तम वस्त्र पहन कर अलंकार आदि से सज्जित हो कर, मस्तक पर छत्र धारण करके सिंहासन पर बैठूंगा और लोग चामर ढोल रहे होंगे और बत्तीस हजार राजा मेरी सेवा करते होंगे. तब देखना मेरा रूप ! अभी मेरे रूप का क्या देखना ?" चक्री के वचन सुन कर दोनों देवों ने विचार किया—'उत्तम पुरुष को अपने मुख से अपनी प्रशसा करना उचित नहीं है।' कहा भी है—

न सौख्यसौभाग्यकरा नृणां गुणा , स्वयंगृहीता युवतीकुचा इव ।
परैर्गृहीता द्वितयं वितन्वते, न तेन गृह्णन्ति निज गुणं बुधाः ॥

अर्थात्—अपने मुंह से बखाने हुए गुण उसी तरह सुख और सौभाग्य देने वाले नहीं होते; जिस तरह युवती द्वारा स्वय गृहीत स्तन उसे सुख और सौभाग्य नहीं देते। अपितु ये दोनों दूसरे पुरुष के करने से सौभाग्य और सुख देते है। अत बुद्धिमान पुरुष अपने गुणों की प्रशसा अपने मुख से नहीं करते।'

सनत्कुमार की बात सुन कर फिर आने का वादा करके वे दोनो ब्राह्मणरूपधारी देव वहाँ से चले गये। जब चक्री स्नान-विलेपन कर वस्त्र-आभूषण धारण करके राजसभा मे आ कर सिंहासन पर बैठे, तब वे ब्राह्मण वापस आये। उस समय चक्री का रूप देख कर उन्हें बहुत दु ख हुआ। चक्री ने पूछा—"खेद किस लिये कर रहे हो ?" उन्होंने कहा—"संसार की विचित्रता देख कर हमे खेद होता है।" चक्री ने पूछा—सो किस तरह का ?" उन्होंने कहा—"हमने

प्राणी के लिए उपकारक नहीं होती ? मगर मनुष्य का शरीर किसी के किसी भी काम मे नहीं आता।'

इस तरह वैराग्यपरायण हो कर सनत्कुमार चक्रवर्ती ने राज्यलक्ष्मी छोड़ कर सयमरूपी लक्ष्मी को अंगीकार किया। जैसे सर्प कांचली छोड़ कर वापिस मुड़ कर उसे देखता भी नहीं, वैसे ही चक्री ने अपनी ऋद्धि को नहीं देखा। स्त्रीरत्न सुनंदा आदि रानियों का विलाप सुन कर भी मन से जरा भी चलायमान नहीं हुआ। छह महीने तक सनत्कुमार मुनि के पीछे-पीछे चौदह रत्न, नौ निधि, सेना, सेवक आदि चलते रहे, परन्तु उन्होने उनकी ओर देखा तक नहीं। सनत्कुमार मुनि दो-दो उपवास के अनन्तर पारणा करते थे। पारणे मे भी आंबिल आदि तप करते थे। इस तरह विगई (विकृतिजनक पदार्थ) का त्याग करके धर्म के प्रति अनुराग रख कर सब रोगों से पीड़ित काया होने पर भी वे मुनि मायारहित हो कर भूमंडल विचरण करने लगे। उस समय सौधर्म इन्द्र ने अपनी सभा में फिर उस मुनि की प्रशंसा की—"धन्य है सनत्कुमार मुनि को! यद्यपि उनका शरीर महान् रोगों से पीड़ित है, फिर भी औषध आदि की इच्छा नहीं करते।" इन्द्र के वचन सुन कर अश्रद्धावान दो देव फिर ब्राह्मण का रूप धारण करके मर्त्यलोक मे आये, और सनत्कुमार मुनि के पास आ कर बोले—"मुनिवर! आपका शरीर रोगो से जीर्ण हो गया है और अतीव पीड़ित दीखता है। हम वैद्य है, आप यदि आज्ञा दें तो हम आपका इलाज करें।" मुनि बोले— "यह शरीर अनित्य है; इसका उपाय किसलिये किया जाय ? तुम्हारे पास रोग दूर करने की शक्ति है तो कर्मरोग को दूर करो। शरीर के रोग दूर करने की शक्ति तो मेरे पास भी है।" इतना कह कर अपनी अंगली पर उन्होंने अपना थूक लगा कर दिखाया, जिससे उनकी अंगुली सोने सी हो गई। फिर उन्होने कहा—

अर्थात्—'उल्लू दिन मे नही देखता। कौआ रात को नही देखता। परन्तु कामान्ध तो अपूर्व अधा है, जो दिन देखता है न रात। इसीलिए कामवासना मे मदान्ध रानी से ऊब कर भर्तृहरि योगी ने निम्नोक्त उद्गार प्रगट किए—

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽयन्यमिच्छति जनं, स जनोऽन्यसक्त ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥

"जिस स्त्री को मैं चाहता हूं, वह स्त्री मुझ से खुश नही है, वह किसी अन्य पुरुष को चाहती है। और जिस पुरुष को वह चाहती है, वह पुरुष अन्य स्त्री में आसक्त है। और जिस पर वह आसक्त है, वह स्त्री मुझे चाहती है। इसलिए उसे (रानी को) धिक्कार है, उसके यार को धिक्कार है, काम को धिक्कार है और मुझे भी धिक्कार है।"

किन्तु पाप का घड़ा फूटे विना नही रहता। बहुत दिनों के बाद उन दोनों के अनाचार का वह पाप कोढ़ की तरह फूट निकला। राजा को उनके दुराचार का पता चल गया। उसे बड़ा क्रोध आया। सोचा—'इस दुष्ट पापात्मा ने अत्यन्त नीच कर्म किया है। इसने अपने हाथों से मौत बुलाई है। इसके पाप का फल इसे चखाना चाहिये। यह बुद्धिमान है तो क्या हुआ? ऐसे नीच कर्म करने वाले की उपेक्षा बिलकुल नही की जा सकती।" कहा भी है—

लूणह घूणह कुमाणसह, ए त्रिहुं इक्कसहाओ।
जिहा जिहा करे निवासडो, तिहां तिहां फेडे ठांओ॥

अर्थात—'लून' (दीवार में जो जीव लग जाता है) घुन (लकड़ी

स्वीकार करें तो मैं आपको न मार कर अपने घर में छिपा कर रख सकूंगा, अन्यथा मैं राजाज्ञा के उल्लंघन का खतरा मोल नहीं ले सकता ।"

नमूचि ने चाण्डाल को बात मान लो। चाण्डाल ने उसे घर पर, ला कर राजा के भय से गुप्तरूप से तलघर मे रखा। नमूचि वहाँ रह कर चित्र और सम्भूति को पढ़ाने लगा। दोनो तीव्र बुद्धि वाले थे। इसलिए थोड़े ही समय मे समस्त शास्त्रों मे पारगत हो गए। लेकिन नमूचि की कामान्धता यहाँ भी न गई। अपनी दुष्ट आदत के अनुसार यहाँ भी चित्र और सम्भूति की माता को अपने मोह-जाल मे फसा कर उसके साथ दुराचार करने लगा। सच है; कामान्ध पुरुष का स्वभाव छूटना बहुत कठिन होता है, भले ही वह बहुत ही विकट परिस्थिति मे हो। कहा भी है—

कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलो ।
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनु ॥
क्षुधाक्रान्तो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः ।
शुनीमन्वेति श्वाह तमपि च हन्त्येव मदनः ॥

अर्थात्—जो शरीर से दुर्लभ है, काना है, लंगड़ा है, बहरा है, पूंछ से विकल है, जिसके घावों से मवाद झर रहा है, जिसके शरीर मे सैकड़ो कीड़े पड़ गए है, जो भूख से व्याकुल है, शरीर बुढ़ापे से लड़खडा रहा है, और जिसके गले मे ठीकरा डाला हुआ है, ऐसा कुत्ता भी कुतिया को देखते ही उसके पीछे लग जाता है। अफसोस है, कामवासना मरे हुए को ही मारती है।" अत काम का स्वभाव दुस्त्यज है।

पाप छिपा नही रहता। चाण्डाल को जब इस बात का पता

हम आपको छोड़ देते है; बशर्ते कि आप इस नगर को छोड़ कर दूर चले जांय।" नमूचि भयभीत हो कर वहाँ से चल पड़ा और कुछ ही दिनों मे हस्तिनापुर जा पहुचा। वहाँ सनत्कुमार चक्रवर्ती का सेवक बन कर रहने लगा।

चित्र और सम्भूति सगीतकला में अत्यन्त प्रवीण हो गए थे। वे हाथ मे वीणा ले कर नगर के चौराहो पर प्रतिदिन गीत गाया करते। उनकी कण्ठकला से मुग्ध हो कर वहाँ लोगों की भीड जमा होने लगी। जिन्होंने कभी घर से बाहर कदम नही रखा था, वे युवतियाँ भी इनके गीतों से आकृष्ट हो कर सुनने के लिए लज्जा छोड कर आने लगीं। उनके गीतो मे इतना जादू था कि कई शृंगार किया न किया, जैसी स्थिति में थी वैसी स्थिति मे भाग आई। कई ललनाओं ने एक पैर मे ही महावर लगाया था, किसी ने एक आँख मे अंजन डाला था, किसी के सिर पर से कपड़ा हवा से खिसक गया था, किसी स्त्री ने एक स्तन पर ही कांचली पहनी हुई थी, कोई अपना बच्चा छोड़ कर जल्दी मे दूसरे के बच्चे को अपना समझ कर गोद मे उठा कर चल पड़ी। कई तो अपने पति के सामने कोई न कोई बहाना बना कर वहाँ चली आती। कई महिलाएँ भोजन की थाली छोड़ कर अधभूखी ही उठ कर गायन का आनन्द लूटने चल पड़तीं। कई कामिनियाँ झटपट गाय दुहने का काम निपटाने के लिए उतावली मे गाय के अंचल के पास बछडे के बदले बैलगाड़ी को ला कर लगा देतीं। कई स्त्रियाँ अपने पति की अनुमति की प्रतीक्षा मे उसके सामने ऊँचा मुंह किए खडी हो जाती। मतलब यह है कि संगीत से मोहित हो कर कामिनिया घर के सभी कार्य छोड़ कर वहाँ पहुच जातीं। सचमुच संगीत के शब्दो की परवशता ऐसी ही होती है। कहा है—

अत. अब तो इस अपमानित जीवन का अन्त कर डालना चाहिए।" ऐसा विचार कर वे एक पर्वत पर झंपापात करने के लिये चढ़े, और दोनों हाथ से ताली बजा कर नीचे गिरने की तैयारी मे ही थे कि अकस्मात् निकटवर्ती एक गुफा मे तपस्या करने वाले किसी साधु ने उन्हे देखा और वही से कहा—"भाई! यों मत गिरो। यह मानव जीवन यो ही नष्ट करने के लिए नही है। मैं तुम्हे आश्रय दूंगा।" साधु के तीन-चार बार दोहराये हुए अमृतोपम वचन सुनकर आश्चय-चकित हो कर आँखें फाड कर वे इधर-उधर देखने लगे कि—"इस जगत् मे हम पददलितों और पतितो का कौन सहायक और नाथ है, जो हमें पर्वत से गिर कर जीवन नष्ट करने के लिए मना कर रहा है?" सहसा उनकी आँख गुफा मे तपोलीन एक वात्सल्यमूर्ति साधु पर पड़ी। वे तुरत मुनि के पास दौड़ कर पहुचे। मुनि ने उनसे पूछा—"वत्स! तुम्हे ऐसा कौन-सा दु ख है कि असमय मे ही अपने जीवन को यो नष्ट कर रहे हो?" उन्होंने अपनी सारी आपबीती सुनाई। साधु ने स्नेहपूर्वक कहा—"अगर धर्माचरण नही तो केवल कुल से क्या सिद्धि हो सकती है? और इस तरह अज्ञान-मरण से भी क्या लाभ मिलता? इस मृत्यु से तुम्हारा दुःख कम नही होता। अत श्री जिनेश्वर भगवान् के द्वारा भाषित धर्म की आराधना करो, जिससे इस लोक मे और परलोक से तुम्हारे कार्य की सिद्धि हो, तुम्हे जीवन का वास्तविक आनन्द मिले।" इस तरह तपोधनी साधु का उपदेश सुनने से उन्हे विरक्ति हो गई। उन्होने मुनि से चारित्र स्वीकार किया, तथा निरतिचार अतिदुष्कर तप करने लगे, उग्र विहार करने लगे। एक बार वे दोनों मुनि अपने मासक्षमण (एक महीने के उपवास) के दौरान एक गॉव से दूसरे गॉव विहार करते हुए हस्तिनापुर पहुचे। वहाँ नगर के बाहर एक उद्यान मे ठहरे।

शान्तिमय वचन सुनाये। शान्तवचनों की अमृतधारा से सम्भूति-मुनि शान्त हुए। उनका क्रोध अब शान्त हो चुका था। सनत्कुमार ने नमूचि मंत्री की करतूत जान कर उसे रस्सियों से बंधवाया और मुनि के चरणों में गिराया। फिर चक्री ने पूछा—"मुनिवर! आप आज्ञा दीजिये कि इस नमूचि को क्या दण्ड दिया जाय?" दोनों मुनियों ने कहा—"हमारा किसी के साथ वैरभाव नहीं है।" सनत्कुमार ने नमूचि को देशनिकाला दे दिया। बाद मे दोनों मुनियों ने आत्मालोचन किया—'अहो! क्रोधावेप मे मनुष्य सब कुछ भूल जाता है। उसकी सद्‌बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। सचमुच क्रोध महान् अनर्थ करने वाला है।' कहा है कि—

ज अज्जिय चरित्त देसूणाए य पुव्वकोडीए।
तपि अ कसायमित्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेण॥

अर्थात्—'एक करोड पूर्व वर्षो से कुछ ही कम समय तक चारित्र-रत्न अर्जित किया हो, उसे कपाय को मित्र बना कर मनुष्य एक मुहूर्त मे हार जाता है। अर्थात्-एक मुहूर्त भर का कषाय एक करोड़ पूर्व तक पाले हुए चारित्र को नष्ट कर डालता है।' और भी कहा है—

कोह पइठ्ठो देहघरि, तिन्नि विकार करेह।
आपो तावे पर तवे परतह हाणि करेह॥२॥

अर्थात्—'शरीररूपी घर मे क्रोध प्रविष्ट हो कर तीन विकार पैदा करता है—(१) अपने आपको तपाता है (२) दूसरे को तपाता है और (३) दूसरे के साथ स्नेह को खत्म कर देता है।"

"इसलिये उस क्रोध के आश्रयभूत इस शरीर का ही क्यों न त्याग कर दिया जाय? अवगुणों के निवासस्थान इस शरीर को

जीव नियाणा के प्रभाव से कांपिल्यपुर नगर मे ब्रह्मदत्त नाम का वारहवॉ चक्रवर्ती हुआ। [इसका उत्पत्ति-स्वरूप बाद मे कहेगे] इस चक्री ने क्रमश. से छह खण्डों पर विजय प्राप्त किया। एक दिन ब्रह्मदत्त चक्री राजासभा मे वैठा था। उस समय एक फूल का गुच्छा देखते ही उसे जातिस्मरण (पूर्वजन्म का) ज्ञान हुआ। पूर्वजन्म को नलिनीगुल्म विमान का दृश्य उसके सामने स्पष्ट हो गया। साथ ही पाच जन्मो का भी उसे स्मरण आया। इससे मन मे विचार करने लगा—'जिसके साथ पांच जन्मों का सम्वंध था, वह प्रियभ्राता कहॉं मिलेगा ? कहॉ गया होगा ? उसको मिलने के लिये चक्रवर्ती ने आधी गाथा (श्लोक) वनाई वह इस प्रकार थी—

"अश्वदासौ मृगौ हंसौ मातगावमरौ तथा।"

इसका भावार्थ यह था कि "सर्वप्रथम हम दोनों घोडे के दास थे, बाद मे दोनो मृग हुए, उसके बाद दोनों हंस हुए, तत्पश्चात् चाण्डालपुत्र वने और फिर देव हुए।" जो इस गाथा को पूर्ण करेगा उसे मै समझ लूंगा कि निश्चिय ही मेरा भाई है। दूसरा कोई भी इस गाथा को पूर्ण नही कर सकता।" ऐसा निश्चित कर नगर में घोषणा करवाई कि जो इस गाथा का उत्तरार्ध पूर्ण करेगा, मै उसका मनोवांछित पूर्ण करूगा।" कई मनुष्यों ने इस गाथा को पढ़ा, परन्तु कोई भी इस समस्या को पूर्ण नही कर सका। इस तरह वहुत दिन व्यतीत हो गये।

इधर पुरिमताल नगर मे सेठ के यहॉ उत्पन्न हुए चित्र के जीव ने समय पा कर संसार से विरक्त हो कर एक मुनिवर से चारित्र अंगीकार किया। उसे भी जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उसने भी सम्भूति के जीव के साथ पांच जन्म का सम्वन्व जान कर मन में विचार किया कि 'मेरे भाई ने नियाणा किया था, इसलिये वह भिन्न कुल

नरक का मेहमान बनना पड़ेगा।" पूर्वजन्म के साथी मुनिभ्राता के वचन सुन कर चक्री बोला—"बन्धु! मोक्षसुख किसने देखा है? यह विषय आदि सुख तो प्रत्यक्ष है। इसलिये भाई! तुम भी मेरे घर चलो और वहाँ मैं तुम्हारे लिए देवसुख के साधन जुटा दूंगा। सांसारिक सुख का अनुभव करो। इस सिर मुंडाने में क्या विशेषता है? घर-घर भीख मांगना शोभा नही देता। अतः पधारो, पहले अच्छी तरह से भोगों का सुखभोग कर लो। बाद मे संयम अंगीकार कर लेना।" ब्रह्मदत्त के ये वचन सुन कर मुनि ने कहा—"भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो राख के लिये चन्दन को जलाए, कौन ऐसा मूढ़ होगा, जो जीने के लिये कालकूट विष खाए? कौन नीच मनुष्य लोहे की कील के लिये सवारी को तोड़ेगा? कौन धागे के लिये मोती का हार तोड़ेगा? कोई भी समझदार ऐसा कार्य नहीं करता। इसलिये हे भाई! अब प्रतिबोध प्राप्त करो" इस तरह ब्रह्मदत्त ने भाई के वचन अनेक बार सुने, फिर भी उसे वैराग्य नही हुआ। अन्तन्तोगत्वा, यह दुर्बुद्धि वाला है, इसे बोध नहीं लग सकता, ऐसा जान कर चित्रमुनि ने भाई से अनुमति ले कर अन्यत्र विहार किया और ब्रह्मदत्त अपने घर में ही रहा। अनेक पापाचरण करने लगा। चित्रमुनि चिरकाल तक साधुजीवन की आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के अधिकारी बने, और ब्रह्मदत्त के द्वारा पूर्वभव मे नियाणा करने से वह धर्मप्राप्ति से वञ्चित हो कर अनेक पापकर्म उपार्जित करके सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर सातवी नरक का अधिकारी बना।

इसी तरह जो मनुष्य गुरुकर्मा होते हैं, उन्हे प्रतिबोध नहीं लगता। अत. सुलभबोधि होना अति दुर्लभ है। यही इस कथा का तात्पर्य है।

व्यतीत हो गये। एक बार चतुर्दशी के दिन गुरु महाराज उदायी की पौषधशाला में जा रहे थे, उस समय उस कपटी साधु ने कहा—'गुरुदेव आपकी आज्ञा हो तो मैं भी साथ चलूं?' भवितव्यता के कारण गुरु महाराज ने कहा—"अच्छा, चलो।" बस, फिर क्या था? वह गुरुदेव के साथ पौषधशाला में आया और दंभ से सथारे (आसन) पर बैठा। उदायी राजा ने गुरु को वन्दन किया, प्रतिक्रमण किया और बाद में संथारा पौरसी पढ़ कर शयन किया। जब राजा और आचार्य दोनों निद्राधीन हो गये, तब उस दुष्ट कुशिष्य ने उठ कर पास में गुप्तरूप से रखी हुई कंकजातीय लोहे की छुरी निकाली और राजा के गले पर फेर दी। राजा तत्काल मर गया। वह कुशिष्य छुरी वहीं रख कर भाग गया। बाहर खडे हुए राज-सेवको (सिपाहियों) ने साधु जान कर उसे नहीं रोका। इधर राजा के शरीर से इतना खून निकला कि वह गुरु के संथारे तक आ गया। उसके स्पर्श से गुरुमहाराज जागे और विचार करने लगे, कि 'यह क्या हुआ? मेरे पास जो शिष्य था वह नही दीखता? हो न हो, वही कुशिष्य राजा को मार कर भाग गया है।" यों विचार कर उन्होंने चिन्तन किया—'यह तो महान अनर्थ हो गया। प्रात काल राजा को मृत देख कर लोग कहेंगे—'जैन मुनि इस प्रकार का कुकर्म करते हैं।' इस तरह जैनधर्म की महानिंदा होगी। अतः इस निंदा के निवारण का सच्चा उपाय यही है कि मैं भी अपनी इस महान् भूल (एक अयोग्य को दीक्षा देने की) का प्रायश्चित्त करूं।" अतः आचार्य ने तुरत वही छुरी ले कर अपने गले पर फेर ली। और समाधिपूर्वक थोड़ी ही देर मे अपना शरीर छोड़ दिया। आचार्य और राजा दोनों मर कर देव बने।

इसी तरह दूसरे भी अभव्य या दुर्भव्य आदि जीव को बहुत उपदेश से भी प्रतिबोध प्राप्त नहीं होता। वह दुष्टकर्म करने वाला

भावार्थ—'कई जीवों के पापकर्म ऐसे प्रवल होते हैं कि अपने मुख से दूसरे के सामने कहना भी अतिलज्जास्पद होता है। एक पुरुष ने समवसरण में आ कर भगवान् से पूछा—'(जा सा) वह स्त्री मेरी वहन है ?' भगवान् ने कहा—"(सा सा) अर्थात वही स्त्री तेरी वहन है।" यहाँ नीचे 'जा सा, सा सा' का दृष्टान्त दे रहे है—

'जासा सासा' का दृष्टान्त

वसंतपुर नगर मे अनंगसेन नाम का एक सुनार रहता था। वह अत्यन्त स्त्रीलंपट था। उस सुनार ने पॉच सौ स्त्रियों से शादी की थी। वे स्त्रियॉ वहुत रूपवती थीं। अनंगसेन उन्हे कभी वाहर जाने नहीं देता था, जवर्दस्ती उन्हे घर मे ही वन्द रखता था। एक दिन वह सुनार अपने मित्र के यहॉ भोजन करने गया। उस समय सभी स्त्रियों ने विचार किया—"आज सुअवसर मिला है, अपना मनचाहा करने का।" सभी ने एकमत हो कर स्नान, विलेपन, आभूषण, काजल, सिंदूर, तिलक आदि धारण कर अपने हाथ मे शीशा लिया और वड़े गौर से अपना रूप निहारने लगी। साथ ही वे परस्पर हंसने, तमाशा करने, गीत गाने और खेलने लगी। क्योंकि हमेशा तो उनमे से जिसकी वारी होती, उसी को वह सुनार (पति) आभूषण आदि शृंगार करने देता था, अन्य को नही। इसलिये आज अपनी इच्छा के अनुसार उन सवने मनमानी क्रीड़ा करनी शुरू की। इतने मे ही सोनी अपने घर आया। उसने अपनी स्त्रियों की यह चेष्टा देखी तो उनमे से एक स्त्री को पकड़ कर उसके मर्मस्थान पर दे मारा। इससे वह तत्काल मर गई। यह देख अन्य स्त्रियों ने सोचा—'इसने एक को कुमौत मारा है, शायद दूसरों को भी मारे। अत क्यों न हम सव मिल कर इसी

लोलुपता इतनी बढ़ी हुई थी कि उसे पाच सौ पुरुषों से भी संतोष नहीं होता था। स्त्रियों की कामलोलुपता कैसी है? कहा है कि—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठौघैनापगाभिर्महोदधि ।
नान्तकः सर्वभूतेभ्यो, न पुंभिर्वामलोचना ॥

अर्थात्—इन्धनों के ढेर से अग्नि तृप्त (शान्त) नहीं होती; नदियों (के पानी) से समुद्र तृप्त नहीं होता, सर्व-जीवों से यमराज तृप्त नहीं होता और पुरुषों से कामिनी तृप्त नहीं होती है। और भी कहा है—

नागरजातिरदुष्टा, शीतो वह्निनिरामयः कायः ।
स्वादु च सागरसलिलं, स्त्रीषु सतीत्वं न सभवति ॥

अर्थात्—'नगर जाति में अदुष्टता, अग्नि मे शीतलता, काया में निरोगता, समुद्रजल मे मिठास और स्त्रियों मे सतीत्व रहना सम्भव नही है।'

एक दिन चोरों ने विचार किया—"यह अकेली स्त्री हम पांच सौ पुरुषों के सहवास से दु खी होती है, इसलिये एक और स्त्री को ले आवे।" इस प्रकार उस पर दया ला कर वे एक दूसरी स्त्री ले आये। नई स्त्री को देख पहले की स्त्री ने विचार किया—"अहो! मेरे होते हुए भी ये दूसरी स्त्री ले आये है, यह मेरे विषयसुख मे हिस्सेदार हो कर मेरे विषयसुख मे रुकावट डालेगी।" यह सोच कर उस दुष्टा ने एक दिन उस नई स्त्री को कुंए मे गिरा दी; कुंए मे पड़ते ही वह स्त्री मर गई। पल्लीपति को इस बात का पता लगा तो उसने विचार किया—"अहो! यह तो बनी-बनाई कामरूपी महाग्नि है और महापापिनी है, यह तीव्र कामराग वाली कही मेरी बहन तो नहीं है?" अपने इस संशय को मिटाने के लिये पल्ली-

साध्वी को पाँचवा ज्ञान-श्री केवलज्ञान प्रगट हुआ। अतः विनय ही सर्वगुणों का निवासस्थान है।'

यहाँ प्रसंगवश मृगावती की कथा दी जाती है—

मृगावती का दृष्टांत

कौशाम्बी नगरी मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। उस समय सभी सुर, असुर, इन्द्र, करोड़ों देवताओं के सहित उन्हे वंदन करने के लिये आए। उस समय सूर्य और चन्द्र भी अपना मूलविमान ले कर वहाँ आये। उस समय आर्या चन्दनवाला साध्वी भी साध्वी मृगावती आदि को साथ लेकर वदनार्थ वहां आई। आर्या चन्दनवाला आदि साध्वियाँ तो प्रभु को वंदन कर वापस अपने उपाश्रय आ गई। परन्तु साध्वी मृगावती सूर्य के प्रकाश के कारण दिन जान कर समवसरण में वैठी रही। यानी संध्याकाल हो गया था, तो भी दिन के उजेले की तरह सूर्य के प्रकाश के कारण वह नहीं जान सकी। काफी रात वीत गई थी। सभी लोग भगवान् को वंदन कर अपने घर चले गये। परन्तु मृगावती को वहुत रात होने पर भी मालूम नही हुआ। जव सूर्य और चन्द्र अपने-अपने मूलविमान में चढ़ कर अपने स्थान को लौट गये, तव समवसरण-भूमि पर अंधकार फैल गया। एकदम अन्धकार फैला देख मृगावती हक्कीवक्की हो गई। रात्रि काफी हो गई थी, इसलिए तुरंत वहाँ से उठ कर नगर मे जहाँ साध्वियों का उपाश्रय था, वहाँ आई। आते ही वह भयभीत-सी आर्या चन्दनवालाजी के पास पहुची। उस समय आर्याचन्दना साध्वी प्रतिक्रमण करके संथारा पोरसी पढ़ा कर संथारे (शयनासन) पर वैठी मन मे विचार कर रही थी कि—"मृगावती कहाँ रह गई? इतनी रात चली गई, फिर भी वह नही आई। कहाँ चली गई?" इतने में ही मृगावती को सामने खड़ी देख कर उसकी

किसने उठाया ? मृगावती ने कहा—"स्वामिनि ! मेरा अपराध क्षमा करें। आपका हाथ मैंने ही उठा कर शय्या पर रखा था।" चंदनबाला—"साध्वी ! क्या कारण था, मेरे हाथ को उठा कर शय्या पर रखने का ?" मृगावती—"गुरुणीजी ! एक सांप शय्या के नीचे लटकते हुए आपके हाथ के पास से हो कर जा रहा था, इसलिए मैंने आपका हाथ हटा दिया था।" चदनबाला—"ऐसे घने अंधेरे में तुम्हें सांप का पता कैसे चला ? क्या कोई अतिशयी ज्ञान तुम्हे हुआ है ?" मृगावती—जी हाँ, गुरुणीजी ! आपकी कृपा से ऐसा ही हुआ है !" चन्दनबाला—"वह ज्ञान प्रतिपाती ज्ञान हुआ है या अप्रतिपाती ?" मृगावती—"आपकी कृपा हो, फिर प्रतिपाती ज्ञान क्यों हो ? अप्रतिपाती ही हुआ है !" चन्दनबाला—"तब तो मैंने केवलज्ञानी की आशातना की ! केवलज्ञानी का दिल कठोर शब्द कह कर दुखाया ! मुझे क्षमा करना ! आपको केवलज्ञान हुआ है, इसका मुझे पता नहीं था।" इतना कह कर चन्दनबाला साध्वी अपने से ज्ञान मे आगे बढ़ी हुई केवलज्ञानी मृगावतीजी के चरणों में गिर पड़ी और अपनी आत्मनिन्दा में तत्पर हो गई। जिससे आर्या चन्दनबालाजी को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

जैसे मृगावती साध्वी ने उपालम्भ के रूप मे हितकर, किन्तु कठोर बात को सुन कर किसी प्रकार का कषाय (पहले क्रोध, माया और केवलज्ञान हो जाने पर मान, लोभ) नही किया, उसी प्रकार अन्य साधकों को भी कठोर शब्दों मे कही गई हितकर बात को सुन कर अपने में कषाय नही पैदा होने देना चाहिये। इस कथा के द्वारा यही उपदेश दिया गया है।

किं सक्का वत्तुं जे, सरागधम्मम्मि कोइ अकसाओ।
जो पुण धरिज्ज धणियं, दुव्वयणुज्जालिए स मुणी ॥३५॥

होता है, अभिमानी, स्वार्थी और जिद्दी बन कर दूसरों को मारने आदि के उपायों और अनर्थ का चिन्तन (ध्यान) करता है; दूसरों का मारने-पीटने और सताने आदि से पापकर्म करता है। यही कषायवृक्ष का फल है। इसलिए कषायवृक्ष का फूल (कषाय करते समय) भी कड़वा है और फल (भोगते समय परिणाम) भी कड़वा है। दोनों से आखिरकार नरकगति मिलती है।'

संते वि को वि उज्झइ, कोवि असतेवि अहिलसइ भोए।

चयइ परपच्चएण वि, पभवो दट्ठूण जह जंबू ॥३७॥

शब्दार्थ—'विषयभोग के साधन होने पर भी कोई उन्हें छोड़ देता है और कोई विषयभोग के साधन अपने पास न होने पर उनको पाने की (मन ही मन) अभिलाषा करता है। कोई दूसरे के निमित्त से (दूसरे को विषयभोग छोड़ते देख कर) विषयभोगों का त्याग कर देता है, जैसे जम्बूकुमार को देख कर प्रभव ने विरक्त हो कर विषयभोग छोड़ दिए थे।'

भावार्थ—'किसी पुरुष के पास भोग के विपुल साधन मौजूद होते हुए भी वह महान् आत्मा उनका त्याग कर देता है, किसी नीचकर्मी के पास साधन कुछ भी न होने पर भी वह संसार के अगणित विषयसुखों की लालसा करता रहता है। और कोई जीव किसी अन्य पुरुष को विषयसुखों के साधन छोड़ते देख कर स्वयं वैराग्य की प्रेरणा पाता है, जागृत हो जाता है और विषयभोगों का त्याग कर देता है। जैसे जम्बूस्वामी का महात्याग देख कर पांच सौ चोरों के सहित प्रभव नामक चोर ने विषय-भोगों का त्याग कर दिया था।'

यहाँ प्रसंगवश जम्बूस्वामी की कथा, उनके पूर्वभव के वर्णन सहित दे रहे हैं—

चित्त संयम से डांवाडोल हो उठा। वे संयम की बांध तोड कर मन ही मन अपनी नवपरिणीता पत्नी नागिला को याद करने लगे। रातदिन उसी की रट लगाते हुए विषयभोगों की अभिलाषा से वे अपने गृहस्थाश्रम के गॉव की ओर चल पडे। क्रमश विचरण करते हुए वे सुग्रीव गॉव के बाहर श्री ऋषभदेव स्वामी के मन्दिर में ठहरे। तपस्या से दुर्बल बनी हुई नागिला ने जब भावदेव मुनि का आगमन सुना तो वह भी उनके दर्शनार्थ पहुची। उसने अपने गृहस्थपक्ष के पति को पहचान लिया और उसकी कामातुर-की-सी चेष्टाएँ और भावभंगियॉ देख कर उसे बड़ा ही दु ख हुआ। नागिला ने साहस करके उनसे पूछा—"मुनिवर! इस गॉव मे और अकेले आपका पधारना कैसे हुआ?" मुनि ने उत्तर दिया—'यहॉ एक नागिला नाम की स्त्री है, जो मेरी गृहस्थाश्रम की पत्नी है; उसी के स्नेह-वश मैं उससे मिलने आया हू। मैंने आवेशवश बडे भाई की शर्म से मुनिदीक्षा ले ली थी, लेकिन नागिला के प्रति मन में रहा हुआ प्रेमभाव कैसे दूर हो सकता था? वह प्रेमांकुर ही मुझे यहॉ खींच लाया है। अब तो नागिला मिल जाय तो मेरा समस्त मनोवाञ्छित कार्य सफल हो जाय।" नागिला ने मुनि के असंयम के विचारो को सुन कर उन्हें कहा—"मुनिवर! जरा विचार तो करिए, आप किस पद पर हैं? इस उच्च विश्ववन्दनीय पद को छोड़ कर आप नीचे पद पर क्यो आना चाहते है आप? कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो हाथी की सवारी छोड़ कर गधे की सवारी करना चाहेगा? समुद्रतारिणी नौका को दूर से छोड़ कर कौन मूढ़ पत्थर की शिला का आश्रय लेगा? कल्पवृक्ष को छोड़ कर कौन धतूरे के वृक्ष को उगाना चाहेगा? मैंने ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार कर लिया, उसे मै हर्गिज नही तोड़ सकती। इसलिए आप किम्पाकफल के समान विषयभोगों की लालसा छोड़ दें और अपने संयम मे स्थिर रहे।" नागिला ने इस प्रकार

देव बना। श्रेणिक! यही विद्युन्माली देव अभी यहाँ आया था।"

इसके बाद पांचवे भव (जन्म) मे विद्युन्माली देव आयु पूर्ण कर राजगृह नगर मे ऋषभदत्त सेठ के यहाँ धारिणीदेवी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। माता द्वारा स्वप्न में जम्बू (जामुन) का वृक्ष देखने से उसका नाम जम्बूकुमार रखा गया। बालक ने सभी कलाओं का अध्ययन किया। क्रमशः यौवनवय मे पैर रखा। यौवन मे चेहरा ऐसा दमकने लगा मानो तरुणीरूपी हिरनियों के लिए वे मोहपाश हों। उसी नगर के आठ धनाढ्य सेठों ने अपनी-अपनी कन्या का जम्बूकुमार के साथ विवाह किया। इस प्रकार जम्बूकुमार आठ कन्याओं के पति बने।

उन्हीं दिनों गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपनी शिष्यमंडलीसहित राजगृह में पधारे। राजा श्रेणिक उन्हे वन्दनार्थ पहुचा। सेठ ऋषभ-दत्त भी अपने सुपुत्र जम्बूकुमार को साथ ले कर उनके दर्शनार्थ आया। सुधर्मस्वामी की पुष्करमेघ की जलधारा के समान संसाररूपी दावानल के ताप को शान्त करने वाली उपदेशधारा बरसी। उन्होंने संसार की अनित्यता बताते हुए कहा—"जैसे कामिनी का मन चञ्चल होता है, जल मे पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिविम्ब चंचल होता है, मूषा (सोने को गलाने की कुंडी) में पड़ा हुआ सोना तरल और चचल होता है, वायु के कारण हिलती हुई ध्वजा का सिरा चंचल होता है; वैसे ही संसार का स्वरूप चंचल (अस्थिर) है। जैसे अपने अंगूठे को चूसने वाला बालक अपने ही मुख से निकलती हुई लार को पी कर उसमे सुख मानता है, उसी प्रकार यह जीव भी निन्दनीय विषयभोगों का पान कर उनमे सुख मानता है। लोगों की यह कैसी मूर्खता है ? जिसमें से वह उत्पन्न हुआ है, उसी मे आसक्त

होगा और अमृत भोजन होगा ज्ञान का। अब मैं महान दुःख देने वाले अन्तरंग मोहरूपी राजा की सेना को पराजित करने के लिए तपरूपी घोड़े पर सवार होऊंगा भावनारूपी कवच को धारण करूंगा, अभयदान आदि मंत्रियों सहित सतोषरूपी सेनापति को आगे करके संयम के अनेक गुणोरूपी सेना सजा कर क्षपकश्रेणीरूपी गजघटा से परिवृत हो कर, गुरु-आज्ञारूपी शिरस्त्राण (युद्ध के समय मस्तक की रक्षा के लिए पहना जाने वाला लोहे का टोप) धारण करके धर्मध्यानरूपी तलवार से लडूंगा।

पुत्र के ये वैराग्यमय वचन सुन कर माता-पिता दंग रह गये। उन्होंने कहा—"बेटा! पहले जिन आठ कन्याओं के साथ तुमने शादी की है, उन्हे संतुष्ट कर, फिर भुक्तभोगी हो कर हमारा मनोरथ पूर्ण करके साधु बनना।" परन्तु जम्बूकुमार ने फिर वही वैराग्यभरा उत्तर दिया। यौवन वय था, सुन्दर सुकुमार शरीर था; आठ-आठ सुन्दरियां उनके सामने हाथ बांधे आज्ञा में तत्पर खड़ी रहती थी, आठों पत्नियों में से प्रत्येक के पितृगृह से नौ-नौ करोड़ स्वर्ण-मुहरें दहेज में आई थी, आठ करोड़ स्वर्णमुहरें आठों कन्याओं के मामा के यहां से प्राप्त हुई थी और एक करोड़ स्वर्णमुहरें जम्बूकुमार को मामा से मिली थी, तथा १८ करोड़ स्वर्णमुहरें अपने घर में थी। इस तरह जम्बूकुमार कुल ९९ करोड़ स्वर्णमुहरों के स्वामी थे। फिर भी वे अन्तर से इन सबसे सर्वथा निरासक्त, निर्लेप और निर्विकारी थे।

जम्बूकुमार रात को अपने शयनगृह में अपनी आठों पत्नियों से घिरे हुए बैठे हैं, लेकिन उनकी ओर राग या मोह की दृष्टि से नहीं देखते और न ही उन्हें खुशामद करके संतुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। आठों रमणियों ने उन्हें अपने हावभाव से, चेष्टाओं से

पुरुप कैसे दु ख पाता है ? मुझे सुनाइए ।" जम्बूकुमार ने कहा—"लो, सुनो ! अपने साथियो से बिछुड़ा हुआ एक आदमी एक भयकर जगल में घूम रहा था। एक जगली हाथी ने उसे देखा और उसे मारने के लिए उसके सामने दौड़ा। वह आदमी भी भयभीत हो कर बेतहाशा भागा। हाथी ने उसका पीछा किया। काफी भागने के बाद जब उसने रक्षा का कोई उपाय न देखा तो चट से एक कुंए मे लटकती हुई वटवृक्ष की शाखा को पकड कर लटक गया। परन्तु ज्यों ही उसने नीचे देखा तो दो अजगर मुंह फाडे खड़े थे। उन्ही के पास ४ बडे सांप बैठे थे। जिस वटवृक्ष की शाखा उसने पकड़ रखी थी, उसके ऊपर मधुरस (शहद) से भरा हुआ मधुमक्खियों का एक छत्ता टंगा हुआ था, जिसमे से मधुमक्खियाँ उड़-उड़ कर उसे बार-बार काट रही थी; साथ ही उस वृक्ष की शाखा को दो चूहे कुतर रहे थे। इतने महाकष्ट मे पड़ा हुआ वह मूढ़ मनुष्य मधु के छाते से पड़ती हुई बूंद के स्वाद के कारण स्वय को सुखी मान रहा था। उसी समय कही से कोई विद्याधर अपने विमान में बैठ कर वहाँ आया और उसे दु.खी हालत मे देख कर उसने उस पर दया ला कर उसके पास आकर कहा—"क्यों दु.खी हो रहे हो ? आओ, मेरे विमान मे बैठ जाओ। मै तुम्हे दु ख से मुक्त कर दूंगा।" परन्तु उस मूर्ख ने कहा—"एक क्षण ठहर जाओ, मैं एक मधुबिन्दु का स्वाद ले कर आपके पास आया।" परन्तु एक क्षण के बाद फिर वही बात दोहराता जाता था—"एक बूंद और ले लूं, एक बूंद और !" विद्याधर उसकी मूढ़ता देख कर वहाँ से चला गया। बाद मे वह मूर्ख अत्यन्त दु खित हो कर पछताने लगा।"

"इसलिए हे प्रभव ! मधुबिन्दु के समान ही संसार के इन विषय-भोगों का विपाक है। यह संसार भी एक गहन जंगल है। इसमे

बार उसके पुत्र और पुत्री का जोड़ा पैदा हुआ। पुत्र का नाम कुबेर-दत्त और पुत्री का नाम कुबेरदत्ता रखा। वेश्या ने अपने किसी स्वार्थ-वश दोनो को नामांकित (नाम खुदी हुई) अंगूठी उंगली मे पहना कर एक पेटी मे रख कर उसे यमुनानदी मे बहा दी। वह पेटी नदी में बहती हुई शोरीपुर के पास पहुची। वहाँ के दो सेठो ने उस पेटी को देख कर बाहर निकाली। पेटी खोली तो उसमे वे दोनों लडका-लड़की मिले। फलत. उन दोनो सेठों मे से एक ने लड़का रख लिया और एक ने लडकी रख ली। दोनो का पालन-पोषण दोनो सेठो के यहाँ होने लगा। जब वे दोनो जवान हो गए तो देवयोग से दोनों सेठों ने परस्पर बातचीत करके उन दोनों का परस्पर विवाह कर दिया। दोनो सगे भाई-बहन अब पति-पत्नी हो गए। एक दिन वे दोनो चौपड (पाशा) खेल रहे थे, तभी अचानक कुबेरदत्ता की दृष्टि कुबेरदत्त (पति) की नामांकित अंगूठी पर पड़ी। उस पर 'कुबेरदत्त' नाम लिखा हुआ देख कर कुबेरदत्ता ने सोचा—"यह तो मेरा भाई है। हाय! हाय!! मैंने यह क्या अनर्थ कर डाला! सगे भाई के साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध! अहो! ससार मे मोह और विषयासक्ति की बडी प्रबलता है।" इस प्रकार विचार करते-करते कुबेरदत्ता को ससार से विरक्ति हो गई। उसने एक चारित्रशीला साध्वी जी से साध्वीदीक्षा ले ली। शास्त्रो का अध्ययन किया, तपश्चर्या की। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से उस साध्वी को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया।

इधर कुबेरदत्त किसी कार्यवश एक दिन मथुरा गया था। वहाँ कुबेरसेना वेश्या (जो उसकी माता थी) के प्रेम मे फंस गया। दोनो के सयोग से एक पुत्र हुआ। कुबेरदत्ता साध्वीजी को अवधिज्ञान से ज्ञात हो गया कि "यह तो अनर्थ पर अनर्थ हो रहा है। माता और पुत्र के संयोग से सन्तानोत्पत्ति! मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मै इस

यह सुन कर प्रभव ने फिर कहा—"जम्बूकुमार ! यह तो ठीक है। परन्तु पुराणों मे कहा है—'जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी सद्‌गति नहीं होती; इसलिए कम से कम कुछ समय तक गृहस्थाश्रम का सुखभोग करके पुत्रोत्पत्ति हो जाने पर ही संयममार्ग पर कदम रखना चाहिए।" जम्बूकुमार ने उत्तर दिया—ऐसा कोई नियम नही है कि पुत्र होने पर ही मनुष्य को सद्‌गति मिले, अन्यथा दुर्गति में जाना पडे। यह तो सासारिक लोगो की मोहजनित भ्रान्ति है। कई लोगों के पुत्र हो जाने पर भी उनकी सद्‌गति तो क्या; यहीं बडी भारी दुर्गति होती है, जैसे महेश्वरदत्त की हुई। महेश्वरदत्त के पुत्र होने पर भी वह उसके किसी काम नहीं आया।" प्रभव ने पूछा—"जम्बूकुमारजी ! यह महेश्वरदत्त कौन था ? जरा विस्तार से कहिये।" जम्बूकुमार कहने लगे—"विजयपुर में महेश्वरदत्त नामक एक सेठ रहता था। उसके महेश्वर नामक इकलौता पुत्र था। महेश्वरदत्त ने अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्र को पास बुला कर कहा—"बेटा ! जिस दिन मेरा श्राद्ध करो, उस दिन एक भैंसा मार कर उसके मांस से सारे परिवार को तृप्त करना।" महेश्वर ने स्वीकार किया। महेश्वरदत्त की एक दिन मृत्यु हो गई। वह मर कर जंगली भैंसा बना। पुत्र ने पिता के अन्तिम समय के वचन याद रखे। कुछ दिनों बाद महेश्वर की माता भी मर गई। घर मे अत्यन्त आसक्ति होने से वह मर कर उसी घर मे कुतिया बनी। महेश्वर की पत्नी व्यभिचारिणी थी। महेश्वर ने अपनी पत्नी के साथ उसके यार को रतिक्रीड़ा करते देख गुस्से मे आ कर जान से मार डाला। संयोगवश वह भी मर कर महेश्वर की पत्नी की कुक्षि से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। महेश्वर अपने उस पुत्र से बहुत प्यार करता था ! दैवयोग से श्राद्ध के दिन अपने पिता के जीव जगली भैंसे को ही ले आया ! उसे मार कर सारे परिवार को उसी का मास

कर दीजिये। तब मैं भी निश्चित हो कर आपके साथ ही मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लूंगा।" प्रभव के मुंह से अपने पति के दीक्षा लेने की बात सुनते ही जम्बूकुमार की प्रथम पत्नी समुद्रश्री बोली—"भाई प्रभव! तुम-से दुष्कर्मकर्ता पुरुषों के लिए तो मुनिदीक्षा लेना उचित है, क्योंकि दु:खी जीवों का महासुखप्राप्ति की अपेक्षा से साधुजीवन अंगीकार करना तो श्रेयस्कर है; मगर जो सुखी जीव है, उन्हें संयम के घोर कष्टों में पड कर अपने लिए अनिष्ट को क्यों बुलाना चाहिए? और संयम के घोर कष्टों मे पड़े हुए लोग प्राय. दूसरों के सुखी घरो को उजाड़ने की लालसा अपने मन मे बसाए रहते हैं। इसलिए हे प्रभव! अगर जम्बूकुमार तुम्हारे कहने से मुनिदीक्षा ले लेंगे तो अवश्य ही उन्हे उस किसान की तरह बाद मे पछताना पडेगा।" प्रभव—"बहन! वह किसान कौन था, जो बाद मे पछताया?" इस पर समुद्रश्री कहने लगी—"मरुदेश मे बग नामक एक किसान रहता था। वह खेती करता था। अपने खेत में वह कोद्रव, कांग आदि अनाज बोया करता था। एक बार वह अपनी लड़की के ससुराल गया। वहां उसे गुडमिश्रित मालपूए खिलाये गए। उसे मालपूए बड़े अच्छे लगे। उसने जाना कि मालपूए मे डाले हुए गुड़ की उत्पत्ति गन्ने के रस से होती है। यह जान कर मन मे निश्चय किया कि मै भी अपने खेत मे इस बार गन्ने बोऊगा और ऐसे मधुररस से परिपूर्ण गुड़ के मालपूए खाऊंगा।' घर आ कर अपनी पत्नी को उसने अपना निश्चय सुनाया। उसने उसे बहुत मना किया, परन्तु हठी किसान टस से मस न हुआ। उसने अपनी हठाग्रहीबुद्धि से चल कर अनाज के लहलहाते हरेभरे खेत को काट कर नष्ट कर दिया और उसकी जगह ईख बोई। परन्तु मरुभूमि में इतना जल कहा था कि ईख ऊग सके! फलतः ईख भी नही उगी और अनाज की पहले बोई

मांसलोलुप कौआ गुदा में ही बैठा रहा। ग्रीष्मकाल होने से कुछ ही दिनों में गुदा का द्वार सिकुड़ गया और गुदाद्वार बंद हो गया। इस कारण वह कौआ अंदर ही बंद हो गया। वर्षाऋतु आने से हाथी का शव पानी के प्रवाह में बह गया। अब गुदाद्वार खुला तो वह कौआ बाहर निकला। मगर चारों दिशाओं मे पानी ही पानी देख कर वह कौआ वहीं मर गया। इस संसार मे मरे हुए हाथी की लाश के समान स्त्री है, विषयासक्त पुरुष कौए के समान है। वह संसाररूपी जल में डूब कर मर जाता है। इसलिए विषयलोभ की अधिकता के कारण ही मनुष्य शोक-संताप करता है।"

यह सुन कर द्वितीय पत्नी पद्मश्री तपाक से बोली—"स्वामिन्! अतिलोभ से तो मनुष्य उस बंदर की तरह दुःख पाता है।" बीच मे ही प्रभवचोर पूछने लगा—"बहनजी! वह कौन-सा बंदर था? उसने कैसे दुःख पाया? खोल कर कहिए।" पद्मश्री बोली—"किसी जंगल मे एक बंदर का जोड़ा बड़े आनन्द से रहता था। एक दिन बंदर वहाँ के एक देवाधिष्ठित तालाब मे गिर पड़ा। गिरते ही देव-प्रभाव से वह मनुष्य बन गया। उसे देख कर बंदरी भी उसी तालाब में कूद पड़ी और वह भी सुन्दर स्त्री बन गई। एक दिन मनुष्यरूपधारी उस बंदर ने कहा—"इस तालाब मे एक बार गिरने से मैं मनुष्य बन गया तो अब दूसरी बार गिरने से अवश्य ही देव बन जाऊंगा।" उसकी स्त्री ने उसे बहुतेरा समझाया और ऐसा करने से मना किया। मगर वह उसकी एक न मान कर पुनः उसी तालाब में कूदा। फलस्वरूप वह मनुष्य से वापिस बंदर हो गया। वहाँ उस समय कोई राजा आया हुआ था। वह उस रूपवती स्त्री (बंदरी) को अकेली देख अपने यहाँ ले आया। और वह बंदर किसी मदारी के हाथ मे पड़ गया। मदारी ने उसे नृत्य करना सिखाया, शहर मे नृत्य करता हुआ बंदर मदारी के साथ उसी राजा के महल

करना होगा।" बीच मे ही प्रभव ने पूछा—"नूपुरपण्डिता को कैसे पश्चात्ताप करना पड़ा? जरा खोल कर कहिए।" पद्मसेना कहने लगी—

"राजगृह नगर मे देवदत्त नामक एक सुनार रहता था। उसके देवदिन्न नाम का एक पुत्र था। उसकी पत्नी का नाम दुर्गिला था। वह किसी दूसरे पुरुष से लगी हुई थी। एक दिन देवदिन्न घर पर नही था तो संध्यासमय उसका यार आया। परस्पर विनोद करते हुए वे दोनो रात को एक ही शय्या पर सो गए। सयोगवश दुर्गिला का श्वसुर देवदत्त रात को पेशाब करने के लिए वहाँ से हो कर जा रहा था, तभी उसने अपनी पुत्रवधू को परपुरुष के साथ सोयी देख कर चुपके से उसके दाये पैर का नूपुर (नेवर) निकाल लिया। जागने पर दुर्गिला को अपने दाये पैर के नूपुर गायब होने का पता चला तो उसने सारा अनुमान लगा लिया कि श्वसुर ने ही नूपुर निकाल लिया है और वह हमारे गुप्तप्रेमसम्बन्ध को जान गया है, तो उसने अपने प्रेमी (यार) को झटपट जगा कर उसे सारी बाते समझा कर अपने घर भेज दिया। स्वयं घर के अंदर सोये हुए पति को जगा कर मधुरस्वर मे कहने लगी—"प्राणेश! यहाँ मुझे नीद नही आ रही है। अत यहाँ से चलिए, हम आज अशोकवृक्ष के नीचे जा कर सोयेगे।" पति ने सरलभाव से उसकी बात मान ली। दोनो वहाँ से चल कर अशोकवृक्ष के नीचे आ कर सो गए। कुछ ही देर हुई थी कि दुर्गिला ने गाढ़ निद्रा मे सोये हुए अपने पति को जगाया और कहने लगी—"स्वामिन्! गजब हो गया! आपके यहां यह कैसा विचित्र रिवाज है कि श्वसुर सोई हुई अपनी पुत्रवधू के पैर मे पहने हुए नूपुर निकाल ले जाय। मेरे साथ आज ऐसी ही घटना हुई है।" यह सुनते ही देवदिन्न को अपने पिता पर बहुत गुस्सा आया। उसने सुबह होते ही अपने पिता को आड़े हाथो

नूपुरपंडिता नाम प्रसिद्ध हो गया। इसीलिए मैं कहती हूं कि बाद में आपको पश्चात्ताप न करना पड़े। जरा सोचविचार कर काम करिए।"

जम्बूकुमार कहने लगे—"देखो, इस भरतक्षेत्र में कुशवर्धन नामक एक गाँव था। वहाँ एक ब्राह्मण के यहाँ विद्युन्माली और मेघरथ नाम के दो भाई रहते थे। एक बार वे किसी कार्यवश जंगल में गए। वहाँ एक विद्याधर ने उन्हें मातंगी नाम की विद्या और उसे सिद्ध करने की विधि बताई। अन्त में उसने कहा कि विद्या की साधना करते समय मातंगी नाम की देवी तुम से विषय-सम्भोग की प्रार्थना करेगी। परन्तु यदि तुम उस समय मन में स्थिरता रखोगे और विचलित नहीं होओगे तो यह विद्या सिद्ध होगी, अन्यथा नहीं।" दोनों खुश हो कर उस विद्या की साधना करने बैठे। दोनों में से विद्युन्माली का मन तो देवी के हावभाव और रतिसुख की प्रार्थना से चलायमान हो गया। मगर दूसरा भाई मेघरथ विद्याधर के वचन पर श्रद्धा रख कर अटल रहा। उसकी विद्या सिद्ध हो गई। उसे ६ महीने में बहुत-सा धन मिला। परन्तु विद्युन्माली दुःखी हो गया। इसलिए जो मनुष्य विद्युन्माली के समान अपने साध्य को भूल कर मातंगी के समान सुन्दरियों के भोगजाल में फंस जाता है, वही दुःखी होता है। परन्तु जो मेघरथ के समान स्त्रीसम्बन्धी कामभोगों में विचलित न हो कर अपने साध्य पर अविचल रहता है, वह सुखी होता है। इसलिए सुखार्थी मनुष्यों को संसार के कंचन-कामिनी आदि सुखभोगों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

यह सुन कर कनकसेना नामक चौथी पत्नी बोली—"प्राणनाथ! अगर हम मातंगी के समान थीं, तो आपने हमारे साथ विवाह क्यों

पीड़ा होने लगी। वह बन्दर पीड़ा से छटपटाता रहा। इसलिए हे प्रिये! मैं अपना शरीर उस बंदर की तरह विषयरूपी कीचड़ से लिपटने नहीं दूंगा, जिससे मुझे बाद में छटपटाना पड़े।"

यह सुन कर नभसेना नाम की पाँचवी पत्नी बोली—"स्वामिन्! अतिलोभ नहीं करना चाहिए। अतिलोभ से तो सिद्धि और बुद्धि की तरह मनुष्य की अक्ल मारी जाती है। लो सुनो, मैं वह किस्सा सुनाता हूँ। किसी गाँव मे सिद्धि और बुद्धि नाम की दो बुढ़ियाएँ रहती थीं। दोनों बड़ी गरीब थीं। बुद्धि बुढ़िया प्रतिदिन प्रातःकाल भोलकयक्ष की आराधना किया करती थी। उसकी भक्ति देख कर यक्ष प्रगट हो कर बोला—"मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हूँ। यथेष्ट वर मांग ले।" बुद्धि ने कहा—"देव! यदि आप मुझ पर प्रसन्न है तो यह वरदान दीजिए कि मुझे पेटभर रोटी मिल जाय।" यक्ष ने कहा—'रोजाना मठ के पीछे से खोद कर एक स्वर्णमुहर ले जाया करना।" बुद्धि प्रतिदिन ऐसा ही करने लगी। इस प्रकार वह सुख से जिंदगी बिताने लगी। सिद्धि के मन मे बुद्धि का सुखी जीवन देख कर ईर्ष्या पैदा हुई। उसने कपटपूर्वक चिकनीचुपड़ी बातें बना कर बुद्धि से सुखी होने का रहस्य जान लिया और वह भी उसी तरह बल्कि उससे भी बढ़ कर उस यक्ष की सेवाभक्ति करने लगी। भोलकयक्ष ने एक दिन प्रसन्न हो कर उसे वर मांगने का कहा। सिद्धि ने यही वर मागा कि 'मुझे बुद्धि से दुगुना मिला करे।" फलतः उसे प्रतिदिन दो स्वर्णमुहरें मिलने लगी। थोड़े ही दिनों मे सिद्धि बुद्धि से अधिक धनाढ्य हो गई। यह देख कर बुद्धि के मन में अधिक लोभ जागा। उसने अपना मनोरथ पूर्ण करने के लिए पुनः यक्ष की आराधना करनी शुरू की। वह अब घंटों यक्ष की सेवा-पूजा में बिताने लगी। इससे यक्ष ने प्रसन्न हो कर फिर उसे वर मांगने का कहा। इस बार बुद्धि ने सिद्धि से अधिक द्रव्य प्राप्त होने

चोर-पल्लीपति (चोरो के सरदार) को किसी समय पता लगा कि जिनदास के यहा एक जातिवान घोड़ा है तो उसने उस घोड़े को वहां से चुरा लाने के लिए अपने सेवक को भेजा। सेवक जिनदास के यहां पहुचा और उसने दीवार मे सेंध लगा कर उस घोड़े को बाहर निकाला। लेकिन ज्यो ही घोडे को आगे चलाना चाहा तो वह समझ गया कि यह मुझे उन्मार्ग मे ले जाना चाहता है। अत घोडा वहीं ठिठक गया। एक कदम भी आगे न बढा। उस सेवक ने बहुत जोर लगा लिया, लेकिन घोडा अपने स्वभाव का इतना पक्का था कि राजमार्ग को छोडकर अन्य मार्ग पर चलने के लिए जरा भी तैयार न हुआ। यों रस्साकस्सी होते-होते जिनदास सेठ जाग गया। उसे घोडे को चुरा कर ले जाने के लिए आमादा चोर-सेवक का पता लगा। उसने रंगे हाथों फौरन चोर को पकड़ा और अपना घोड़ा छुड़ा लिया। बाद मे चोर-सेवक द्वारा माफी मांगने पर उसे भी सेठ ने छोड़ दिया। प्रिये ! इसी प्रकार मैं भी शुद्धसंयमरूपी राजमार्ग को छोड़ कर उन्मार्ग मे कदापि नहीं जाऊगा।"

इस पर उनकी छठी पत्नी कनकश्री ने कहा—"स्वामिन् ! आपका अत्यन्त हठ (जिद्द) करना योग्य नहीं है। बुद्धिमान् पुरुष को दूरदर्शी बन कर भविष्य का भी विचार करना चाहिये; उस ब्राह्मणपुत्र की तरह गधे की पूंछ पकड़े नहीं रहना चाहिए।" बीच मे ही प्रभव ने पूछा—"बहनजी ! वह ब्राह्मणपुत्र कौन-था, जिसने गधे की पूंछ पकड़ कर छोड़ी नहीं ?" कनकश्री कहने लगी—

"एक गांव मे एक ब्राह्मण का लड़का था। वह बड़ा मूर्ख और जिद्दी था। उसकी मां उसे सदा कहा करती थी-"बेटा ! जिस वस्तु को पकड़ो, उसे छोड़ना नहीं चाहिये।" मूर्ख ने मन मे इस बात की गांठ बांध ली। एक दिन किसी कुम्भार का गधा उसके घर से छूट कर भागा

निकल आई और कुछ ही दिनों मे वह घोड़ी मर गई। घोड़ी मर कर उसी नगर मे वेश्या के यहां पैदा हुई और जवान होने पर वह भी वेश्या बन गई। इधर वह नौकर मर कर ब्राह्मण के यहाँ पैदा हुआ। एक दिन उस नौजवान ब्राह्मणपुत्र ने उस वेश्या को देखा। देखते ही पूर्वजन्म के सम्बन्ध (ऋणानुबन्ध) के कारण वह उस वेश्या के यहाँ नौकरी करने लगा। वह वेश्या के यहाँ घर का सब काम पूरा कर लेता; तभी उसे खाना मिलता था। इस तरह जिंदगी-भर अपना कर्ज चुकाने, और सुखसुविधा पाने की आशा से वह दास बन कर रहा। मगर मैं उसकी तरह भोगों की आशा का दास बन कर घर मे अब जिंदगीभर नही रहूगा।"

इस पर उनकी सातवीं पत्नी रूपश्री कहने लगी—"नाथ! इस समय आप हमारा कहना नही मानते, लेकिन बाद में आपको मासाहस पक्षी की तरह सकट उठाने पडेंगे, तब आप मानेगे। मासाहस पक्षी की कथा इस प्रकार है, सुनिये—

"मासाहस नाम का एक पक्षी किसी जगल मे रहता था। वह पक्षी ऐसा था कि सोए हुए बाघ के मुंह से प्रवेश कर उसकी दाढों मे लगे हुए मांसपिण्ड को अपनी चोंच मे ले कर बाहर निकल आता और कहता—"ऐसा साहस मत करो।" इसी से उसका नाम 'मासाहस' पड़ गया। मगर वह बार-बार जैसा कहता था, उससे ठीक विपरीत आचरण करता था। उसे ऐसा साहस न करने के लिए सभी पक्षियों ने समझाया, लेकिन इसके बावजूद भी वह मांस-लोलुपता के कारण बार-बार बाघ के मुंह मे प्रवेश करता था। एक दिन जब वह बाघ के मुंह मे घुसा था, तभी अचानक बाघ जाग गया और अपने शिकार को मुंह मे घुसे देख खा गया।"

यह सुन कर जम्बूकुमार ने कहा—"हे नारियो! तुम तो मुझे

अपराधी हो। राजा को पता लग जाने पर तुम्हारे साथ-साथ मैं और मेरा परिवार भी बर्बाद हो जायगा। अत. मेरे परिवार पर कृपा करके आप और कही पधारें, यही उचित है। आखिर निराश और उद्विग्न हो कर मंत्री प्रणाममित्र के यहाँ पहुंचा। मत्री को आए देख कर प्रणाममित्र ने खड़े हो कर हाथ जोड़े और प्रीतिपूर्वक उसका सम्मान किया। फिर अपने पास बिठा कर उससे कुशल समाचार पूछा। मंत्री ने अपनी सारी आपबीती सुनाई और उस मित्र से सहायता और शरण की याचना की। प्रणाममित्र ने मत्री को आश्वासन देते हुए कहा—"आप जरा भी न घबराएँ। जब तक मेरे दम मे दम है, तब तक कोई भी आपका बाल बाका नही कर सकता। मैं आपको ऐसी जगह आश्रय दूगा, जहाँ आपकी पूरी सुरक्षा रहेगी। वहाँ राजा भी आपका अनिष्ट नही कर सकता।" ऐसा कह कर उसने मंत्री को उसने एक सुरक्षित व भयमुक्त स्थान पर पहुंचा दिया, जहां निश्चिन्त हो कर मत्री सुखपूर्वक रहने लगा। कुछ ही दिनों मे उसका अपराध झूठा प्रतीत होने पर राजा ने मत्री को दण्डमुक्त भी घोषित कर दिया। ये तीनों मित्र सुबुद्धि मंत्री-रूपी सासारिक जीव के साथ लगे हुए हैं। कहा भी है—

"नित्यमित्रसमो देह स्वजनाः पर्वसन्निभा ।
जुहारमित्रसमो ज्ञेयो धर्म. परमबान्धवः ॥

'शरीर नित्यमित्र के समान है, स्वजन सम्बन्धी-पर्वमित्र के समान हैं और प्रणाममित्र के समान वीतरागभाषित धर्म है, जो जीव का परमबन्धु है।'

क्रूरराजा के समान कर्मराजा है, जो सुबुद्धिरूपी सांसारिक जीव को अपराध होने पर सजा सुनाता है। परन्तु उस समय न तो नित्यमित्र-शरीर ही उसे सहायता पहुचाता है और न पर्वमित्र—

एक कन्या थी, जो बहुत चतुर थी। उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी! आप निश्चिंत रहिए। आपके बदले मैं राजा को कहानी सुना आऊंगी।" फलतः वह राजा के पास गई। राजा ने उससे कहा—"कोई ऐसी कहानी कहो, जिससे मेरा मनोरञ्जन हो।" ब्राह्मणपुत्री ने कहा—"महाराज! आज मैं आपको अपने अनुभव की कथा कहूँगी, जिससे आपको बड़ी प्रेरणा मिलेगी। सुनिये—'मैं बचपन बिता कर जब जवान हुई तो मेरे मातापिता ने एक सुकुलोत्पन्न ब्राह्मणपुत्र के साथ मेरी सगाई कर दी। जिसके साथ मेरी सगाई हुई थी, वह भावीपति मुझे देखने और मिलने के लिए मेरे पिता के यहाँ आया। उस समय मेरे मातापिता खेत पर गए हुए थे, घर में मैं अकेली ही थी। फिर भी मैंने उसका स्नान-भोजन आदि से उचित सत्कार करके उसे संतुष्ट किया। परन्तु वह तो मेरा अद्भुत रूप-लावण्य देख कर कामातुर हो गया और अपनी कामवासना को तृप्त करने के इरादे से पलंग पर बैठा-बैठा अंगड़ाई लेने लगा, प्रणयरसभरी मीठी-मीठी गुदगुदाने वाली बातें करने लगा और बार-बार मेरी ओर ताक कर इशारे करने लगा। मैं उसकी चेष्टाओं से उसके मनोभावों को ताड़ गई। मैंने उससे कहा—"स्वामिन्! इतनी उतावली न करो। शादी हुए बिना ये विषयवासना-सेवन के कार्य नहीं हुआ करते। आदमी अत्यन्त भूखा हो तो भी क्या दोनों हाथों से खाता है? इसलिए आपकी इस समय यह विषयसेवन की भावना समयोचित नहीं है।" परन्तु वह अत्यन्त कामज्वर से पीड़ित था, इसलिए उसके पेट में एकाएक शूलरोग पैदा हुआ, और देखते ही देखते उसने वहीं दम तोड़ दिया। मैंने सोचा—'इसे यहाँ मरा हुआ देख कर लोग मुझ पर दोषारोपण करेंगे, इसलिए मैंने उसके शव को वहीं गड्ढा खोद कर झटपट गाड़ दिया। किसी को

भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवारं,
शय्या च भूः, परिजनो निजदेहमात्रं ।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयी च कन्था,
हा हा ! तथापि विषया न परित्यजन्ति ।।

अर्थात्—'खाने के लिए भिक्षा से प्राप्त नीरस भोजन और वह भी एक बार मिला हो; सोने के लिए सिर्फ धरती हो, परिवार मे केवल अपना ही शरीर हो और वस्त्र मे केवल एक पुरानी एवं सौ जगह से फटी हुई गुदड़ी हो, ऐसी स्थिति मे भी खेद है कि मनुष्य को ये विषय नहीं छोड़ते ।'

इसलिए हे धर्मपत्नियो ! यदि तुम मेरे साथ पक्का वादा करो कि जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, वियोग और शोक आदि शत्रु मेरे पास नहीं आएंगे, तब तो मैं तुम्हारे साथ विषयभोगों का रसास्वादन करने के लिए घर मे रह सकूंगा । अन्यथा, अगर तुम मुझे जबर्दस्ती घर मे रखोगे तो भी रोगादि के आने पर मुझे बचा नही सकोगी ! रोग आदि से बचाने की है तुम मे ताकत ?" सभी ने एक स्वर से कहा—"स्वामिन् ! यह तो हमारे सामर्थ्य से बाहर की बात है । कौन ऐसा समर्थ है, जो ससार की इन स्थितियो को रोक सके !" इस पर जम्बूकुमार ने कहा—"यदि तुम सब इन शत्रुओ से रक्षा करने मे असमर्थ हो, तब फिर मै अशुचि (गंदगी) से भरी हुई और मोह की कुंडी के समान तुम्हारी देह पर प्रीति कैसे कर सकता हू ? क्योकि अनन्त पापराशि संचित होती है, तब स्त्रीशरीर मिलता है । कहा भी है—

"अणंता पावरासीओ, जया उदयमागया ।
तया इत्थीत्तण पत्तं सम्म जाणाहि, गोयमा ।।"

मेरे साथ, मैं उनके महल में आपको पहुंचा देती हूं।" ललितांग भी कामपिपासु और विषयवासना की भिक्षा के लिए भटकता था। उसने चट से आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और रानी के महल मे जा पहुचा। ललितांग को देखते ही रानी हावभाव और कामचेष्टाएं करने लगी। लज्जा छोड़ कर उसने अपने अंगों को प्रदर्शित करके कुछ ही देर मे ललितांग को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। कहा भी है—

> स्त्री कान्तं वीक्ष्य नाभिं प्रकटयति, मुहुर्विक्षिपन्ती कटाक्षान,
> दोर्मूलं दर्शयन्ती रचयति कुसुमापीडमुत्क्षिप्तपाणिः।
> रोमाञ्चस्वेदजृम्भाः श्रयति कुचतटं स्त्रंसि वस्त्रं विधत्ते,
> सोल्लठं वक्ति, नीवीं शिथिलयति, दशत्योष्ठभगं भनक्ति॥

अर्थात्—"स्त्री अपने प्रेमी को देख कर अपनी नाभि वारवार दिखाती है, वारवार तीखे कटाक्ष करती है, वारवार हाथ ऊंचे करके कामपीड़ावश करती है। हाथ के मूल भाग (कांख) को दिखाती है और कामवासना उत्तेजित करती है; उसके रोमाञ्च और पसीना हो आता है। वह जम्हुहाइयां लेने लगती है, वस्त्र इस प्रकार से वार-वार उतर जाता है, जिससे वह उसे स्तन पर रखती है, बेधड़क बोलती है अधोवस्त्र की गांठ ढीली करती है; दांतों को होठ से काटती है और अंगों को मोड़ कर हावभाव दिखाती है।"

"रानी के मदमाते यौवन और तिरछे नेत्रों के कटाक्ष तथा हाव-भाव को देख कर ललितांगकुमार अत्यन्त मुग्ध और कामातुर हो गया। वह निःशंक हो कर रानी के साथ रतिक्रीड़ा में मग्न हो गया। उसे यह होश भी नही रहा कि वह किसके साथ, कहां, और कौन-से समय सहवास कर रहा है? ठीक इसी समय राजा अपने महल

और सशक्त हुआ। एक दिन वह वायुसेवन करने के लिए पूर्व-परिचित रास्ते से चला जा रहा था कि रानी ने उसे देखा, और सहसा उसकी आंखों के सामने सारा पूर्व दृश्य चलचित्र की तरह आने लगा। रानी ने फिर कामपिपासा शान्त करने के लिए ललितांग को बुलाने दासी को भेजा। मगर ललितांग ने उसे टका-सा जवाब दे दिया—"मैं अब इस चक्कर में कभी नहीं फंसूंगा। देख लिया मैंने तुम्हारी रानी का प्रेम और कामवासना का नतीजा! जानबूझ कर विषयासक्ति मे फंस कर अपार वेदना को कौन न्यौता दे?" ललितांग का स्पष्ट इन्कार सुन कर दासी वापिस लौट गई। किन्तु तभी से ललितांग कामवासना से विरक्त हो कर सुखी हुआ। इसलिए स्त्रियो! मैं अगर विषयभोगों मे आसक्त हो जाऊंगा तो ललितांग की तरह मुझे भी अपार दुःख उठाने पड़ेगे। इसलिए मेरा विषयासक्ति से दूर रहना ही अच्छा है।"

जम्बूकुमार ने ये और इस प्रकार के बहुत-से उपदेश दे कर अपनी पत्नियों को समझाया। वह सारी रात इसी प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तरों में और प्रेरणादायिनी कहानियों के कहने-सुनने में बीत गई। अन्त में सभी पत्नियों ने निरुत्तर और विरक्तहृदय हो कर उनसे कहा—"प्राणनाथ! आपने जिस ढंग से वैराग्यरस की अनुपम बाते कहीं, वह हमारे गले उतर गई है। वास्तव मे सब रसों मे वैराग्य (शान्त) रस ही उत्तम, स्थायी सुखशान्ति का दाता और स्वपरश्रेयस्कर है। महाव्रतों का पालन अतिदुष्कर होते हुए भी भवभ्रमण मिटाने के लिए अचूक है। जो वैराग्यरस के घूंट पी कर महाव्रतों की भलीभांति आराधना करता है, वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। हम आपकी सभी बातों से सहमत हैं और इस पथ में आपके साथ है।"

कुल ५२६ व्यक्ति जम्बूकुमार के साथ जैनेन्द्रीदीक्षा अंगीकार करने के लिए आर्यश्री सुधर्मास्वामी के पास आए और ५२७ ही व्यक्तियों ने चारित्र धारण किया। जम्बूकुमार ने मुनि बनने के बाद क्रमश द्वादशाङ्गी का अध्ययन किया, चतुर्दशपूर्वधर हुए और चार ज्ञान प्राप्त करके श्रीसुधर्मास्वामी के उत्तराधिकारी गणधर पद से विभूषित हुए। उसके बाद चार घनघाती कर्मों का क्षय करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष मे जा विराजे। एक श्लोक से उनकी गुणगाथा इस प्रकार है—

> धन्योऽयं सुरराजराजिमहित श्रीजम्बूनामा मुनि—
> स्तारुण्येऽपि पवित्ररूपकलिते यो निर्जिगाय स्मरम्।
> त्यक्त्वा मोहनिबन्धनं निजवधूसम्बन्धमत्यादरात्,
> मुक्तिस्त्रीवरसंगमोद्भवसुखं लेभे मुदा शाश्वतम्॥

अर्थात्—धन्य है इन्द्रों के द्वारा पूजित श्री जम्बू नामक मुनि को, जिन्होने पवित्र रूप और लावण्य से सम्पन्न तरुणाई मे भी कामदेव को जीत लिया और मोह के मूल कारण—अपनी पत्नियों के साथ सम्बन्ध—को अत्यन्त आदरपूर्वक छोड़ कर प्रसन्नतापूर्वक मुक्ति-कामिनी के श्रेष्ठ संगम से उत्पन्न शाश्वत मोक्षसुख को प्राप्त किया।

मतलब यह है कि जम्बूस्वामी जैसे कई सुज्ञजन सब प्रकार के विषयसुखसाधन उपलब्ध होते हुए भी क्षणिक समझ कर स्वेच्छा से, स्वत. प्रेरणा से छोड़ देते है और शाश्वत सुख मे रमण करते है। कई प्रभवचोर सरीखे सुलभबोधि व्यक्ति जम्बूस्वामी जैसों के प्रभाव से—परत प्रेरणा से—विरक्त हो कर संसारसागर को तरने मे समर्थ हो जाते है। यहाँ तक ३७ वी गाथा से सम्बन्धित विषय समझना चाहिए।

करके वह भावनापूर्वक महाव्रतों का पालन करने लगा। परन्तु मनुष्य का जातिस्वभाव सहसा नहीं जाता। यज्ञदेव मुनि भी अपनी पूर्व-जाति के संस्कारवश शरीर और वस्त्रों के मैले हो जाने पर भी समभावपूर्वक सहन करने के परिषह को ले कर धर्म की निन्दा करने लगा। कभी-कभी सोचने लगता—'यह मुनिधर्म का मार्ग अन्य सभी मार्गों से अच्छा है, लेकिन इसमें स्नान-प्रक्षालन आदि का निषेध होने से महानिन्दा का कारण है।' यद्यपि मलपरिषह उसे असह्य लगता था, फिर भी चारित्रनाश के भय से वह स्नानादि द्वारा शरीर आदि का प्रक्षालन नहीं करता था।

एक दिन यज्ञदेव मुनि के उपवास का पारणा था। वे भिक्षा के लिए घूमते-घूमते 'खलेकपोतिका' न्याय से अपनी पूर्वाश्रम की पत्नी के यहाँ जा पहुंचे। उसने अपने पति को देखा तो मोहवश पूर्वस्नेह के कारण उन पर सम्मोहन-प्रयोग किया, जिससे दिनोदिन उनका शरीर दुर्बल होने लगा। उनका शरीर जब सूख कर कांटा हो गया तो वे वहाँ से अन्यत्र विहार करने मे अशक्त हो गए। अपना अन्तिम समय नजदीक जान कर उन्होंने आजीवन अनशन (संथारा) कर लिया और कालधर्म (मृत्यु) प्राप्त करके वहाँ से देवलोक मे पहुचे। मुनि की पूर्वाश्रम की पत्नी को जब यह पता लगा तो वह अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगी—"हाय! मैं क्या जानती थी कि मेरे सम्मोहनप्रयोग से उनका शरीर छूट जायगा। धिक्कार है मुझे! मैंने अपने पति की हत्या का महापाप किया! इस मुनिहत्या से मुझे नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा! मैं अशरण और अनाथ अब कहाँ जाऊँ? यह श्रमणधर्म का वेश ही अब मेरे लिए शरणदाता बनेगा।" यों सोच कर उसने संसार से विरक्त हो कर एक चारित्र-शीला साध्वी से दीक्षा लेली। साध्वी बनने के बाद उसने ज्ञानाभ्यास के साथ-साथ कठोर तपश्चर्या की और सम्यग्रूप से महाव्रतों

चिलातीपुत्र को अतिसाहसिक जान कर पल्लीपति (सरदार) बना दिया। उसकी हिम्मत इतनी बढ़ गई थी कि भयकर से भयकर पापकर्म; बल्कि किसी की हत्या तक करने मे—वह जरा भी नही हिचकिचाता था। परन्तु यहाँ आने पर भी सुसुमा उसके मन से गई नही थी।

एक दिन उसने पल्ली के सब चोरो को एकत्रित करके कहा—"भाइयो ! आज हम धनावह सेठ के यहाँ चोरी करने चलेगे। वहाँ जो भी माल मिले, वह तुम सबका; सिर्फ सुसुमा मेरी।" सबने यह शर्त मजूर कर ली और शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित हो कर सभी चोर चिलातीपुत्र के नेतृत्व मे राजगृह नगर मे सीधे धनावह सेठ के महल मे जा धमके। उनका अप्रत्याशित आगमन देख सब भौचक्के रह गए। सुसुमा उस समय विवाह के वस्त्राभूषण पहने एक कोने मे दुबकी हुई बैठी थी। अन्य सभी चोर धनमाल बटोरने मे लग गए और चिलातीपुत्र सीधे सुसुमा के पास पहुचा। उसने सुसुमा को उठाया और वहाँ से भागा। अन्य चोर धनमाल की गठड़ियां बाध कर उठाये हुए दौड़े। सेठ ने यह देख कर शोर मचाया। दुर्गपाल को इस दुर्घटना की खबर दी गई। तुरत कई विकट योद्धाओ को साथ ले कर उसने चोरो का पीछा किया। सेठ भी अपने पुत्रो को ले कर दुर्गपाल के साथ चल पड़ा। आगे-आगे चोर और पीछे-पीछे दुर्गपाल, उसके साथी और सेठ का परिवार! चोरो के सिर पर गठड़ियो का बोझ होने से उनके लिए फुर्ती से चलना कठिन हो गया। कई चोरो ने गठड़िया जमीन पर ही छोड़ कर भागने मे अपनी सलामती समझी, कई चोरो ने मुह मे तिनका दबा कर सेठ की शरण स्वीकार की और माफी माग कर छुटकारा पाया। बाकी बचे थे, उन्हें दुर्गपाल ने जमीन पर मार गिराया। दुर्गपाल वगैरह अन्य चोरों से निपटने मे लगे थे कि चिलातीपुत्र सुसुमा को ले कर

और सतुष्ट महात्मा ने मुझे यथार्थ ही कहा है। वास्तव मे मेरे सरीखे महापापी के लिए यही धर्म है; क्योकि उपशम (शान्ति) प्राप्त किए विना मैं क्रोध और आवेश की दशा मे सही सोच नहीं सकता, सही विवेक नहीं कर सकता और न ही पापकर्मो से रुक सकता हू। और धर्माचरण किये विना मेरी आत्मशुद्धि कदापि नहीं हो सकती। इसलिए मुझे इन महापुरुष के वचनानुसार अवश्य चलना चाहिए; तभी मैं इनके समान शान्त, नि.स्पृह और सतुष्ट हो सकूंगा। धिक्कार है मुझे! मैं क्रोधान्ध वन कर अपने आपे मे न रहा, एक युवती के पीछे मोहान्ध वन कर मैंने अपनी शान्ति खो दी, लोभान्ध वन कर मैंने चोरी का धंधा अपनाया, जिससे मेरा सतोष-धन नष्ट हो गया, मानान्ध वन कर मैंने हत्याएँ कीं। अव इस महापाप को धोने और अपनी आत्मा मे स्थित होने के लिए 'उपशम' यानी क्रोधादि कषायों को शान्त करना चाहिए, 'विवेक' यानी विकारोत्पादक वाह्य वस्तुओ का त्याग करना चाहिए और 'संवर' अर्थात् मन-वचन-काया के दुष्ट (अशुभ) व्यापारों (प्रवृत्तियों) को रोकना चाहिए।" यों सोच कर चिलातीपुत्र ने फौरन अपने हाथ मे ली हुई तलवार और सुसुमा का सिर एक ओर फेंक दिए। अधोवस्त्र के सिवाय सारे कपड़े उतार कर फेंक दिये, शान्त और निश्चिन्त हो कर आखे मूंद कर, शरीर के अगोपांगो और इन्द्रियो की चेष्टाओं को रोक कर वहीं कायोत्सर्ग (ध्यान) में लीन हो गया। मन मे उन्हीं तीन पदों पर गहराई से चिन्तन-मनन और अन्तर्मथन करने लगा। शरीर और कपड़े पर लगे हुए खून की गन्ध से शीघ्र ही वहां वहुत-सी वज्रमुखी चीटियां इकट्ठी हो गईं; वे चिलातीपुत्र के शरीर पर चढ़ गईं और नि शक हो कर उसके शरीर का रक्त और मांस काट कर खाने लगीं। परन्तु चिलातीपुत्र उस समय आत्मध्यान में इतना तन्मय हो गया कि उसे आत्मा के

शब्दार्थ—'ढंढणकुमार अपने पिता के यहाँ बहुत फूले-फले थे, लेकिन मुनि बन कर जैसे उन्होंने तृषा (प्यास) और क्षुधा (भूख) समभाव से सहन की, वैसे ही सहन करने (सहिष्णुता) से सफलता मिलती है।'

भावार्थ—'ढंढणकुमार ने कृष्ण वासुदेव के यहाँ जन्म लिया था। वे अपने घर में सर्वथा पुष्पित-फलित—यानी सब प्रकार की सुख-भोग की सामग्री से युक्त, भरेपूरे घराने के थे। लेकिन कर्मक्षय करने के लिए वे मुनि बने और अलाभपरिषह को समभाव से उन्होंने सहन किया। परिणामस्वरूप उन्हें अपने कर्मक्षयरूप कार्य मे सफलता मिली; केवलज्ञानरूप उत्तम फल प्राप्त हुआ।'

ढंढणकुमार की कथा इस प्रकार है—

श्री ढंढणकुमार की कथा

ढंढणकुमार अपने पूर्वजन्म मे पांच-सौ हलधरों (किसानों) पर अधिकारी था। दोपहर मे जब उनके भोजन का समय होता और उन सबके लिए भोजन आता, उस समय वह उनसे कहता—"खेत में एक-एक क्यारी में पहले हल चलाओ, उसके बाद ही तुम्हें भोजन करने दिया जायगा। बैलों को भी तभी खाने को दिया जायगा।" बेचारे पांच सौ हलधर और एक हजार बैल उतनी देर तक भूख के मारे छटपटाते रहते। ५०० हलधरों और १००० बैलों के आहारपानी मे प्रतिदिन इसी तरह अन्तराय डालने के फलस्वरूप ढंढणकुमार के जीव ने उस जन्म मे भारी अन्तरायकर्म का बंधन कर लिया। वहाँ से मर कर चिरकाल तक अनेक भवो मे भटकने के बाद उसने द्वारिका नगरी मे कृष्ण वासुदेव के यहाँ ढंढणारानी की कुक्षि से पुत्ररूप मे जन्म लिया। ढढणकुमार के नाम से वह प्रसिद्ध हुआ। बचपन बीत जाने पर यौवन में कदम रखते ही उसके पिता

करूंगा, दूसरे की लब्धि का या दूसरे के द्वारा लाया हुआ आहार आज से मुझे अकल्प्य-अग्राह्य होगा।"

प्रभु ने उन्हें 'जहासुह' कह कर वैसा अभिग्रह करा दिया। अभिग्रहधारी ढंढणमुनि शान्त और अव्याकुलचित्त से भिक्षा के लिए नगरी में घूमते हैं; लेकिन उन्हें अपने अभिग्रह के अनुसार शुद्ध आहार नहीं मिलता। इस प्रकार समभावपूर्वक भूखप्यास को सहते हुए उन्हें बहुत समय बीत गया।

एक दिन भ० अरिष्टनेमि के वन्दनार्थ श्रीकृष्ण वासुदेव आए। उन्होंने वन्दना करके भगवान् से पूछा—"भगवन्! आपके १८००० साधुओं में दुष्कर कृत्य करने वाला साधु कौन है?" भगवान् ने कहा—"मेरे सभी मुनियों मे संयम की उत्कृष्ट आराधना करने वाले ढंढणमुनि है।" श्रीकृष्ण—"भगवन्! उनमें कौन-से गुण की विशेषता है? भगवान् ने ढंढणमुनि के दुष्कर अभिग्रह (सत्सकल्प) लेने की बात कही। सुन कर श्रीकृष्ण हर्ष से नाच उठे और कहने लगे—"धन्य-धन्य है ढंढणमुनि को, जिन्होंने इस प्रकार का विकट अभिग्रह धारण किया है! भगवन्! ढढणमुनि इस समय कहाँ है? मुझे उन्हे वन्दन करने की तीव्र इच्छा है।" "वह इस समय नगरी मे भिक्षा के लिए गया हुआ है। तुम्हे रास्ते मे सामने आता हुआ मिलेगा।" भगवान् ने कहा। श्रीकृष्ण अपने हाथी पर बैठे हुए द्वारिका नगरी के बाजार से गुजर रहे थे, तभी सामने से ढंढणमुनि को आते हुए उन्होंने देखा। वे फौरन हाथी से नीचे उतरे और ढंढणमुनि को भक्तिभावपूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा करके वन्दना की, और कहा—"धन्य हो मुनिवर आपको! आप अत्यन्त पुण्यशाली है। प्रबल भाग्य के बिना आपके दर्शन सुलभ नहीं है।" उस समय श्रीकृष्णजी के साथ १६००० राजा थे, उन्होंने भी मुनि से चरणों मे नमस्कार किया। ठीक उसी समय अपने घर के गवाक्ष

बजाई । चारों ओर जयजयकार के नारों से द्वारिकानगरी गूंज उठी। श्रीकृष्ण आदि भव्यजनों को यह जान कर अपार हर्ष हुआ। तत्पश्चात केवलज्ञानी ढंढणमुनि काफी समय तक स्वपरकल्याणार्थ भूमंडल पर विचरते रहे और अन्त मे जन्ममरण से सर्वथा रहित हो कर मोक्ष मे जा विराजे।"

अन्य मुनियों को भी इसी प्रकार धर्माचरण करके कर्मक्षय करना चाहिये।

आहारेसु सुहेसु य रम्मावसहेसु काणणेसु य।
साहूण नाहिगारो, अहिगारो धम्मकज्जेसु ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—'बढ़िया आहारों, रमणीय उपाश्रयों (धर्मस्थानों) या सुन्दर बगीचों पर साधुओं का कोई अधिकार नहीं होता; उनका अधिकार तो केवल धर्मकार्यों में ही होता है।'

भावार्थ—'स्वादिष्ट खानपानों पर, आलीशान उपाश्रयों (धर्मस्थानों) पर या रमणीय बाग-बगीचों पर साधुओं का अपना कोई अधिकार (स्वामित्व) नही होता; क्योंकि इन सबके प्रति स्वामित्व (मालिकी हक) वे छोड़ चुके है। मुनियों का अधिकार केवल धर्मकार्य करने-कराने में है। क्योंकि त्याग, तप, जप, इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, कषायोपशमन आदि धर्मकार्य-धर्मप्रवृत्ति तो उनके आधीन है। कोई भी किसी भी समय उन्हें इन धर्मकार्यों को करने से रोक नहीं सकता। मगर उपर्युक्त वस्तुओं का उपयोग तो वे धर्मप्राप्त (भिक्षाधर्म से प्राप्त) होने पर ही कर सकते हैं। किन्तु उन वस्तुओं पर अपना स्वामित्वहक स्थापित करके अपना कब्जा नही जमा सकते; न उन इन्द्रियसुखकारी पदार्थों पर वह आसक्तिभाव ही रख सकते हैं।'

वे विपम परिस्थितियों मे भी अपने धर्म पर शुद्धनिष्ठापूर्वक स्थिर रहते है।' इस सम्बन्ध मे स्कन्दकाचार्य के शिष्यों का ज्वलन्त उदाहरण देखिये—

स्कन्दकाचार्य व उनके शिष्यों की कथा

श्रावस्ती नगरी मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम धारिणी था। उसकी कुक्षि से स्कन्दककुमार का जन्म हुआ। 'पुरन्दरयशा' स्कन्दक की बड़ी बहन थी। भाई-बहन मे बडा स्नेह था। बड़ी होने पर पुरदरयशा की शादी कुम्भकारकटक नगर के राजा दण्डक से कर दी गई। दण्डक राजा के दरबार मे पालक नाम का पुरोहित था। एक बार दण्डकराजा ने किसी आवश्यक कार्य से पालक को अपने ससुराल जितशत्रुनृप के पास भेजा। पालक जितशत्रु की राजसभा में पहुचा और उनसे अपने आने का प्रयोजन बताया। बातचीत के सिलसिले मे वहाँ धर्मचर्चा चल पड़ी। पालक ने अपने नास्तिक मत का प्रतिपादन किया, जिसका वहां बैठे हुए जैनतत्त्वों के विशेषज्ञ स्कन्दककुमार ने अपनी अकाटय युक्तियो से खण्डन कर दिया। पालक निरुत्तर और हतप्रभ हो गया। उसके अहंकार को चोट लगने के कारण चोट खाए हुए सांप की तरह वह क्रोध से तमतमा उठा। मगर वहाँ वह कुछ न कर सका। अपने कार्य से निवृत्त हो कर वह कुम्भकारककटक वापिस आया और अपमान का बदला लेने की ताक में रहने लगा।

एक बार भगवान् मुनिसुव्रतस्वामी विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में पधारे। स्कन्दककुमार भी उनके दर्शन और वन्दन के लिए गया। प्रभु का वैराग्यमय धर्मप्रवचन सुन कर स्कन्दककुमार को संसार से विरक्ति हो गई। उसने ५०० राजपुत्रों के साथ मुनि-दीक्षा अंगीकार की। स्कन्दकमुनि ने दूर-सुदूर देशों में उग्रविहार

साथ में लाया है। आपके साथ युद्ध में जीत कर यह आपका राज्य हथियाने के लिए आया है।" दण्डकराजा—"यह बात तुम कैसे जानते हो?" पालक ने कहा—"महाराज! हाथकंगन को आरसी क्या? मैं आपको इसकी धूर्तता का प्रत्यक्ष प्रमाण बताता हूं। आप मेरे साथ चल कर देख ले!" राजा को पालक की बात कुछ वजनदार लगी। पालक ने चालाकी से स्कन्दकाचार्य आदि सभी साधुओं को दूसरे वन मे भेज दिये, और उनके जाने के बाद वह राजा को साधु जहाँ ठहरे हुए थे; उसी वनभूमि मे ले गया एवं जहाँ पहले उसने शस्त्र गाड़े थे, वहाँ से खोद कर निकाले और राजा को बताए। शस्त्रों को देखते ही राजा क्रोध से आगबबूला हो उठा। राजा ने तुरंत पालक को अनुमति दे दी—"तुम इन्हे जो भी दण्ड देना चाहो, दे सकते हो; तुम्हें खुली छूट है। पालक की बाछे खिल गईं। राजा तो इतना कह कर अपने महल में लौट आया। लेकिन दुष्ट पालक ने अपना वैर वसूल करने के लिए मन में युक्ति सोच कर मनुष्यों को पीलने वाला एक महायंत्र (कोल्हू) मंगाया। राजा के नाम से उसने सजा का हुक्म जारी किया। और स्कन्दकाचार्य के देखते ही देखते क्रमशः एक-एक साधु को कोल्हू में डलवाया। कोल्हू में अपने शिष्यों को पीलते देख स्कन्दकाचार्य प्रत्येक साधु को शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान का उपदेश दे कर उसे आलोचना करवाते हैं, यथोचित प्रायश्चित्त दे कर शुद्ध करते हैं, मन मे समाधिभाव उत्पन्न करवाते हैं। फलस्वरूप उन साधुओं ने शरीर पर से ममत्त्व का सर्वथा त्याग कर दिया। और यही सोचा—"पीलने वाले का कोई दोष नहीं, दोष हमारी आत्मा का है; जिसने ऐसे भयंकर कर्म किए हैं। किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना उनका क्षय नहीं हो सकता।" इस प्रकार राग-द्वेष से रहित और अन्तःकरण में पालक आदि के प्रति करुणा से व्याप्त हो कर उन मुनियों ने शुक्लध्यान

गया और रानी पुरन्दरयशा के महल के आंगन में आ कर गिरा। पुरन्दरयशा पहचान गई कि यह तो मेरे भ्राता-मुनि का रजोहरण है। परन्तु उसे रक्त से लिप्त देख कर उसे गहरी आशंका हुई। इतने में तो नगर मे मुनियों को कुमौत मारने का भयंकर शोरशराबा होता सुना और जब अपने विश्वस्त व्यक्तियों से सारी घटना यथार्थ-रूप से सुनी तो पुरन्दरयशा जोर से चिल्ला उठी–"हाय रे पापात्मा ! महान् अत्याचारी ! दुष्ट ! यह क्या भयंकर दुष्कर्म कर डाला ? मुनि-हत्या का पाप तो सातों ही पीढ़ियों को भस्म कर देगा। मुनिहत्या साधारणहत्या नहीं है ! धिक्कार है तुम्हे ! मैं अब ऐसे पापामहल मे और पापमय संसार में नहीं रह सकती।" उसे संसार से विरक्ति हो गई। उसकी आत्मा साधुत्व की साधना के लिए तड़फ उठी। शासनदेवता ने सपरिवार उठा कर उसे मुनिसुव्रतस्वामी की सेवा मे पहुचा दिया। वहाँ उसने साध्वोदीक्षा ले कर स्वपरकल्याण की साधना की।

इधर स्कन्दकाचार्य का जीव मर कर अपने पूर्वकृत निदान के फलस्वरूप अग्निकुमार-निकायदेव बना। उसने अवधिज्ञान से उपयोग लगा कर कुम्भकारकटक नगर को देखा। देखते ही क्रोधान्ध हो कर उसने राजा दण्डक, दुष्ट पालक तथा नगरवासियों के सहित उस सारे प्रदेश को भस्म कर डाला। इसी कारण वह प्रदेश 'दण्ड-कारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ कहना यही है कि स्कन्दका-चार्य के सभी शिष्य प्राणान्त कष्ट दिये जाने पर भी क्रोधित न हुए, अपने क्षमाधर्म से जरा भी न डिगे; जिसके कारण वे सभी मोक्ष पहुंचे। इसीलिए शास्त्र में कहा है—'उवसमसारं खु सामण्णं, (श्रमणत्व का सार उपशम-शान्ति है) कहा भी है—

क्षमाखड्गं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥

हरिकेशबल का कौन-सा कुल था ? फिर भी उनके तप से आकम्पित (प्रभावित) हो कर देव भी उनकी सेवा करते थे।'

भावार्थ—'जैनशासन मे धर्माराधना करने मे कुल को कोई प्रधानता नहीं दी जाती। ऐसा कोई यहां नियम या विधान नहीं है कि उग्र, भोग आदि उच्चकुल मे पैदा हुआ व्यक्ति ही धर्माराधना कर सकता है। बल्कि उच्चकुल मे जन्म ले कर भी यदि कोई नीच कार्य-धर्मविरुद्ध अनाचार-करता है तो वह नरकादि नीच गतियो में अवश्य जाता है और नीच कहलाने वाले कुल मे पैदा हो कर भी कोई सज्जन मुनिधर्म या श्रावकधर्म की सम्यक् आराधना करता है तो वह सद्गति का भाजन बनता है। क्या हरिकेशीबल का जन्म उच्चकुल में हुआ था ? नहीं, उसका जन्म हुआ था चाण्डाल के कुल मे। लेकिन साधु-जीवन अङ्गीकार करके उन्होंने वैराग्यपूर्वक तप, जप और संयम की इतनी उत्कृष्ट आराधना की थी कि मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवता भी आकर्षित हो कर उनकी सेवा-भक्ति मे तत्पर रहते थे। इसीलिए जैनधर्म मे सदाचरण की ही प्रधानता है, कुल, जाति आदि की नहीं।'

यहाँ पूर्वजन्म के वर्णनपूर्वक हरिकेशबल की कथा दे रहे है—

हरिकेशबल मुनि की कथा

किसी समय मथुरा नगरी में शंख नामक राजा राज्य करता था। वह न्याय करने में बहुत निपुण था। एक बार शख राजा ने मुनिराज का उपदेश सुना और संसार की असारता जान कर वैराग्यभाव से मुनिदीक्षा ग्रहण की। विहार करते हुए वे एक बार हस्तिनापुर पधारे। वे शहर मे जाने का रास्ता नही जानते थे। इसलिए भिक्षा के लिए जाते समय उन्होने सोमदेव-पुरोहित से शहर में जाने का

की आराधना करने लगा। किन्तु ब्राह्मण जाति के अभिमान (मद) के संस्कार उसमें बार-बार उछलकूद मचाने लगे। वह नीच कुल में जन्म लेने वालों का अपमान कर बैठता और अपनी उच्च जाति-कुल का अभिमान प्रगट करता। महाव्रतों की आराधना तो चिरकाल तक की, लेकिन अन्तिम समय मे अपने जाति-मद की आलोचना नहीं की। यहां से मर कर वह देव बना।

वहाँ चिरकाल देवलोक के सुखों का उपभोग कर अपना आयुष्य-पूर्ण करके सोमदेव पुरोहित का जीव नीचगोत्र के कर्मबन्धन के कारण गंगातट पर बलकोट नामक चण्डाल की पत्नी गौरी की कुक्षि से पुत्ररूप मे उत्पन्न हुआ। माता ने स्वप्न मे नीलवर्ण का यक्ष देखा था; इसलिए उसका नाम हरिकेशबल रखा। बड़ा होने पर हरिकेश एक दिन अपने हमजोली लडकों के साथ खेल रहा था। बसंत का उत्सव चल रहा था। हरिकेश भी अपने मस्तीभरे बचपन में दूसरो को कुछ नहीं गिनता था। वह अकसर दूसरे बालकों को पीट दिया करता था। बचपन मे बच्चे का स्वभाव ऐसा ही होता है। कहा भी है—

"न सहंति इक्कमिक्क, न विना चिट्ठंति इक्कमिक्केण।
रासह-वसह-तुरगो, जुआरी पडिया डिंभा॥"

अर्थात्—"गधा, बैल, घोडा, जुआरी, पंडित और बालक; ये एक दूसरे को सहन नही कर सकते और न एक-दूसरे के बिना रह ही सकते हैं।"

हरिकेशबल का शरारती स्वभाव देख कर सब बालकों ने मिल कर उसे अपनी मंडली से निकाल दिया। उन्ही दिनों मे वहाँ एक बार एक सर्प निकला। सर्प को देखते ही लोग उस पर टूट पड़े और उसे मार डाला। उसी समय एक दूसरा सर्प निकला, जो दो

मिलता है। सिद्धान्त भी इस बात का साची है—

"तए सथारनिविट्ठो वि, मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिमुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥"

अर्थात्—'जिसके राग, द्वेष, भय और मोह नष्ट हो गए है, वह मुनिवर अपने संथारे (शयनासन) पर बैठा-बैठा ही जब मुक्ति के सुख को प्राप्त कर लेता है, तब चक्रवर्ती का पद पाना उसके लिए क्या कठिन है ?'

इस तरह संवेग के रंग मे हरिकेश का मन रंग गया। उसने अपने वैराग्य को सार्थक करने और संयम का रास्ता पाने के लिए उत्तम गुरु की खोज की। गुरु के अनुपम जिनप्रवचन सुन कर उसने उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण की। और दुष्कर छट्ठ (वेला), अट्ठम (तेला) आदि तप करने लगा। विषयों को विष के समान समझ कर हरिकेश मुनि उन्हे छोड़ कर तप-संयम पूवक विचरण करने लगे। एक बार घूमते-घूमते एक मास के उपवास तप करके वे वाराणसी पहुंचे। वहां तिन्दुकवन में तिन्दुकयक्ष के मन्दिर मे वे कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े थे। उनकी तप.शक्ति से प्रभावित हो कर तिन्दुकयक्ष भी उनकी सेवा मे तत्पर हो गया। सचमुच, तप का बड़ा ही प्रभाव है। एक अनुभवी ने कहा है—

"यद्दूरं यद्दुराराध्यं यत्सुरैरपि दुर्लभम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्।"

अर्थात्—'जो चीज दूर है या बड़ी कठिनाई से आराध्य है और देवों के द्वारा भी दुर्लभ है, वह सब तपस्या के द्वारा प्राप्त हो सकती है। क्योंकि तप का फल अचूक है।'

जब मुनि ध्यानस्थ खड़े थे, ठीक उसी समय वाराणसी के राजा

मेरे साथ पाणिग्रहण करके मुझे स्वीकारें। मैं आपके चरणों की दासी बन कर आपकी आज्ञावर्ती हो कर रहने आपकी सेवा मे आई हू।" समभावी मुनि ने कहा—"भद्रे! मुनि कामादिविषयों की आसक्ति से सर्वथा दूर रहते है। इसलिए हमे तेरे साथ पाणिग्रहण करने से कोई मतलब नहीं।" तिन्दुकयक्ष ने मौका देख कर मुनि के शरीर मे प्रवेश किया और राजकन्या के साथ शादी करके उसको तिरस्कृत करके छोड़ दी। इस शादी को स्वप्नोपम जान कर कन्या हताश हो रोती हुई अपने पिता के पास पहुंची। उनसे सारी आप-बीती घटना सुनाई। संयोग वश रुद्रदेव नाम का राजपुरोहित भी वहाँ बैठा था। उसने सुन कर कहा—"महाराज! यह कन्या ऋषिपत्नी बनी है और अब ऋषि ने इसे छोड़ दी है। इसलिए ऋषित्यक्ता पत्नी ब्राह्मण को अर्पित की जाती है, इस वेदवाक्य के विधानानुसार आप इसे ब्राह्मण को अर्पण कर दें।" राजा ने उसी समय अपनी कन्या रुद्रदेव पुरोहित को समर्पित कर दी।

रुद्रदेव यज्ञ-याग करने वाला पुरोहित था। एक बार उसने यज्ञ प्रारम्भ किया। यज्ञ मे पति के साथ-साथ पत्नी को भी भाग लेना जरूरी होता है। राजकुमारी सुभद्रा को रुद्रदेव ने पत्नी के रूप मे नियुक्त की। यज्ञमण्डप मे उस समय बहुत से ब्राह्मण आए हुए थे। कुशलयाज्ञिक यज्ञकर्म करने में तल्लीन थे। उन सबके लिए अनेक प्रकार का स्वादिष्ट भोजन तैयार कराया गया था। उसी दरम्यान महामुनि हरिकेशबल अपने मासक्षमण (एक मासिक उपवास) के पारणे के लिए भिक्षा ग्रहण करने संयोगवश उसी यज्ञमण्डप में प्रविष्ट हुए। मुनि को यज्ञमण्डप में आते देख रोषाविष्ट हो कर ब्राह्मण चिल्लाने लगे—"अरे! यह कालाकलूट, भूत-सा भयंकर मैलेकुचैले शरीर व वस्त्रों वाला बेडौल और बदसूरत कौन यहाँ आ रहा है? रोको इसे वहीं!" उसी समय तपस्वी महामुनि ने ब्राह्मणों द्वारा आगमन

भीत हो कर वह अपने पति रुद्रदेव आदि से कहने लगी—"अजी ! आप लोगों को क्या दुर्बुद्धि सूझी कि इन पवित्र तपस्वी मुनि को सताया। इसी का दुष्परिणाम आप देख रहे हो। अब और अधिक इन्हें सताओगे तो यमलोक पहुंच जाओगे। यह मुनिराज महाप्रभावशाली और तपस्वी हैं और तिन्दुकयक्ष के पूजनीय हैं। मैंने इन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए पहले बहुत प्रयत्न किया, लेकिन धन्य है, इन मुनिवर को, यह जरा भी विचलित नहीं हुए।" यों कह कर सुभद्रा ने मुनि के चरणों में नमन करके कहा—'कृपासिन्धो ! ये सब अनाड़ी और मूर्ख लोग हैं। मेरे अनुरोध से आप इनका अपराध क्षमा करें। मैं इनके बदले आपसे क्षमा मांगती हूं।" मुनि ने कहा—"देवानुप्रिये ! मैंने इन पर क्रोध नहीं किया है। क्योंकि मुनि को किसी पर भी क्रोध नहीं करना होता। क्रोध से बड़ा अनर्थ होता है। कहा भी है—

"जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए पुव्वकोडीए।
तंपि अ कसायमित्तो हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥"

"एक करोड़ पूर्व वर्ष से कुछ कम समय तक अर्जित किये हुए चारित्रधन को साधक सिर्फ एक मुहूर्त (४८ मिनट) तक कषाय (क्रोधादि) करके सर्वस्व गंवा देता है।" इसलिए मुनि को किसी भी प्रकार का क्रोधादि न करके समभाव में स्थिर रहना चाहिए। मैंने भी ऐसा ही किया है। परन्तु मेरे प्रति भक्तिवश यक्ष ने ही यह सब किया है। रुष्टयक्ष को आप सब लोग प्रसन्न करें।" मुनिवचन सुन कर ब्राह्मणों ने उस यक्ष से क्षमा मांग कर उसका अर्चन करके उसे प्रसन्न किया; जिससे थोड़ी ही देर में सभी घायल ब्राह्मण होश में आए और स्वस्थ हो गए। मुनि के तपस्तेज से प्रभावित सभी ब्राह्मण अब यज्ञकर्म को छोड़ कर उनके चरणों में गिर पड़ा

धर्मश्रवण कर ज्ञान प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।" ऐसा कहते हुए वे सब लोग वहीं यज्ञमंडप में बैठ गए और मुनि को उपदेश देने की प्रार्थना करने लगे। मुनि ने उचित अवसर देखकर धर्मोपदेश दिया। जिसे सुन कर सभी ब्राह्मणों ने देशविरति श्रावकधर्म अंगीकार किया। हरिकेश मुनि ने भी महाव्रतों की सम्यक् प्रकार से आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

इसलिए जैनशासन में कुल की प्रधानता नहीं है, गुणों की ही प्रधानता है। अगर आत्मा मे गुण न हों तो उच्च कुल भी क्या कर सकता है? अतः यह आत्मा कर्मानुसार नट की तरह नये-नये स्वांग धारण करके नाना योनियाँ प्राप्त करके अनेक प्रकार के शरीर (संसारपरिभ्रमणवश) धारण करता है। 'कुल' के अभिमान को इसमें अवकाश ही कहाँ है? कर्मों को शुभ करने या क्षीण करने के लिए आत्मा मे सत्य-अहिंसा, क्षमा आदि गुण प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

अब विभिन्न कुलों या योनियों में जन्म के कारण भूत कर्मों की विचित्रता बताते हैं—

देवो नेरयइउत्ति य कीडपयंगुत्ति माणुसो वेसो।
रूवस्सी अ विरूवो सुहभागी य दुक्खभागी अ ॥४५॥
राउत्ति य दमगुत्ति य एस सपागुत्ति एस वेयविऊ।
सामी दासो पुज्जो खलत्ति अधणो धणवइत्ति ॥४६॥
न वि इत्य कोवि नियमो सकम्मविणिविट्ठसरिसकयचिट्ठो।
अनुन्नरूववेसो नडुव्व परियत्तए जीवो ॥४७॥

शब्दार्थ—'यह जीव अपने-अपने कर्मवश देव बना, नारक बना,

उनके चरणों मे आई, मगर वज्रस्वामी जरा भी लुब्ध नहीं हुए। इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी ऐसी निर्लोभता धारण करनी चाहिये ।'

भावार्थ—'रूप-लावण्य आदि गुणों से सम्पन्न रुक्मिणी नाम की अपनी कन्या करोड़ों स्वर्णमुद्राओं के सहित धनवाह सार्थवाह श्रीवज्रस्वामी के चरणों मे समर्पित कर रहा था, लेकिन वज्रस्वामी के दिल के किसी कोने मे धन या स्त्री मे जरा भी आसक्तिभाव नहीं आया। बल्कि उन्होंने उसे योग्य धर्मोपदेश दे कर धर्मबोध प्राप्त कराया और साध्वीदीक्षा दी। सभी मुनियों को ऐसी ही निर्लोभता रखनी चाहिए।

इस सम्बन्ध में प्रसंगवश वज्रस्वामी का दृष्टान्त दे रहे है—

श्रीवज्रस्वामी की कथा

तुम्ववन गांव में धनगिरि नाम का एक कुशल व्यापारी रहता था। वह अत्यन्त भद्रिक था। उसकी पत्नी का नाम सुनन्दा था। उसके साथ सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष बीत गए। एक बार धनगिरि को गुरुवर का उपदेश सुन कर वैराग्य हो गया और उन्होंने अपनी धन-सम्पत्ति, जमीनजायदाद एवं सगर्भा पत्नी को छोड़ कर गुरुवर सिंहगिरि से मुनिदीक्षा अंगीकार की। मुनि बन कर वे उग्र तपस्या करने लगे और गुरुसेवा मे तल्लीन हो कर सारणा (संभल कर देना), वारणा (अशुद्ध पढ़ते हुए को रोकना), चोयणा (प्रेरणा करना) और पडिचोयणा (वार-वार प्रेरणा करना) आदि धर्म-प्रेरणाओं मे निपुण हो गए। धनगिरि के दीक्षा लेने के बाद सुनन्दा की कुक्षि से पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र-जन्म की बधाई देने के लिए सुनन्दा के यहां स्वजन-सम्बन्धी आने लगे। वे परस्पर कहने लगे—"इस बालक के पिता ने तो दीक्षा ले ली है। अगर गृहस्थ मे रहते

कहना है—

'सुलहो विमाणवासो, एगच्छत्ता वि मेइणी सुलहा ।
दुल्लहा पुण जीवाण जिणदवरसासणे बोहि ॥'

'वैमानिक देव बनना सुलभ है; पृथ्वी पर एकछत्र राज्य (चक्रवर्तित्व) प्राप्त करना भी आसान है, किन्तु जिनेश्वरदेव के श्रेष्ठ शासन मे बोधि प्राप्त करना परम दुर्लभ है ।'

"परन्तु माता के मोहजाल को कैसे छुड़ाया जाय ?" इस पर विचार करते-करते वज्र को सहसा एक युक्ति सूझी । माता को हैरान करने के उद्देश्य से वह जोर-जोर से रोने लगा । माता ने उसका रोना बंद कराने के लिए वहुतेरे उपाय किये, पर सब व्यर्थ ! ज्यों-ज्यो वह उसे चुप करने का प्रयत्न करती, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक रोता जाता । माता के हृदय मे बालक के प्रति वात्सल्य भरपूर था, लेकिन बालक के अतिरुदन से वह झुंझला उठती । माता की झुंझलाहट कम होगी तो उसका मोह पुनः जाग उठेगा; इस लिहाज से बालक-वज्र ने अपना रोना जारी रखा । इस तरह ६ महीने हो गए । सुनन्दा उद्विग्न हो कर सोचने लगी कि अगर पतिदेव आ जांय तो उन्हें सोंप कर इस बला से छुट्टी पाऊं । उन्हीं दिनों सिंहगिरि आचार्य उस गांव मे पधारे । नागरिक लोग उनके दर्शनार्थ आए । आचार्यश्री ने उन्हें धर्मोपदेश दिया । धर्मसभा विसर्जित हो जाने के बाद जब भिक्षापात्र झोली में डाल कर धनगिरिमुनि आचार्यश्री से भिक्षार्थ जाने की आज्ञा प्राप्त करने आये तो उन्होने उनसे कहा—"आज भिक्षाचरी में तुम्हें सचित्त या अचित्त जो भी मिले, ले आना ।" गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर धनगिरि भिक्षा के लिए गांव में गये । भिक्षाटन करते-करते वे सुनन्दा (पूर्वाश्रम की पत्नी) के यहां पहुंच गये, उसे धर्मलाभ कहा । सुनन्दा ने सबसे पहले उन्हें यही कहा—"स्वामिन् !

मैने एक युक्ति सोची है—"तुम दोनो बारी-बारी से इस बालक को अपने पास बुलाओ। बुलाने पर यह बालक जिसके पास चला जाय, उसीका पुत्र समझा जायगा। यही मुझे न्याययुक्त लगता है।" सुनन्दा को पहले मौका दिया गया। उसने बालक को बुलाने और अपनी ओर खींचने के लिए बढ़िया-बढ़िया खाने की वस्तुएँ, विचित्र आभूषण तथा बालक के मन को बहलाने वाले विविध खिलौने आदि सामने सजा कर रखे और वात्सल्यमय मधुर कोमल शब्दों में पुकारा—"वत्स! आओ, इधर देखो, यह रथ, घोड़ा और हाथी लो; यह लो लड्डू, नारंगी और मेव! बेटा! देर मत करो, मेरी गोद मे आ जाओ।" माता के बारबार ऐसा कहने पर वज्रकुमार ने जरा भी उसके सामने या खिलौनों व मिठाइयों की ओर देखा तक नहीं। माता यह देख कर बड़ी दुःखित हो गई। इसके बाद धनगिरिमुनि ने रजोहरण दिखाते हुए कहा—"वत्स! यदि तू सांसारिक मोहबन्धन से छूट कर आत्मिक सुख को पाने के लिए मुनिदीक्षा लेना चाहता है, तो यह धर्मध्वज—रजोहरण—ले ले।" यह सुनते ही मोह-शृंखला को तोड़ने के लिए तत्पर वज्रस्वामी ने तुरन्त दौड़ कर गुरु महाराज के हाथ से रजोहरण ले लिया और उसे अपने मस्तक पर चढ़ा कर हर्षोत्फुल्ल नेत्रों से नाचने लगा। राजा ने फौरन ही धनगिरिमुनि के पक्ष मे फैसला दे दिया। और बालक वज्रकुमार उन्हें सौंप दिया। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को आश्चर्य के साथ प्रसन्नता हुई। सभी कहने लगे—"देखो तो सही, तीन साल के बालक के ज्ञान को!" समस्त संघ के सहित मुनिराज वज्रकुमार को ले कर उपाश्रय मे आए।

क्रमश ८ साल के होने पर वज्रकुमार को मुनिदीक्षा दी। पुत्र-मोह से मुग्ध सुनन्दा ने भी संयम अंगीकार किया। वज्रमुनि को योग्य जान कर गुरुदेव ने उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

इसे स्वीकारें और यह रत्नराशि ले कर मुझे अनुगृहीत करें।" आचार्य वज्रस्वामी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"देवानुप्रिय ! तुम्हारी यह कन्या बहुत ही भोली है, यह साधुजीवन का स्वरूप नहीं जानती, इसीलिए ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठी है। आप तो समझते हैं कि हम साधु बन जाने के बाद मन-वचन-काया से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। संसार की सभी स्त्रियां हमारे लिए माता-बहन-पुत्री के समान हैं। किसी भी सांसारिक स्त्री से हम शादी नहीं करते, हमने तो मुक्तिकन्या के साथ पाणिग्रहण कर लिया है। और फिर मल-मूत्र आदि अशुचि से पूर्ण स्त्री शरीर पर आसक्ति करना, यहां तक कि स्पर्श करना भी अनर्थकर है। कहा भी है—

"वरं ज्वलदयःस्तम्भ–परिरम्भो विधीयते ।
न पुनर्नरकद्वाररामा–जघनसेवनम् ॥"

अर्थात्—"जलते हुए लोहे के खंभे का आलिंगन करना अच्छा, मगर नरक की द्वार नारी के जघन का सेवन करना अच्छा नहीं।"

वास्तव में, मोह की निवासस्थलीरूप नारी का शरीर जीवों के लिए पाशबंधन के समान है। अनुभवियों का भी कथन है—

"आवर्तः संशयानामविनयभवनं, पत्तनं साहसानाम्,
दोषाणां सन्निधानं कपटशतमय क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
स्वर्गद्वारस्य विघ्नं, नरकपुरमुख सर्वमायाकरण्डम्,
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्ट विषयमृतमयं प्राणिनामेकपाशः ॥"

अर्थात्—"स्त्री संशयो का भंवरजाल है, अविनय का घर है, साहसों का व्यापारिक नगर है, दोषों का खजाना है, सैकडों कपटों की पुतली है, अविश्वासों का क्षेत्र है, स्वर्ग के द्वार की रुकावट है, नरकपुरी का मुख है, समस्त माया की पिटारी है। न जाने किसने

धनावह ने अपनी पुत्री को समझाया। उसके मन में वज्रस्वामी का उपदेश सुन कर पहले ही वैराग्य का अंकुर प्रगट हो गया था। वह संसार के वास्तविक स्वरूप को जान गई थी। उसके नेत्रों से हर्षाश्रु उमड़ पड़े। उसने हाथ जोड़ कर वज्रस्वामी से कहा—"स्वामिन्! मुझे भवजलतारिणी दीक्षा-नौका का आश्रय दे कर कृतार्थ कीजिए, जिससे मैं आपके बताए और आपके चरण-चिह्नों से अंकित संयममार्ग का अनुसरण कर सकूं।" वज्रस्वामी ने कहा—"भद्रे! कुलीन नारियों के लिए यही मार्ग उचित है। तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो! परन्तु शुभ कार्य में विलम्ब करना ठीक नहीं।" तदनन्तर धनावह श्रेष्ठी ने दीक्षा की आज्ञा प्रदान की और खूब धूमधाम से दीक्षामहोत्सव किया। रुक्मिणी ने उच्चतम वैराग्य-भाव से दीक्षा ली। दीक्षा धारण करने के पश्चात् साध्वी रुक्मिणी ज्ञानदर्शन-चारित्र की सम्यक् आराधना करके देवलोक में पहुंची।

इस प्रकार वज्रस्वामी ने अपने उपदेश द्वारा अनेक भव्यजीवों का उद्धार किया। वे सिर्फ ८ साल तक गृहस्थावस्था में रहे, ४४ वर्ष तक गुरुसेवा में रहे; ३६ साल तक युगप्रधान पद से विभूषित रहे और भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण से ५८४ वर्ष व्यतीत होने के बाद ८८ साल की उम्र में अपना आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में पहुंचे।

यह है धर्म का जीवन में जीताजागता आचरण! जैसे प्रभावशाली धर्मधुरन्धर वज्रस्वामी में निर्लोभता-धर्म, रम गया था, वैसे ही अन्य साधुओं को भी निर्लोभता-धर्म अपनाना चाहिए। यही इस कथा से मुख्यतया प्रेरणा मिलती है।

अंतेउर-पुर-बल-वाहणेहिं वरसिरिघरेहिं मुनिवसहा।
कामेहिं बहुविहेहिंय छंदिज्जंता वि नेच्छंति ॥४६॥

दोससयमूलं जाल पुव्वरिसिविवज्जिय जइ वतं ।

अत्य वहसि अणत्य, कीस अणत्य तव चरसि ॥५१॥

शब्दार्थ—'सैकडों दोषों का मूल कारण होने से मूर्च्छाजाल (धनादि के प्रति आसक्तिजाल) रखना पूर्वऋषियों द्वारा वर्जित है। यदि साधु हो कर भी वमन किए हुए (स्वयं द्वारा त्यागे हुए) अनर्थकारी धन को रखता है तो फिर वह व्यर्थ ही तपश्चरण क्यों करता है ?'

भावार्थ—"सैकड़ों दोषों—अनर्थों—की जड़ समझ कर ही जम्बूस्वामी, वज्रस्वामी आदि पूर्व-मुनिवरों ने दीक्षा के समय में ही धन का त्याग कर दिया था। हे मुने ! यदि तू पहले त्याग किये हुए अनर्थकर धन का मूर्च्छा से पुन. संग्रह करता है तो फिर व्यर्थ ही तप क्यों करता है ? विवेकशून्य काय करने से तो शरीर को ही वृथा कष्ट होता है। साधु के लिए धन का सचय अनेक दूषणों को पैदा करने वाला है। इससे साधु शीघ्र ही सयम से भ्रष्ट हो जाता है। धनसंचय का परिणाम नरकगति की प्राप्ति आदि महान् अनर्थकर है। इसलिए विवेकी साधुजन वर्तमान समय, कर्म, काल आदि का आलंबन न ले कर, पूर्व पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग का ही आलंबन ले और परिग्रह का सर्वथा त्याग करे, यही श्रेयस्कर मार्ग है।"

वह-बध-मारण-सेहणाओ कुओ परिग्गहे नत्थि ?

त जइ परिग्गहच्चिय जइधम्मे, तो नणु पवचो ! ॥५२॥

शब्दार्थ—'क्या परिग्रह के कारण मारपीट, बन्धन, प्राणनाश, तिरस्कार आदि नहीं होते ? इसे जानता हुआ भी साधु यदि परिग्रह रखता है तो उसका यतिधर्म प्रपञ्चमय ही है

षेण का जीव) विशाल हरिवंश मे यादवकुल के पितामह वसुदेव के रूप मे पैदा हुआ।" अतः सिर्फ कुल तारने वाला नहीं होता; अपितु किसी भी कुल मे जन्म ले कर की हुई उत्कृष्ट धर्मकरणी ही जन्मान्तर मे हितकारिणी और भवोत्तारिणी हुई।"

प्रसंगवश यहाँ नन्दीषेण की कथा दी जा रही है—

नंदीषेण की कथा

मगधदेश मे नन्दी नाम का एक गाँव था। वहाँ चक्रधर नामक चक्र को धारण करने वाला एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमिला था। उसके नन्दीषेण नाम का एक पुत्र हुआ। पुत्र का जन्म होते ही उसके माता-पिता चल बसे। अत. नन्दीषेण का मामा उसे अपने घर ले आया। वहीं उसने नन्दीषेण को पालपोस कर बड़ा किया। नन्दीषेण अत्यन्त कुरूप और बेडौल था। उसका सिर बड़ा था, पेट भी ढोल जैसा था, नाक टेढ़ी थी, शरीर बौना था, आँखे बिगड़ी हुई थीं, कान टूटे से थे, केश पीले-पीले थे, पैर से लंगड़ा, कुबड़ा और घिनौना था। घर मे उसे कोई चाहता नहीं था, दुर्भाग्य ने मानो यहीं आ कर अपना डेरा जमाया था। कोई भी महिला उससे प्यार नहीं करती थी। वह सबका घृणा-पात्र था। जो भी उसे देखता, कहता—"अरे दुर्भाग्यशिरोमणि! तू क्यों दूसरे के यहाँ चाकरी (दासता) करता है? परदेश जा और धन कमा कर अपनी शादी क्यों नही कर लेता? कहावत है—'स्थानान्तरितानि भाग्यानि' (भाग्य दूसरे स्थान पर ही खुलता है)।" लोगों की बाते सुन-सुन कर उसे अपने मामा के यहाँ रहना और गुलामी करना अखरने लगा। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह परदेश जा कर ही अपना भाग्य अजमाएगा। जब मामा के सामने उसने अपनी यह इच्छा प्रगट की तो मामा ने फुसलाते हुए कहा—

पुरुष के जोड़े को निर्वस्त्र हो कर अत्यन्त कामासक्तिपूर्वक गाढ़ आलिंगन करते एवं कामक्रीड़ा करते देखा। इसे देख कर उसे कामिनी की प्राप्ति मे वाधक अपने दुष्टकर्मों के प्रति वड़ी ग्लानि हुई। मनुष्य की दुष्ट कर्मगति पर विचार करते-करते वह इस नतीजे पर पहुचा कि उसे कर्मों का अन्त करने के लिए शरीर का ही अन्त कर देना चाहिए।' फलतः वह आत्महत्या करने के लिए वहां से एक निर्जन वन मे पहुचा। वहाँ एक शान्त-दान्त परोपकारी, निःस्पृह सुस्थित नामक मुनि ने उसे आत्महत्या के लिए उतारू होते देखा। मुनि उसकी वृत्ति को जान गए। वे एकदम उसके निकट आये और हाथ के इशारे से उसे रोक कर कहा—"भोले भाई! इस प्रकार की अज्ञानमृत्यु से क्या मिलेगा? तू इन विषयसुखों की अप्राप्ति के कारण जिंदगी से ऊव कर ही तो अपने शरीर का अन्त करना चाहता है न! पर जरा विचार कर। पूर्वजन्मों मे अनन्त वार एक से एक वढ़ कर विषयसुखों का सेवन तेरे जीव ने किया है; फिर भी क्या सफलता मिली? कौन-सी सिद्धि प्राप्त हुई? इसलिए मेरा कहना मान। तू इन विषयसुखों का मार्ग छोड़ कर धर्ममार्ग की शरण ले। मैं तुम्हें अपनाता हूँ। तू एकनिष्ठ हो कर धर्माचरण कर, जिससे तेरे सारे कर्मदोष मिट जायेंगे और न चाहने पर भी अनायास ही विषय-सुख-साधन तेरे सामने प्रस्तुत होंगे। सर्प के फनों के समान भयंकर, और कटु-परिणामप्रद इन विषयभोगों के सेवन से कोई लाभ नहीं। इनके सेवन से न तो कर्मदोष हटेगे और इनका परिणाम ही अच्छा आएगा। उलटे, नये भारी कर्मों का वंध होने से दुःख की परम्परा ही वढ़ेगी। शरीर भी रोग का घर वन जायगा। शरीर में कितनी व्याधियाँ हैं? सुनो—

पणकोडी अडसट्ठी लक्खा नवनवइससहस्स पंचसया।
चुलसी आहिआ नरए अपइट्ठाणम्मि वाहिओ॥

'वेयावच्च नियय करेह उत्तमगुणे धरंताणं ।
सव्वं किर पडिवाई, वेयावच्चं अपडिवाई ॥'

'उत्तमगुणधारक मुनिराजों की नित्य वैयावृत्य (सेवा) करनी चाहिये। क्योंकि अन्य सभी प्रतिपाती हैं (एक बार प्राप्त होने के बाद नष्ट हो जाते हैं), मगर वैयावृत्यगुण अप्रतिपाती है।' वैयावृत्यगुण के कारण नन्दीपेणमुनि की संघ में सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। एक दिन सौधर्म-देवलोक के इन्द्र ने भी नन्दीपेणमुनि की सेवागुण में दृढ़ता की प्रशसा की। दो देवों को इन्द्र की बात पर प्रतीति न हुई। वे नन्दोपेणमुनि की परीक्षा लेने के लिए वेप बदल कर रत्नपुरी पहुचे। उनमें एक ने रोगी साधु का रूप बनाया और नगरी के बाहर उद्यान में लेट गया; और दूसरा देव मुनि का रूप धारण कर वहाँ पहुचा, जहाँ नन्दीपेणमुनि अभी पारणा करने के लिए बैठे ही थे। मुनि नन्दीपेण पहला कौर मुंह मे रखने वाले ही थे कि मुनिरूपधारी देव ने कहा—"अरे नन्दीपेण! वैयावृत्य करने वाले साधु के नाम से तुम्हारी बडी प्रसिद्धि है, परन्तु मेरे गुरु नगरी के बाहर उद्यान में अतिसाररोग से पीड़ित पड़े हैं और तुम यहाँ मजे से निश्चिंत हो कर आहार कर रहे हो!" यह सुनते ही तुरंत नन्दीपेण ने हाथ में लिया हुआ कौर वहीं रख दिया और आहार पर वस्त्र ढांक कर देवमुनि के साथ नगरी के बाहर चल पडे। वहाँ पहुचने पर मुनिवेशी देव ने कहा—"अरे मुनि! पहले इनका मल से भरा शरीर साफ करने के लिए प्रासुक पानी तो ले आओ।" नन्दीषेणमुनि पानी के लिए पात्र ले कर वापिस नगर में आए। कई घरों में घूमे, परन्तु जहाँ भी जाते वहाँ देवमाया के कारण प्रासुक एषणीय निर्दोष जल नहीं मिलता। दूसरी बार वे फिर नगरी में प्रासुकजल के लिए घूमे, मगर फिर भी देव के उपरोध के कारण न मिला। मुनि ने हिम्मत न हारी। तीसरी बार फिर निर्दोषजल लेने के लिए

मुनि को ! मैंने इन्हें इतना डांटा-फटकारा, इतना कष्ट दिया; फिर भी ये अपने सेवाव्रत से जरा भी विचलित न हुए। अतः इन्द्र का कथन अक्षरशः सत्य है।" इस तरह विचार कर दोनों देवों ने अपना वैक्रिय से बनाया हुआ रूप समेट लिया और असली देवरूप में नन्दीषेण मुनि के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो गए। कहने लगे—'धन्य हो मुनिवर! आपकी आत्मा पवित्र है! इन्द्र ने आपकी सेवावृत्ति की जैसी प्रशसा की थी, वैसे ही गुण आप मे हमने पाए। सचमुच, आप क्रोधादि-कषायों को जीत कर और अपनी इन्द्रियों का दमन करके सेवानिष्ठा मे उत्तीर्ण हुए है। हमने आपको बहुत कष्ट दिया; हमारे अपराध क्षमा करें।" यों बार-बार उनकी प्रशंसा करके तथा उनके चरणों में नमस्कार करके दोनो देव अपने स्थान को लौट गए।

देव प्रभाव से नन्दीषेणमुनि के शरीर पर गोशीर्पचन्दन का लेपन हो गया था। उसके पश्चात् चिरकाल तक वैयावृत्य, अभिग्रहतप तथा अनेक प्रकार के दुष्कर तप करते हुए नन्दीषेण मुनि ने १२ हजार वर्ष तक चारित्र पालन किया। अन्तिम समय में उन्होंने दर्भासन पर बैठ कर चारों ही आहार और अठारह ही पापस्थानों के त्यागरूप अनशन (संल्लेखना-संथारा) स्वीकार किया। कर्मोदय-वश उस दौरान नन्दीषेणमुनि ने अपने पूर्व दुर्भाग्यपूर्ण गार्हस्थ्यजीवन का स्मरण करके इस प्रकार का निदान कर लिया—"इस तप और चारित्रादि के फलस्वरूप आगामी जन्म में मैं नारी-वल्लभ बनू।" निदानसहित वहाँ से आयुष्यपूर्ण कर वे ८ वे (सहस्रार) देवलोक में पहुचे।

देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर नन्दीषेण के जीव ने सौरीपुर नगर में अन्धकविष्णु राजा की सुभद्रारानी की कुक्षि से पुत्ररूप मे जन्म लिया। नाम रखा गया—वसुदेव। समुद्र-विजय आदि ९ वसुदेव

बाहर निकल गया। फिर मरघट से किसी मुर्दे को चुपके से उठा लाया और नगर के सदर दरवाजे के पास ला कर उसे फूक दिया। वहाँ उसने अपने हाथ से लिख दिया—"वसुदेव यहाँ जलमरा है। इसलिए नगर के लोग अब निश्चिततापूर्वक सुख से रहे।" नन्दीषेण इस प्रकार लिख कर उस नगर को छोड़ कर चल दिया। प्रातःकाल राजा समुद्रविजयजी को जब इस बात का पता लगा तो वे शोकमग्न हो गए। सोचने लगे—'बडा आश्चर्य होता है कि सुकुलोत्पन्न हो कर भी वसुदेव ने दुष्कुलोचित आचरण किया और स्वय ही स्वेच्छा से इस ससार से चला गया। मगर अब क्या किया जाय ? निरुपायता है ! जो होने वाला होता है, वह हो कर ही रहता है।' इस प्रकार मन को आश्वस्त किया।

वसुदेव भी विभिन्न देशो मे नये-नये रूपों, वेशों और आचारो को धारण करके १२० वर्ष तक पर्यटन करता रहा। विभिन्न देशों मे घूमते हुए प्रबल भाग्योदय एव रूपलक्ष्मी के कारण विद्याधरों, राजाओं तथा अन्य वर्णों की ७२००० कन्याओ के साथ वसुदेव ने पाणिग्रहण किया। राजकुमारी रोहिणी के स्वयंवर मे कुबड़ा रूप धारण करके गया, फिर भी राजकुमारी ने रूप से आकर्षित हो कर वसुदेव के गले मे वरमाला डाली। यादवकुमारों ने नीचजाति का समझ कर इसके साथ युद्ध किया। मगर युद्ध मे भी अपना जौहर दिखा कर वसुदेव ने अपना स्वरूप प्रगट किया। इससे समुद्रविजय आदि को बहुत ही आनन्द हुआ। आश्चर्यपूर्वक लोग कहने लगे—"वसुदेव के पूर्वपुण्यराशि की ही प्रबलता है, जिसके कारण इसने इतने चमत्कार दिखाए।" वहाँ से वसुदेव अपने स्वजनों के साथ सौरीपुर आया।' अन्त में देवकराजा की पुत्री देवकी के साथ विवाह हुआ। देवकी की कुक्षि से उनके श्रीकृष्ण वासुदेव नामक महाप्रतापी

रूप मे दिये। उन दो मुनियों के चले जाने के कुछ ही देर बाद संयोगवश दूसरा दो मुनियों का गुट भी वहीं पहुचा। देवकी महारानी ने उन्हे भी उसी भावना से मोदक दिये। उनके चले जाने के कुछ ही समय पश्चात तीसरा मुनिद्वय का गुट भी अनायास ही वहीं पहुच गया। उन्हे भी सहर्ष भिक्षा देने के बाद देवकी रानी को छहों मुनियों की एक-सी आकृति, एक-सा रंगरूप देख कर भ्रान्तिवश विचार आया कि ये मुनि बार-बार मेरे यहाँ पधारे, इसका क्या कारण है ?" देवकी रानी ने अन्तिम गुट के मुनिद्वय से पूछा—"मुनिवर! क्या प्रत्यक्ष देवलोक के समान इतनी लम्बी-चौडी विशाल द्वारिका नगरी के लोगो की धर्मभावना में कमी आ गई है कि मुनियों को आहारपानी नहीं मिलता; जिससे बार-बार उन्हे यहाँ आना पड़ा ? कहीं मेरी भूल हो रही हो तो माफ करना!" मुनियों ने कहा—"महारानी! द्वारकानगरी के लोगों की धर्मभावना में कोई न्यूनता नहीं आई, और न ही हमे मुनि तुम्हारे यहाँ बारबार आये है। मालूम होता है, पहला और दूसरा मुनिद्वय का गुट भी तुम्हारे यहाँ ही आया है, तुम भूल से प्रथम और द्वितीय गुट के मुनियों को ही हमे समझ रही हो। वे दूसरे थे, हम दूसरे है। महारानीजी! आपको हमारी एक-सी आकृति और एक सरीखा रूप-रग देख कर एक होने का भ्रम हो गया है। असल में, हम छहों सहोदर भाई है, भद्दिलपुर के नागगाथापति के पुत्र है, हम छहों ने संसार की असारता जान कर भ० अरिष्टनेमि से वैराग्यपूर्वक दीक्षा ली है, और आजीवन छठ-छठ (बेले-बले) तप करते है। आज पारणे का दिन था। हम छहों मुनि तीन गुटों मे विभक्त होकर भगवान् की अनुज्ञा ले कर द्वारिका नगरी मे भिक्षा के लिए पृथक्-पृथक् निकले थे। हम तुम्हारे यहाँ अनायास ही आ पहुंचे है।" यह सुन कर देवकी का सशय दूर हो गया। मुनियो के चले जाने के बाद देवकी विचार करने लगी—"कितने

गुट अनायास ही तुम्हारे पास पहुच गये थ। तुम्हारे साथ माता-पुत्र का सम्बन्ध होने के कारण तुम्हारे हृदय मे वात्सल्य उमड़ा था।" भगवान् के वचन सुन कर देवकी विविध विचारों के झूलती हुई हर्षोत्फुल्ल हो कर महल में पहुची। परन्तु भगवान् के वचन याद आते ही अनमनी-सी हो कर चिन्तासागर मे गोते लगाने लगी—"वे माताएँ धन्य है, पुण्यशालिनी है, जो अपने नन्हे-नन्हे मुन्नों को स्तनपान कराती है, कोमल हाथ फिराती है, उनके तुतलाते हुए मधुर वचन सुनती है, उन्हे अपनी गोद में बिठाती है, दुलार करती है, पुचकारती है और उन्हे खेलाती हैं, मैं तो बिलकुल अधन्या और पुण्यहीना हूँ; क्योंकि मैंने सात-सात पुत्रों को जन्म दिया, परन्तु एक का भी इस तरह लालन-पालन नहीं किया। ये ६ तो सुलसा के यहाँ पले और श्रीकृष्ण जन्म लेते ही नन्द राजा की रानी यशोदा के यहाँ गोकुल भेज दिया गया था, वहीं यह पला! हाय! मैं कितनी अभागिनी हूँ। दुनिया मे मेरे समान कौन माता अभागी और पुण्यहीन होगी?" ठीक उसी समय श्रीकृष्णजी माता देवकी के चरणों में प्रणाम करने आए, परन्तु माता को अत्यन्त चिन्तातुर देख कर उन्होने चिन्ता का कारण पूछा। श्रीकृष्ण के अनुरोध पर देवकी ने अपनी सारी आपबीती और चिन्ता बता दी। माता की चिन्ता दूर करने के लिए श्रीकृष्णजी ने पौषधशाला मे अट्ठम (तेले का) तप किया और हरिणगमैषी देव की आराधना की। देव ने सेवामें उपस्थित हो कर स्मरण करने का कारण पूछा तो श्रीकृष्णजी ने माता की चिन्ता का निवारण करने मे सहायता करने का कहा। देव ने ज्ञान मे देख कर उन्हे कहा—"देवलोक से आयुष्य पूर्ण कर एक भाई तुम्हारी माता की कुक्षि से जन्म लेगा, परन्तु जवानी में कदम रखते ही वह विरक्त हो कर दीक्षा ले लेगा।" श्रीकृष्णजी ने प्रसन्न हो कर माता को यह खुशखबरी सुनाई।

अपने समस्त कर्मों को क्षय करके अन्तकृत् केवलज्ञानी हो कर वे मोक्ष मे पहुचे।

दूसरे दिन श्रीकृष्णजी अपने लघुभ्राता मुनि और भगवान अरिष्टनेमि के वन्दनार्थ आए। उन्होंने आते ही भगवान से पूछा—"भगवन् ! मेरे लघुभ्राता मुनिगजसुकुमार कहाँ है ?" भगवान् ने बताया—"श्रीकृष्ण ! उसने अपना समस्त कार्य सिद्ध कर लिया है।" श्रीकृष्णजी द्वारा पूछने पर भगवान् ने सारी घटना कही। श्रीकृष्णजी को इससे बड़ा धक्का लगा। सोचने लगे—"मेरे राज्य मे मेरे होते एक मुनि की हत्या ! यह तो मेरे लिए सरासर कलंक है।" भ० से उन्होने पूछा—"प्रभो ! ऐसा कौन दुष्ट था, जिसने मुनि-हत्या का कुकर्म किया ?" भगवान् ने उन्हे शान्त होने तथा एक बूढ़े पर अनुकम्पा करके उसकी ईंटे उठाने की सहायता की तरह परमसिद्धि प्राप्त करने मे सहायता देने की बात कही। श्रीकृष्णजी ने जब पूछा कि—"मैं उसे कैसे जान पाऊंगा ? भगवान् ने कहा—"तुम्हे देख कर जो भय के मारे धड़ाम से गिर पड़े और हृदय फट कर मर जाय; तुम जान लेना कि यह वही है।" श्रीकृष्ण शोकमग्न हो कर वापिस अपने राजमहल की ओर लौट रहे थे कि सोमिल सामने से आता हुआ मिला, श्रीकृष्णजी को देखते ही अत्यन्त भयाकुल हो कर वह वहीं धड़ाम से गिर पड़ा और हृदय फट जाने से वही खत्म हो गया। ऋषिहत्या के फलस्वरूप मर कर वह सातवीं नरक मे पहुचा।

जिस प्रकार धैर्यवान गजसुकुमार मुनि ने मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी अत्यन्त क्षमा धारण की; उसी तरह आत्मार्थी साधुओ को सकलसिद्धिप्रदायिका क्षमा धारण करनी चाहिये। इस कथा का यही सार है।

रायकुलेसुवि जाया, भीया जर-मरण-गब्भवसहीण।
साहू सहंति सव्व नीयाण वि पेसपेसाण ॥५६॥

शब्दार्थ—'उन सुसाधुओं—सन्तों—को धन्य है, जो अकार्यों से निवृत्त हैं। उन धीरपुरुषों को नमस्कार है, जो तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं; जैसे स्थूलिभद्र-मुनि ने इस दुष्कर व्रत का आचरण किया था।'

प्रसंगवश इस विषय में स्थूलिभद्र मुनि का दृष्टान्त दे रहे हैं—

स्थूलिभद्र मुनि की कथा

पाटलीपुत्र में उन दिनों नन्द राजा राज्य करता था। उसका मंत्री शकडाल था, जो नागर ब्राह्मण जाति का था। उसकी पत्नी का नाम लाछिलदेवी था। शकडाल के दो पुत्र थे—बड़े का नाम स्थूलिभद्र था और छोटे का था—श्रीयक, तथा यक्षा आदि सात पुत्रियाँ थीं। एक दिन युवक स्थूलिभद्र यौवन के उमंग में अपने मित्रों के साथ हास्यविनोद करते हुए वन के सुन्दर दृश्यों को देखने गया था। वहाँ से वापिस लौट रहा था, तभी उसकी दृष्टि यौवन मे मतवाली रूपलावण्यसम्पन्न कोशा वेश्या पर पड़ी। कोशा को देखते ही स्थूलिभद्र उस पर मोहित हो गया। मित्रों का साथ छोड़ कर वह सीधा कोशा की शृंगारशाला में पहुंच गया। कोशा ने उसकी बड़ी आवभगत की और अपने हावभाव एवं सम्भाषणचातुर्य से स्थूलिभद्र को आकर्षित कर लिया। स्थूलिभद्र भी अपना आगा-पीछा सोचे बिना रातदिन कोशा वेश्या के यहाँ रहने लगा। उसके नृत्य, गीत, राग-रंग, आमोद-प्रमोद, सहवास आदि विषयसुखों में वह इतना तल्लीन हो गया कि अपने माता-पिता और परिवार की भी कोई सुध न रही। पिता को यह मालूम होने पर बड़ा दुःख हुआ। उसने कई बार घर आने के लिए संदेश भिजवाए, मगर स्थूलिभद्र आगे से आगे अपने लौटने की मियाद बढ़ाता गया। पिता ने सोचा—'पुत्र को किसी प्रकार की तकलीफ न हो', इसके लिए वह बार-बार धन

अर्थात्—'वृक्ष के फलरहित होते ही पक्षी छोड कर चले जाते हैं, सरोवर के सूखते ही सारस छोड़ देते हैं, भौंरे कुम्हलाए हुए फूल को छोड़ देते हैं, हिरण जले हुए वनप्रदेश को छोड़ कर चले जाते हैं, वेश्याएँ धनहीन पुरुष को छोड़ते देर नहीं लगातीं, सेवक राज्य से भ्रष्ट राजा को छोड़ देते हैं। इसलिए इस संसार में सभी लोग अपने-अपने स्वार्थवश एक-दूसरे से प्यार करते हैं; परन्तु वास्तव मे कोई किसी का प्रिय नहीं है।'

'इसलिए मैं इस राज्य को ले कर क्या करूंगा! मेरे पिताजी ने राज्य का कार्य कुशलतापूर्वक किया, मगर ईर्ष्यालु लोगो ने उनको भी मौत का शिकार बना डाला; तब फिर मुझे इस राज्य के पदाधिकारी बनने से कौन-सा सुख मिलेगा? धिक्कार है, अनेक अनर्थों के कारण इस राज्य को! जिन विषयसुखों की इच्छा-पूर्ति करने के लिए मनुष्य राज्य की खटपट में पड़ता है, वे विषयसुख भी तो क्षणिक हैं और उनके उपभोग का इच्छुक व्यक्ति भी क्षणिक होने से इन्हे बिना भोगे ही अकाल में ही काल का ग्रास बन जाता है। मेरे पिताजी की मृत्यु का मुझे पता तक न चला। इस प्रकार विचारों के झूले में झूलते हुए स्थूलिभद्र को वैराग्य हो गया। शासनदेवी ने उन्हें मुनिवेश दिया। स्वयं मुनिवेश धारण करके स्थूलिभद्र नन्द राजा की राजसभा में पहुंचे। स्थूलिभद्र को मुनिवेश मे देख सबके आश्चर्य का पार न रहा। नंदराजा ने पूछा—"यह क्या कर लिया आपने?" स्थूलिभद्र—"मैंने सोच समझ कर योग्य ही किया है।" इतना कह कर वे सीधे आचार्य सम्भूतिविजय के पास पहुचे और उनसे मुनिदीक्षा ग्रहण की।

कोशावेश्या ने जब यह सुना तो उसके होश उड़ गए। विरह मे व्याकुल हो कर आँखों से अश्रुपात करती हुई वह विलाप करने लगी—"हे प्राणाधार! आपने मुझे अधबिच में ही क्यों छोड़

मुख द्वारा विरह-दुःख भी व्यक्त करती है, वीणा और मृदंग के मधुर शब्दों के साथ नृत्य, नाट्य, संगीत आदि विविध मनोरञ्जन के कार्यक्रम प्रतिदिन प्रस्तुत करती है; वर्षाऋतु है, वारांगना की चित्रशाला है, भरपूर रूप, लावण्य और यौवन के उन्माद में मदमाती कोशा-वेश्या बार-बार उनसे भोगविलास की प्रार्थना करती है। इतने पर भी वैराग्यरसनिमग्न स्थूलिभद्र नहीं पिघले तो स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना करती है—'प्राणनाथ ! जरा मेरी ओर तो देखो ! यह शरीर आपके चरणों में समर्पित है, फिर भी आप इस दासी के कुचस्पर्श और आलिंगन आदि प्रणयरस का सुख छोड कर क्यों वैराग्य और तप की भट्टी में अपने यौवन को झौंक कर कष्ट पा रहे हैं।" प्रणयरसज्ञों का कहना है—

संदष्टेऽधरपल्लवे सचकितं हस्ताग्रमाधुन्वती।
मा मा मुंच शठेति कोपवचनैरानर्तितभ्रूलता॥
सीत्काराञ्चितलोचना सरभसं यैश्चुम्बिता मानिनी।
प्राप्तं तैरमृतं श्रमाय मथितो मूढै सुरै सागरः॥

अर्थात्—"यौवन में उन्मत्त वनिता के ओष्ठपल्लवों को दांतों से काटे जाने पर वह चकित हो कर हाथ के अग्रभाग को हिलाती है, 'अरे, शठ ! ऐसा मत करो, मत करो, छोड़ो, इस प्रकार के कोपमय वचन कहती हुई भौहोंरूपी लताओं को नचाती है, साथ ही मुंह से सी-सी करती हुई आंखों को मटकाती रहती है, ऐसी मानिनी का झपट कर जिन लोगों ने चुम्बन किया है, वास्तव में उन्हीं पुरुषों ने अमृत प्राप्त किया है; बाकी तो मूढ़ देवों ने अमृत के लिए जो सागरमन्थन किया था, उसमें अमृत क्या मिला, श्रम ही उनके पल्ले पड़ा था।' इसलिए हे प्रियतम ! यह वैराग्यरस की तान छेड़ने का समय नहीं है, इस समय तो आप मेरे साथ यथेच्छ कामसुखों का

'तपे हुए लोहे के थंभे का आलिंगन करना; अच्छा लेकिन नरक के द्वाररूप नारी के जघन का सेवन करना अच्छा नहीं है।'

और फिर यह बात भी है कि एक बार के स्त्रीसम्भोग से अनेक जीवों का घात होता है। सुनो, वह गाथा—

मेहुणसन्नारूढो नवलक्खं हणेइ सुहुमजीवाणं।

तित्थयराणं भणियं सद्दहियव्वं पयत्तेण॥

अर्थात्—"मैथुनसंज्ञावश उस प्रकार की क्रिया मे तत्पर व्यक्ति ९ लाख सूक्ष्म जीवों का घात करता है, ऐसा तीर्थंकरों का कथन है; इस पर प्रयत्नपूर्वक श्रद्धा करनी चाहिये।"

"देवानुप्रिये कोशा! तुम थोडे-से जवानी के काल तक विषयोपभोग करके तृप्त हो जाने की बात कहती हो, किन्तु हमने अनन्तवार अनेक जन्मों में इन विषयों का उपभोग किया है, फिर भी तृप्ति नहीं हुई तो अब कैसे हो जायगी।" नीतिकार का कथन है—

'अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शिवसुखमनन्तं विदधति॥'

अर्थात्—'ये विषय लम्बे समय तक रह कर भी आखिर एक दिन अवश्य ही मनुष्य को छोड़ कर चले जाते हैं। तब फिर विषयों के वियोग मे और उन्हें स्वेच्छा से छोड़ने में अन्तर ही क्या रहा? यदि मनुष्य विषयों को स्वयं नहीं छोड़ता है तो एक दिन विषय उसे स्वयं छोड़ कर चले जाते है, परन्तु वे मनुष्य के मन मे अत्यन्त परिताप पैदा कर जाते हैं। मगर जो मनुष्य स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक इन विषयों को छोड़ देता है, तो वे उसे असीम मोक्षसुख उत्पन्न करा जाते हैं।'

अणुव्रत इस प्रकार से ग्रहण किया कि 'मैं आज से राजा के द्वारा भेजे गए खास पुरुष के सिवाय अन्य किसी भी पुरुष का मन-वचन-काया से सहवास की दृष्टि से स्वीकार नहीं करूंगी।' कोशा अब पापात्मा से पुण्यात्मा, धर्मपरायण और जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों की जानकार बन गई।

स्थूलिभद्र मुनि के तीनों गुरुभ्राता अलग-अलग स्थानों में चातुर्मास बिता कर गुरुदेव आचार्य सम्भूतिविजय के पास पहुच चुके थे। सबके पश्चात् स्थूलिभद्र मुनि वेश्या को प्रतिबोध दे कर चातुर्मास-यापन करके पहुचे। गुरुदेव ने तीनों मुनियों को एक बार 'दुष्कर कार्य किया' इतना कह कर सम्मानित किया, लेकिन जब स्थूलिभद्र गुरुचरणों में पहुचे तो उन्हे आदरपूर्वक तीन बार 'दुष्कर कार्य किया है,' ऐसा कहा। इससे और शिष्य तो संतुष्ट हो गए, लेकिन सिंहगुफा मे चातुर्मास बिताने वाले साधु के मन मे गुरु के इस अंतर पर मन ही मन रोष उमड़ा और ईर्ष्या जागी कि गुरुजी के विवेक को तो देखो। हम तीनों भूख और प्यास आदि से पीड़ित रहे, हमने भयंकर स्थानों पर रह कर सर्दी-गर्मी-बरसात के परिषह सहे, लेकिन गुरुजी ने हमें केवल एक ही बार 'दुष्कर किया' इतना कहा; जबकि जिसने वेश्या के मोहोत्पादक महल में रह कर सोने-से दिन और चांदी-सी रातें काटीं, षड्रसयुक्त स्वादिष्ट पकवान और भोज्यपदार्थ खाए, आमोद-प्रमोद, राग-रग मे दिन बिताए, उस स्थूलिभद्र मुनि को तीन बार दुष्कर-दुष्कर-दुष्कर कहा। यह गुरुजी का पक्षपात है।" वह ईर्ष्यालु बन कर मन मे गांठ बांध कर बैठ गया।

इधर कोशा वेश्या के यहां नन्दराजा की आज्ञा से एक दिन एक रथकार आया। वह बाण चलाने में बडा निपुण था। उसने गवाक्ष में बैठे-बैठे ही बाणविद्या की कला से आम के पेड़ मे लगे हुए पक्के

'योऽग्निप्रविष्टोऽपि हि नैव दग्धश्छिन्नो न खड्गाग्रकृतप्रचारः।
कृष्णाहिरन्ध्रेऽप्युषितो न दष्टो नोऽक्तो जनागारनिवास्यहो य.' ॥३॥

'जो अग्नि में कूद पडने पर भी नहीं जला, तलवार की तीखी धार पर चल कर भी कटा नहीं, भयकर काले साप के बिल में रहने पर भी साप ने जिसे डसा नहीं; तथा सुन्दरीजनो के मकान मे रह कर भी निष्कलक रहा, वह तो एक स्थूलिभद्र ही है।'

'वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनम्।
शुभ्रं धाम मनोहर वपुरहो नव्यो वयः सगमः॥
कालोऽय जलदाविलस्तदपि य कामं जिगायादरात्।
ते वदे युवतीप्रवोधकुशल श्रीस्थूलिभद्र मुनिम्'॥४॥

'वेश्या जिन पर अत्यन्त मुग्ध थी, सदैव आज्ञा मे रहने को तत्पर थी, षड्रसों से युक्त स्वादिष्ट भोजन मिलता था, मनोज्ञ नयनाभिराम प्रासाद था, सुन्दर शरीर था, नई उम्र का संगम था और कामोत्तेजक वर्षाकाल था, फिर भी जिसने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक काम को जीत लिया, युवती को प्रवोधित करने मे कुशल उन मुनि स्थूलिभद्र को मैं वन्दन करती हूँ।

"रे काम! वामनयना तव मुख्यमस्त्रं,
वीरा वसन्तपिक-पंचम-चन्द्रमुख्या।
त्वत्सेवका हरिविरञ्चिमहेश्वराद्या,
हा हा! हताश! मुनिनाऽपि कथ हतस्त्वम्" ॥५॥

'हे कामदेव! सुन्दर नेत्रों वाली ललना तेरा मुख्य अस्त्र है, वसत ऋतु, कोयल की मधुर टेर, पंचमस्वर और चन्द्रमा आदि तेरे मुख्य सुभट हैं; और विष्णु, ब्रह्मा और महेश्वर आदि तेरे सेवक है, अफ-

दे कर अन्त में कहा—"मेरे साथ उनका १२ वर्षों का पुराना घनिष्ठ परिचय था, फिर भी मेरे यहाँ सब प्रकार के सुख-साधनों के बीच रहते हुए भी वे जरा भी चलायमान न हुए, अतः इसे ही मैं दुष्कर-कार्य कहती हूं। अगर आपको दुष्कर कार्य कर बताना हो तो यही करके बताओ।"

वेश्या के स्तुतिमय तथा वैराग्यप्रद कथन से रथकार भी अन्तर्हृदय जाग उठा। उसने उसी समय मन मे संकल्प किया और स्थूलिभद्रमुनि के पास जा कर मुनि दीक्षा ले ली।

स्थूलिभद्रमुनि ने भी दीक्षा के बाद १४ पूर्वो मे से १० पूर्वो का अर्थसहित और शेष ४ पूर्वों का मूलसूत्ररूप में अध्ययन किया। यानी यह अन्तिम चतुर्दशपूर्वधारी मुनि हुए। इन्होने अनेक व्यक्तियो को प्रतिबोध दिया। अपनी निर्मल कीर्ति जगत् में फैलाई, सभी लोगों में प्रसिद्धि प्राप्त की। ब्रह्मचर्य का अनोखा आदर्श जगत् के सामने रखा। यह ३० वर्ष तक गृहवास मे रहे, २४ वर्ष तक साधारण मुनि-जीवन में और ४५ वर्ष तक युगप्रधानपद पर विभूषित रहे। इस तरह कुल ९९ वर्षो का आयुष्यपूर्ण करके श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से २१५ वर्ष पश्चात् यह स्वर्गवासी हुए।

स्थूलिभद्र मुनि ने जैसे दुर्धर ब्रह्मचर्यव्रत मे सुदृढ़ रह कर आगामी ८४ चौबीसी तक अपना नाम अमर कर गए, उसी प्रकार अन्य मुनियो भी गुरु-आज्ञा से व्रतपालन कर यशस्वी बनना चाहिए।

विसयासिपंजरमिव लोए असिपंजरम्मि तिक्खमि।
सिंहा व पंजरगया, वसंति तवपंजरे साहू ॥ ६० ॥

शब्दार्थ—'जैसे जगत् मे तीक्ष्ण खड्गरूपी पींजरे से भयभीत सिंह लकड़ी के पींजरे मे रहता है, वैसे ही विषयरूपी तीक्ष्ण तलवार से डरे हुए मुनि भी तपरूपी पींजरे में रहते हैं'।'

अनादर करता है, वह स्थूलिभद्रमुनि के सिंहगुफावासी तपस्वी गुरुभ्राता की तरह पछताता है। स्थूलिभद्रमुनि से ईर्ष्या करके गुरुवचनों की परवाह न करके वे कोशा की बहन उपकोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास बिताने चले गए थे। नतीजा यह हुआ कि उन्हें लेने के देने पड़ गए। अन्ततः उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ा। सच है, जो गुरु से विमुख रहता है, वह सन्मार्ग से विमुख हो ही जाता है। इसलिए हितैषी गुरुदेव के हितकर वचनों का सर्वप्रथम आदर करना ही विनीत शिष्य का मुख्य कर्तव्य है।' इस विषय में सिंह-गुफावासी मुनि का दृष्टान्त इस प्रकार है—

सिंहगुफावासी मुनि का दृष्टान्त

पाटलीपुत्र नगर मे ही आचार्य सम्भूतिविजय के सिंहगुफावासी मुनि ने स्थूलिभद्र मुनि से ईर्ष्यावश दूसरा चौमासा कोशावेश्या की बहन उपकोशावेश्या के यहाँ बिताने की गुरु से आज्ञा मांगी। गुरु ने उसे इसके लिए अयोग्य समझ कर आज्ञा न दी और भावी अनिष्ट की आशंका देख गुरु ने उसे समझाया—"वत्स! तेरा वहाँ चातुर्मास के लिए जाना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ जाने से तू अपने चारित्र को खो देगा।" परन्तु गुरु के इन्कार करने पर भी आवेश में आ कर सिंहगुफावासी मुनि वहाँ से चल पडा और उपकोशा वेश्या के यहाँ पहुंच कर उससे चातुर्मास-यापन के लिए स्थान की याचना की। उपकोशा ने मुनि को स्थान दिया। जब उसे यह पता लगा कि यह मुनि स्थूलिभद्रमुनि से ईर्ष्या करके यहाँ आया है तो सोचा—"इसे ईर्ष्या का फल चखाना चाहिए।' फलत उसने अपने शरीर को सभी प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित किया। कमर में मधुरस्वर करने वाली करधनी पहनी; पैरों में रणकार करते हुए मणिजटित नूपुर धारण किये, कामदेव की सजीव मूर्ति-सी

से प्रीति नहीं करतीं। पहले आप हमें सन्तुष्ट करने के लिए धन ले आइए। धन मिलने पर ही हम आपका मनोरथ पूर्ण करेंगी।" यह सुन कर मुनि जरा विचार मे पड़ गए कि "धन कहाँ से लाऊ ?" सोचते-सोचते मुनि को सूझा कि उत्तर दिशा में नेपाल देश का राजा नवागन्तुक मुनि को लक्षस्वर्णमुद्रा की कीमत का रत्नकम्बल देता है। इसलिए वहाँ जा कर पहले रत्नकम्बल ले आऊ। इतना कीमती रत्नकम्बल पा कर तो यह अपने साथ मनमाना विषयभोग सेवन करने ही देगी।" ऐसा निश्चय करके कामुक मुनि वर्षाकाल मे ही घनघोर वर्षा होने के बावजूद भी रत्नकम्बल पाने की धुन मे नेपाल देश की ओर चल पड़ा। अनेक जीवों को कुचलते-दबाते व हिंसा करते हुए तथा अनेक कष्ट सहते हुए कई दिनों में वह मुनि नेपाल पहुंचा। वहाँ के राजा को आशीर्वचन कह कर उसने रत्नकम्बल की याचना की। राजा ने उसे रत्नकम्बल दे दिया। उस रत्नकम्बल को ले कर वह वहाँ से लौट रहा था कि रास्ते मे उसे चोरों ने घेर कर लूट लिया। फ़लत. निराश हो कर वह पुनः नेपाल पहुचा और राजा से सारी आपबीती सुना कर रत्नकम्बल देने की याचना की। राजा ने उदारता करके दूसरी बार उसे रत्नकंबल दे दिया। इस बार उसने रत्नकम्बल को एक पोले बांस में डाला और ले कर चल पडा। रास्ते में चोरपल्ली पड़ती थी। वहाँ के चोरों ने शकुनि पक्षी (तोता) पाल रखा था, उसने चोरों को मुनि के पास बहुमूल्य रत्नकबल होने का पता बता दिया। फलतः चोरों ने साधु को घेर लिया और कहा—"तुम्हारे पास एक लाख स्वर्णमुद्राओं का रत्नकम्बल है, बताओ वह कहाँ है ?" पहले तो साधु झूठ बोला कि 'मेरे पास कुछ भी नहीं है।' लेकिन जब चोरों ने उसे धमकाया कि सच-सच बताओ, हमारा यह तोता कभी असत्य नहीं बोलता। सच बताओगे तो हम तुम्हें छोड़ देंगे। अन्यथा, तुम्हारी खैर नहीं

से मैंने गुरुदेव से दीक्षा ली थी ! कितना उत्कृष्ट चारित्र और तप था मेरा ! पर हाय, मुझ अधम ने विषयवासना के मोहजाल में फंस कर सबका सत्यानाश कर दिया, इतने कष्ट भी उठाए, अनेक लोगों की गुलामी भी की ! यह वेश्या बहन मुझे सत्य कह रही है ।" इस प्रकार सोच कर मुनि पुनः वैराग्यवासित हो कर वेश्या से कहने लगा—"बहन ! क्षमा करो मुझे ! मैं विषयवासना के अन्धे कुंए में गिरने जा रहा था, लेकिन तुमने मुझे इस कुंए मे पडने से बचाया है, मुझे उबारा है । धन्य है तुम्हे ! अब मैं भलीभांति विषयवासना के स्वरूप को समझ चुका हूं; इसमे नहीं फसूंगा । अब मैं इस अकृत्य से विरत हो रहा हूं ।" वेश्या ने कहा—"मुनि-वर ! आपको ऐसा ही करना उचित है ।"

इसके बाद वह सिंहगुफावासी वह मुनि वेश्या के यहां से चल पड़ा और सीधे अपने गुरु के पास आया । सर्वप्रथम मुनि स्थूलिभद्र के चरणों में नमन करके क्षमायाचना की और कहा—"मुनिवर ! धन्य है आपको ! ऐसा दुष्करकार्य आप ही कर सकते हैं । मेरे जैसा सत्त्वहीन पुरुष आपके दुष्करकार्य की महत्ता को नही जान सका ।" इसके पश्चात् उसने गुरुदेव से निवेदन किया—"स्वामिन् ! आपने मुनि स्थूलिभद्रजी को तीन बार दुष्करकार्य करने को कहा था, वह वास्तव में यथार्थ था, मैं अपनी मूर्खतावश उस पर अश्रद्धा ला कर मुनि स्थूलिभद्रजी को नीचा दिखाने के लिए आपकी आज्ञा की परवाह न करके चल पड़ा वेश्या के यहाँ चौमासा करने के लिए । परन्तु आपने जैसा कहा था वैसा ही हुआ । मुझे क्षमा करें गुरुदेव ! और आलोचना के अनुसार मुझे प्रायश्चित्त दे कर शुद्ध कीजिए ।" यह कह कर उसने गुरुजी के सामने शुद्ध हृदय से सारी आलोचना यथार्थरूप से की और प्रायश्चित्त के रूप में पुनः महाव्रत ग्रहण करके शुद्ध हुआ और सुगति का अधिकारी बना ।

सेवन आदि) करने को तैयार नहीं होता। अर्थात् विषय-विकार पैदा होने के प्रत्यक्ष निमित्त एव वातावरण मिलने पर भी जो निर्विकारी रहता है, वस्तुत वही धीर, वीर और गम्भीर है। उसीका आत्मस्वरूप चिन्तन प्रमाणभूत है। अन्य सब वाग्गीशूरों का चिन्तन अप्रामाणिक है।'

पागडियसव्वसल्लो गुरुपायमूलमि लहइ साहूपयं।
अविसुद्धस्स न वड्ढइ गुणसेढी तत्तिया ठाइ ॥६५॥

शब्दार्थ—'गुरु के चरणों मे जो अपने समस्त शल्यों को खोल कर रख देता है; वही वास्तव मे साधुपद को प्राप्त करने वाला है। परन्तु जो व्यक्ति दोष-शल्यों से रहित हो कर विशुद्ध नहीं बनता, उसकी गुणश्रेणी आगे नहीं बढ़ती, वह वहीं स्थिर हो (अटक) जाता है।'

भावार्थ—'तत्त्ववेत्ता गीतार्थ गुरुदेव के समक्ष जो सरलभाव से अपने सब दोषों को ज्यों के त्यों प्रगट करके, आलोचना करके निःशल्य होजाता है, वही वास्तव में साधुत्व के आराधकपद को प्राप्त करता है। जो (लक्ष्मणासाध्वी की तरह) मन मे शल्य (कपट) रख कर आलोचना करता है, वह आराधक नहीं हो सकता। ऐसा साधक ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप गुणों की श्रेणी में आगे विकास नहीं कर सकता; वहीं अटक जाता है।'

जइ दुक्करकारउत्ति भणिओ जहट्ठिओ साहू।
तो कीस अज्ज संभूअविजय-सीसेहिं न वि खमियं ॥६६॥

शब्दार्थ—'अगर अपने ज्ञानादि आत्मस्वभाव में स्थित स्थूलिभद्र मुनि को उनके गुरु आचार्य सम्भूतिविजय ने तीन बार दुष्करकारक कह दिया तो इसे उनके सिंहगुफावासीमुनि आदि अन्य शिष्यों ने सहन क्यों नहीं किया?'

शब्दार्थ—अगर कोई व्यक्ति गुणवान् व्यक्ति की—'यह अपने धर्म मे स्थिर है, गुण-समूह से युक्त है,' इस प्रकार की प्रशंसा नहीं सहता तो वह अगले जन्म में हीनत्व (पुरुषवेद से स्त्रीवेद) प्राप्त करता है। जैसे पीठ और महापीठ ऋषि ने असहिष्णु हो कर अगले जन्म मे स्त्रीत्व प्राप्त किया था।

भावार्थ—'यह मुनि चारित्रधर्म मे दृढ़ है, यह वैयावृत्य आदि गुणों से सम्पन्न है,' इस प्रकार की जाने वाली गुणवान व्यक्ति की प्रशसा जो सहन नहीं कर सकता; वह पुरुष दूसरे जन्म मे हीनत्व प्राप्त करता है—पुरुषत्व से स्त्रीत्व प्राप्त करता है। जैसे पीठ और महापीठ ऋषि के जीवों ने ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में स्त्रीत्व प्राप्त किया।

प्रसंगवश यहाँ पीठ-महापीठमुनि की कथा दे रहे है—

पीठ-महापीठ मुनि की कथा

महाविदेहक्षेत्र में वज्रनाभ नामक एक चक्रवर्ती सम्राट् हो गया है। उसने अपनी समस्त राज्य-ऋद्धि छोड़ कर मुनि दीक्षा अगीकार कर ली। उसके बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नामक चार छोटे भाइयों ने भी विरक्त हो कर दीक्षा ग्रहण कर ली। वे सभी ११ अगो के ज्ञाता बने। उन चारों मे बाहुमुनि ५०० मुनियों को आहार ला कर देता था, सुबाहुमुनि उतने ही मुनियों की वैयावृत्त्य (सेवा) करता था; पीठ और महापीठ मुनि विद्याध्ययन करते थे। एक दिन उनके गुरु ने बाहु और सुबाहुमुनि की प्रशसा की, जिसे सुन कर पीठ और महापीठ मुनि ईर्ष्या से जल उठे। सोचने लगे—"इन गुरुजी का अविवेक तो देखो! अभी तक इनका राजत्वस्वभाव नहीं बदला, तभी तो अपनी वैयावृत्य करने वाले और आहार-पानी ला देने वाले मुनियों की प्रशंसा करते हैं और हम दोनों सदा स्वाध्यायतप में रत

भावार्थ—'दंगा-फिसाद करने वाला, मिथ्या विवाद करने वाला, कुल, गण-कुलों का समूह और चतुर्विध (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-रूप) संघ ने जिस व्यक्ति को अयोग्य समझ कर अपनी संस्था से बहिष्कृत कर दिया है, उसे स्वर्ग की देवसभा मे भी शुभ स्थान नहीं मिलता, तो फिर मोक्षगति का कहना ही क्या? वह किल्विष-जाति के नीच देवों मे उत्पन्न होता है; इसलिये उसे देवसभा मे बैठने का अधिकार नहीं मिलता। मनुष्यों मे जैसे चांडाल, चमार आदि हीन गिने जाते है, वैसे देवों मे भी किल्विष देव नीची जाति के गिने गये है।'

जइ ता जणसववहारवज्जियमकज्जयमायरइ अन्नो।

जो तं पुणो विकत्थइ परस्स वसणेण सो दुहिओ ॥७१॥

शब्दार्थ—'यदि कोई जीव लोकव्यवहार में वर्जित चौर्यादि अकार्य करता है तो वह अनाचार-सेवन से स्वय दु:खी होता है और जो पुरुष उस पापकर्म को अन्य लोगों के समक्ष बढ़ा-चढ़ा कर कहता है, वह दूसरे के व्यसन (आदत) से दु:खी होता है।'

अर्थात्—'मनुष्य परनिंदा करने से निरर्थक पाप का भाजन होता है। अत: परनिन्दा त्याज्य है।'

सुट्ठुवि उज्जममाणं पंचेव करिंति रित्तयं समण।

अप्प थुइ, पर निंदा जिब्भोवत्था कसाया य ॥७२॥

शब्दार्थ—'तप, संयम आदि धर्माचरण मे भलीभांति पुरुषार्थ करने वाले साधु को ये पांच दोष गुणों से खाली कर देते है—(१) आत्मस्तुति, (२) परनिन्दा, (३) जीभ पर असंयम, (४) जननेन्द्रिय पर असयम, और (५) कषाय।'

भावार्थ—'तप, जप, संयम, आदि धर्माचरण सम्बन्धी दुष्कर करणी करने वाले मुनिराज को भी ये पांच दोष गुणरहित कर देते

शब्दार्थ—'जिस शिष्य मे गुरु महाराज पर न तो विनय-भक्ति हो, न बहुमान हो, यानी हृदय में प्रेम न हो, न गुरु के प्रति गुरुबुद्धि हो; और न ही भय, लज्जा या किसी प्रकार का स्नेह हो; ऐसे शिष्य के गुरुकुलवास में रहने या रखने से क्या लाभ है ? अर्थात् ऐसा दुर्विनीत शिष्य का गुरु के पास रहना या रखना व्यर्थ है।'

रूसइ चोइज्जतो, वहइ हियएण अणुसयं भणिओ ।
न य कम्हि करणिज्जे गुरुस्स आलो न सो सीसो ॥७६॥

शब्दार्थ—'जो शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर रोष करता है, सामान्य हितशिक्षा देने पर भी गुरु के सामने बोल कर उन्हें डांटने लगता है; तथा जो गुरु के किसी काम मे नहीं आता; वह शिष्य नहीं है। वह तो केवल कलंक-रूप है। शिक्षा ग्रहण करे, वही शिष्य कहलाता है।'

उव्विल्लण-सूअण-परिभवेहिं, अइ भणिय दुट्ठभणिएहिं ।
सत्ताहिया सुविहिया न चेव भिंदति मुहरागं ॥७७॥

शब्दार्थ—'दुर्जनों के द्वारा उद्वेगकर, सूचना-(चेतावनी)-रूप परिभव (तिरस्कार)-रूप अतिशिक्षा (डाट-फटकार) रूप कर्कश वचन कहे जाने पर भी सत्त्वगुणी सुविहित सुशिष्य अपने मुंह का रंग नहीं बदलते।'

भावार्थ—'यहां ग्रन्थकार सुसाधु का लक्षण बताते हैं। दुर्जन लोगों द्वारा क्षोभ पैदा करने वाले, चेतावनी देने वाले, अपमानजनक, असम्बद्ध या तीखे कठोर वचन कहे जाने पर भी शान्त प्रकृति वाले सुसाधु उन पर क्रोध नहीं करते, मुंह नही मचकोडते; अपितु अपने मन में उनके प्रति करुणा आदि भाव धारण करते हैं।'

शब्दार्थ—'साधु मधुर, निपुणता से युक्त, नये तुले शब्दों मे, प्रसंग होने पर, गर्वरहित, तुच्छतारहित और पहले से भलीभांति बुद्धि से विचार करके, धर्मयुक्त और सत्य वचन बोलते हैं। प्राणान्त कष्ट आ पडने पर भी वे अधर्मयुक्त वचनों का उच्चारण नहीं करते।'

सट्ठिवाससहस्सा, तिसत्त खुत्तोदएण धोएण।

अणुचिन्न तामलिणा, अन्नाणतवुत्ति अप्पफलो ॥८१॥

शब्दार्थ— 'तामलितापस ने साठ हजार वर्ष तक छट्ठ (दो उपवास) तप किया। पारणे के दिन वह इक्कीस बार जल से भोजन को धो कर पारणा करता था; परन्तु अज्ञानतप होने से वह अल्पफल वाला हुआ।

भावार्थ—'यदि यह तप दयायुक्त होता तो उसका फल मुक्ति-दायी होता। इसलिये जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा से युक्त तप ही प्रमाण है। तामलीतापस के द्वारा इतना महान् तप करने पर भी उसे तुच्छ देवगति मिली।'

प्रसंगवश तामलितापस का दृष्टान्त दे रहे है—

तामलितापस की कथा

तामलिप्ती नगर मे तामलि नाम का एक सेठ रहता था। उसने एक दिन अपने पुत्र को घर का सारा भार सौप कर वैराग्यमय हो कर तापसदीक्षा ले ली, और नदी के किनारे कुटिया बना कर रहने लगा। वह दो-दो (छट्ठ-छट्ठ) उपवास के बाद पारणा करने लगा। वह पारणे के दिन भी जो आहार लाता था, उसे नदी के सचित्त जल से इक्कीस बार धो कर नीरस बना कर खाता था। इस तरह साठ हजार वर्ष तक उसने दुष्कर अज्ञान तप किया। और अन्तिम समय मे

फल देने वाला होता है। अत हिंसात्याग करने पर ही तप का महान् फल प्राप्त हो सकता है।'

परियच्छंति सव्वं, जहट्ठिय अवितह असंदिद्धं।

तो जिनवयणविहिन्नू, सहति बहुअस्स बहुआइं ॥८३॥

शब्दार्थ—जो जीवअजीव आदि सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथावस्थित, सत्य और संदेहरहित जानता है; जिनवचन की विधि का जानकार होने से वह अनेक बार बहुत लोगो के दुवचन सहन कर लेता है।'

भावार्थ—'जो महानुभाव जीव-अजीवादिक सभी तत्वों को यथावस्थित सर्वज्ञवचन के रूप मे असदिग्ध और सत्य जानते है और मानते हैं, तथा नि संशय रूप से हेय-उपादेय के विवेकपूर्वक आचरण करते है; ऐसे सिद्धान्तमार्ग के रहस्य के जानकार सत्पुरुष ही अज्ञानी लोगों के दुर्वचन को सहन करते है। क्योंकि तत्त्वदृष्टि से वह मान-अपमान को सम गिनता है और उसी का तप महाफलदायी होता है।'

जो जस्स वट्टए हिए, सो त ठावेइ सुंदरसहाव।

वग्घी छावं जणणी, भद्दं सोमं च मन्नेइ ॥ ८४ ॥

शब्दार्थ—'जो जिसके हृदय में बस जाता है, वह उसे सुन्दर स्वभाव वाला मानने लगता है। बाघ की माँ अपने बच्चे को भद्र और सौम्य मानती है।'

भावार्थ—जो जिसे रुचिकर होता है, वह उसे गुणयुक्त देखता है, उसके दोष वह नहीं देख पाता। व्याघ्री अभद्र, अशान्त और सभी जीवों को भक्षण करने वाले अपने शिशु को भी भद्र और शान्त मानती है। वैसे ही जीव अपने हृदय मे जिसे जो रुचिकर लगता

की सामग्री धन्या को दी। उसने इसके बदले उनका गृहकार्य किया और वह सामग्री ले कर आई। धन्या ने झटपट खीर बनाई और अपने बेटे की थाली मे परोस दी। धन्या उसे यह कह कर गृहकार्यवश बाहर चली गई कि 'जब ठडी हो जाए, तब खा लेना।' संगम थाली में फूंक मार कर खीर ठंडी करने लगा। ठीक उसी समय मासिक उपवासी एक तपस्वी मुनि पारणे के लिए भिक्षार्थ वहाँ पधारे। मुनि को देख संगम को अत्यन्त खुशी हुई। उसने भावपूर्वक सारी खीर मुनि के भिक्षापात्र में उंडेल दी। मुनि के चले जाने पर वह सोचने लगा—'आज मेरा अहोभाग्य है कि ऐसे सुपात्र साधु के दर्शन हुए और मुझे भी कुछ देने का लाभ मिला।' इस प्रकार दान और दानपात्र की प्रशंसा करने लगा। ऐसी अनुमोदना के सहित दिया हुआ दान वास्तव मे महान फलदायी होता है। कहा भी है—

'आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो बहुमानं प्रिय वच.।
किञ्चानुमोदना-पात्र-दान-भूषणपञ्चकम् ॥'

"सुपात्रदान के पांच भूषण हैं—(१) दान देते समय आनंद से आँखों मे आँसू उमड़ना, (२) रोमांच खड़े हो जाना, (३) बहुमानपूर्वक दान देना, (४) प्रियवचनपूर्वक दान देना, और (५) दिये हुए दान की अनुमोदना करना।" संगम ने इस तरह मुनि को दान दे कर बहुत पुण्य-उपार्जन किया।

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनंतगुण भवेत्॥

"धन व्याज पर देने पर दुगुना हो जाता है, व्यापार में लगाने पर चार गुना हो जाता है, योग्य क्षेत्र में खर्च करने पर सौगुना होता है और सुपात्र को देने से अनतगुना होता है।" संगम ने

आया और सबको दर्शन दे कर भद्रा सेठानी से कहा—"मैं शालिभद्र के लिए सभी प्रकार की सुखभोग-सामग्री की पूर्ति करूंगा।' इतना कह कर देव चला गया। गोभद्र का जीव देव रोजाना ३३ वस्त्रों की, ३३ आभूषणों की एवं ३३ भोजनादि पदार्थों की पेटियाँ यानी कुल ९९ पेटियाँ शालिभद्र और उसकी ३२ पत्नियों के लिए भेजता था। यह सब संगम के भव में मुनि को दान देने का फल था। इसलिए कहा है—

यदगोभद्रः सुरपरिवृढो भूषणाद्यं ददौ यत्।
जातं जायापदपरिचितं कम्बलिरत्नजातम् ॥
पुण्यं यच्चाजनि नरपतिर्यच्च सर्वार्थसिद्धि।
स्तद्दानस्याद्भुतफलमिद शालिभद्रस्य सर्वम् ॥

'देवों में श्रेष्ठ गोभद्र ने जिसे आभूषण आदि दिए; जिसकी पत्नियों के पैरों में रत्नकम्बल लोटते हैं, जिसने इतना पुण्योपार्जन किया कि राजा श्रेणिक भी देख कर चकित रह गया और जिसने अन्त में सर्वार्थसिद्धि देवलोक प्राप्त किया, यह सब शालिभद्र के दान का ही अद्भुत फल था।'

'पादाम्भोजरजःप्रमार्जनमपि क्ष्मापाल-लीलावती-
दुष्प्रापाद्भुतरत्नकम्बलदलैर्यद्वल्लभानामभूत्।
निर्माल्यं नवहेममंडनमपि क्लेशाय यस्यावनि-
पालालिंगनमत्यसौ विजयते दानात्सुभद्राग्रजः ॥

'जिसकी सुकुमार प्रियतमाओं के चरणकमलों पर लगी धूल भी उन रत्नकम्बलों के टुकड़ों से पौंछी जाती थी, जो रत्नकम्बल राजाश्रेणिक की रानी लीलावती को भी दुष्प्राप्य था। जिनके नए सोने के गहने भी एक बार पहनने के बाद गंदे समझ कर भंडार में डाल दिये जाते

१२ वर्ष तक चारित्र पालन किया और अन्तिम समय मे एक मास का अनशन करके आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्धि विमान में ३३ सागरोपम की आयु वाले अहमिन्द्र देव बने। धन्य है, शालिभद्रमुनि को, जिसने सबसे उत्तम साधना की।

अनुत्तरं दानमनुत्तरं तपो, ह्यनुत्तरं मानमनुत्तरं यशः।
श्रीशालिभद्रस्य गुणा अनुत्तरा, अनुत्तरं धैर्यमनुत्तर पदम् ॥

"शालिभद्र के दान, तप, मान, यश, गुण धैर्य और पद यह सभी अनुत्तर (उत्कृष्ट=अद्वितीय) थे।"

इसी तरह ज्ञानसहित तप करने से महान् फल प्राप्त होता है।

न करंति जे तव-सजमं च ते तुल्लपाणिपायाण।
पुरिसा सम पुरिसाणं अवस्सं पेसत्तणमुविंति ॥ ८६ ॥

शब्दार्थ—'जो जीव तप-संयम का आचरण नहीं करता, वह आगामी जन्म में अवश्य ही पुरुष के समान हाथ पैर वाला पुरुष की-सी आकृति वाला दास बन कर दासत्व प्राप्त करता है।'

भावार्थ—'श्री शालिभद्र ने विचार किया था कि "राजा श्रेणिक में और मेरे में हाथ-पैर आदि अंगों में कोई अन्तर नहीं है, फिर भी वह स्वामी है और मैं सेवक हूं, इसका कारण सिर्फ यही है न कि मैंने पूर्वजन्म में सुकृत कम किया है? ऐसा विचार कर उसने तप-संयम की भलीभांति आराधना की थी। इसलिये जो साधक स्वाधीन बारह प्रकार के तप और १७ प्रकार के संयम की आराधना नहीं करता, वह जीव अगले जन्म में पुरुष के समय हाथ-पैर वाला पुरुषाकार दास बनता है।'

सुंदर-सुकुमाल-सुहोइएण, विविहेहिं तवविसेसेहिं।
तह सोसविओ अप्पा, जह नवि नाओ सभवणेपि ॥ ८७ ॥

उपाय से जानते है ?' उन्होंने कहा—'हम सिद्धान्तरूपी नेत्रों से उसका स्वरूप जानते है।' अवन्तिसुकुमार ने कहा—'गुरुदेव ! वह कैसे प्राप्त हो सकता है ?' आचार्य—'चारित्र की आराधना से, क्योंकि चारित्र इसलोक और परलोक में अनेक प्रकार के सुख देता है।' चारित्र का माहात्म्य इस प्रकार है—

नो दुष्कर्मप्रयासो न कुयुवति-सुत-स्वामि-दुर्वाक्यदु:खम् ।
राजादौ न प्रणामोऽशनवसन-धन-स्थान-चिंता न चैव ॥
ज्ञानाप्तिर्लोकपूजा-प्रशमपरिणति प्रेत्य नाकाद्यवाप्ति ।
चारित्रे शिवदाय के सुमतयस्तत्र यत्न कुरुध्वम् ॥

"जिस चारित्र के अन्दर दुष्कर्मसम्बन्धी प्रयास नहीं होता, न कुलटा स्त्रियों का संसर्ग है, और न पुत्र या स्वामी के दुर्वचन सुनने का दु:ख है। इस चारित्र मे राजा आदि को नमस्कार नहीं करना पडता; न भोजन, वस्त्र धन और स्थान की चिंता करनी पड़ती है। इसमें ज्ञान की प्राप्ति है, लोगों में पूजा-प्रतिष्ठा होती है, इस जन्म में परिणति (भावना) शान्त रहती है और दूसरे जन्म मे स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है, हे विद्वान् पुरुषो ! ऐसे मोक्षदाता चारित्र मे आप प्रयत्न करो।"

'इसलिए वत्स अवन्तिसुकुमाल ! जो चारित्र ग्रहण करके अनशन करता है, वही नलिनीगुल्म विमान प्राप्त कर सकता है।' इस तरह गुरु महाराज के मुख से सुन कर अवन्तिसुकुमाल ने कहा—"मैं चारित्र और अनशनभाव से अंगीकार करना चाहता हू। गुरु ने ज्ञान से जाना कि इसका कार्य इसी तरह सिद्ध होगा।' अत: रात को ही उसे साधुवेष दे कर दीक्षित किया। उसने गुरु आज्ञा ले कर मुनिवेश मे नगर के बाहर स्मशान भूमि मे जा कर थोहर के वन मे कायोत्सर्ग

के लिये प्राण को भी छोड़ देते हैं। सुविहित साधु प्राणान्तकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोडते। वे प्राणत्याग करके भी संयम की रक्षा करते है। ऐसे मुनियों को धन्य है।'

एक दिवसंपि जीवो, पवज्जमुवागओ अनन्नमणो।

जइवि न पावइ मुक्ख अवस्स वेमाणिओ होइ ॥९०॥

शब्दार्थ—'अनन्यमनस्क हो कर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है।

भावार्थ—'विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी सयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्धचारित्र भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जान कर अप्रमत्त और सावधान हो कर चारित्र की आराधना मे यत्न करना उचित है।'

सीसावेढेण सिरंमि वेढिए निग्गयाणि अच्छीणि।

मेयज्जस्स भगवओ, नय सो मणसावि परिकुविओ ॥९१॥

शब्दार्थ—'जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गई और धूप लगने से सूखने के कारण आंखे बाहर निकल आई; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीड़ा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए।'

भावार्थ—'जब मैतार्यमुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाए हुए सोने के जौ कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शंका करके उस सम्बन्ध मे उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलत' सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का चोर मान कर गीले चमड़ की पट्टी उनके सिर पर बाँधी, धूप लगने

के लिये प्राण को भी छोड़ देते हैं। सुविहित साधु प्राणान्तकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोड़ते। वे प्राणत्याग करके भी संयम की रक्षा करते हैं। ऐसे मुनियों को धन्य है।'

एक दिवसंपि जीवो, पवज्जमुवागओ अनन्नमणो।

जइवि न पावइ मुक्ख अवस्सं वेमाणिओ होइ ॥९०॥

शब्दार्थ—'अनन्यमनस्क हो कर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है।

भावार्थ—'विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी सयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्धचारित्र भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जान कर अप्रमत्त और सावधान हो कर चारित्र की आराधना मे यत्न करना उचित है।'

सीसावेढेण सिरंमि वेढिए निग्गयणि अच्छीणि।

मेयज्जस्स भगवओ, नय सो मणसावि परिकुविओ ॥९१॥

शब्दार्थ—'जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गई और धूप लगने से सूखने के कारण आंखे बाहर निकल आईं; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीड़ा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए।'

भावार्थ—'जब मैतार्यमुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाए हुए सोने के जौ कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शंका करके उस सम्बन्ध में उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलत: सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का ... मान कर गीले चमड़ की पट्टी उनके सिर पर बांधी, धूप लगने

के लिये प्राण को भी छोड़ देते है। सुविहित साधु प्राणान्तकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोड़ते। वे प्राणत्याग करके भी संयम की रक्षा करते है। ऐसे मुनियों को धन्य है।'

एक दिवसपि जीवो, पवज्जमुवागग्रो ग्रनन्नमणो।

जइवि न पावइ मुक्ख अवस्स वेमाणिग्रो होइ ॥९०॥

शब्दार्थ—'अनन्यमनस्क हो कर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है, तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है।

भावार्थ—'विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी संयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्धचारित्र भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जान कर अप्रमत्त और सावधान हो कर चारित्र की आराधना मे यत्न करना उचित है।'

सीसावेढेण सिरमि वेढिए निग्गयणि ग्रच्छीणि।

मेयज्जस्स भगवग्रो, नय सो मणसावि परिकुविग्रो ॥९१॥

शब्दार्थ—'जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गई और धूप लगने से सूखने के कारण आंखे बाहर निकल आई; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीडा देने वाले पर) कोधित नहीं हुए।'

भावार्थ—'जब मैतार्यमुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाए हुए सोने के जौ कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शंका करके उस सम्बन्ध में उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलत' सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का ... मान कर गीले चमड़ की पट्टी उनके सिर पर बांधी, धूप लगने

के लिये प्राण को भी छोड़ देते है। सुविहित साधु प्राणान्तकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोड़ते। वे प्राणत्याग करके भी सयम की रक्षा करते है। ऐसे मुनियों को धन्य है।'

एक दिवसपि जीवो, पवज्जमुवागश्रो अनन्नमणो।

जइवि न पावइ मुक्ख अवस्स वेमाणिश्रो होइ ॥६०॥

शब्दार्थ—'अनन्यमनस्क हो कर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है।

भावार्थ—'विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी सयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्धचारित्र भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जान कर अप्रमत्त और सावधान हो कर चारित्र की आराधना मे यत्न करना उचित है।'

सीसावेढेण सिरमि वेढिए निग्गयणि अच्छीणि।

मेयज्जस्स भगवश्रो, नय सो मणसावि परिकुविश्रो ॥६१॥

शब्दार्थ—'जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गई और धूप लगने से सूखने के कारण आंखे बाहर निकल आई; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीडा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए।'

भावार्थ—'जब मैतार्यमुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाए हुए सोने के जौ कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शका करके उस सम्बन्ध मे उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलत सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का मान कर गीले चमड़ की पट्टी उनके सिर पर बांधी, धूप लगने

के लिये प्राण को भी छोड़ देते है। सुविहित साधु प्राणान्तकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोड़ते। वे प्राणत्याग करके भी संयम की रक्षा करते है। ऐसे मुनियों को धन्य है।'

एक दिवसमवि जीवो, पवज्जमुवागओ अनन्नमणो।

जइवि न पावइ मुक्खं अवस्स वेमाणिओ होइ ॥९०॥

शब्दार्थ—'अनन्यमनस्क हो कर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है।

भावार्थ—'विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी संयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्धचारित्र भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जान कर अप्रमत्त और सावधान हो कर चारित्र की आराधना मे यत्न करना उचित है।'

सीसावेढेण सिरमि वेढिए निग्गयाणि अच्छीणि।

मेयज्जस्स भगवओ, नय सो मणसावि परिकुविओ ॥९१॥

शब्दार्थ—'जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गई और धूप लगने से सूखने के कारण आंखे बाहर निकल आईं; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीड़ा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए।'

भावार्थ—'जब मैतार्यमुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाए हुए सोने के जौ कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शका करके उस सम्बन्ध मे उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलत सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का न कर गीले चमड़ की पट्टी उनके सिर पर बांधी, धूप लगने

के लिये प्राण को भी छोड़ देते है। सुविहित साधु प्राणान्तकष्ट आ पड़ने पर भी संयम को नहीं छोड़ते। वे प्राणत्याग करके भी सयम की रक्षा करते है। ऐसे मुनियों को धन्य है।'

एग दिवसंपि जीवो, पवज्जमुवागओ अनन्नमणो।

जइवि न पावइ मुक्खं अवस्स वेमाणिओ होइ ॥६०॥

शब्दार्थ—'अनन्यमनस्क हो कर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता ही है।

भावार्थ—'विशुद्ध एकाग्रमन से एक दिन भी सयम का पालन करने वाला साधु यदि मोक्षपद प्राप्त न कर सके तो उसे वैमानिक देवलोक तो अवश्य मिलता है। एक दिन का विशुद्धचारित्र भी सौभाग्य से ही मिलता है, ऐसा जान कर अप्रमत्त और सावधान हो कर चारित्र की आराधना मे यत्न करना उचित है।'

सीसावेढेण सिरंमि वेढिए निग्गयाणि अच्छीणि।

मेयज्जस्स भगवओ, नय सो मणसावि परिकुविओ ॥६१॥

शब्दार्थ—'जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गई और धूप लगने से सूखने के कारण आंखे बाहर निकल आई; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीड़ा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए।'

भावार्थ—'जब मैतार्यमुनि सोनी के घर भिक्षार्थ गये, तब उस सोनी के बनाए हुए सोने के जौ कोई पक्षी निगल गया। सोनी ने मुनि पर शका करके उस सम्बन्ध मे उनसे पूछा। पक्षी के प्रति करुणावश मुनि मौन रहे। फलत सोनी ने उनको ही स्वर्णयवों का ... न कर गीले चमड़ की पट्टी उनके सिर पर बांधी, धूप लगने

आकस्मिक अवसान देख कर सागरचन्द्र ने विचार किया इस शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध कृत्रिम और अस्थायी है। जो प्रातःकाल स्वस्थ दिखाई देता है; वह मध्याह्न में नहीं दिखाई देता, और जो मध्याह्न में दीखता है, वह रात को नष्ट हो जाता है। वायु के झोंके से हिलते हुए पत्तों के समान यह आयुष्य प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। अनुभवियों का कहना है—

> आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्,
> व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
> दृष्ट्वा जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
> पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

'सूर्य के उदय और अस्त होने के साथ-साथ निरन्तर आयुष्य का क्षय होता जाता है; बड़े-बड़े अनेक कार्यों के बोझ से और प्रवृत्तियों से समय कितना बीत गया, इसका पता भी नहीं चलता। और रोजाना जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति तथा मृत्यु देखते-देखते (आदि हो जाने के कारण) मनुष्यों को इनका दुःख नहीं होता। मालूम होता है, 'जगत् ने मोहमयी प्रमादरूपी मदिरा पी ली है और वह उन्मत्त हो रहा है।'

इस प्रकार के विचारों के ज्वार के कारण सागरचन्द्र के चित्त में वैराग्य पैदा हुआ; वह राज्य से पराङ्मुख रहने लगा। यह देख एक दिन उसकी विमाता ने उससे कहा—"मेरे दोनों पुत्र अभी राज्य-भार उठाने में असमर्थ हैं; इसलिये अभी तू ही राज्य का संचालन कर।' इस तरह सागरचन्द्र को जबरन राज्य पर पुनः स्थापित किया। मगर वह विरक्त मन से राज्यसंचालन करने लगा। पुण्ययोग से सागरचन्द्र राजा की समृद्धि और कीर्ति बढ़ने लगी। इससे सौतेली मां के मन में उसके प्रति डाह पैदा हो गया; वह किसी भी उपाय से उसका सफाया करने की ताक में रहती थी।

'दुराचारिणी नारियां अपने पति, पुत्र, पिता और भाई तक को क्षण भर में प्राणों को खतरा हो, ऐसे अकार्य में जुटा देती है।'

'इसलिए संभालो अपना राज्य! दुर्गति के कारणभूत इस राज्य से मुझे क्या सरोकार है? ऐसा विचार कर अपनी विमाता के पुत्र गुणचन्द्र को राज्य दे कर सागरचन्द्र ने स्वयं दीक्षा ले ली। क्रमशः उग्रविहार करते हुए सागरचन्द्र मुनि शास्त्रों में पारगामी हुए। एक बार विहार करते हुए वे उज्जयिनी से किसी नगर में पधारे। उस समय एक साधु ने श्री सागरचन्द्र मुनि से कहा—'स्वामिन्! उज्जयिनी में आपके भाई का पुत्र और पुरोहितपुत्र दोनों मिल कर साधुओं का बड़ा अपमान करते हैं।' यह सुन कर गुरु की आज्ञा ले कर सागरचन्द्र मुनि उनको प्रतिबोध के लिये उज्जयिनी पधारे और जहाँ राजपुत्र और पुरोहितपुत्र थे, वहाँ जा कर उच्चस्वर से 'धर्मलाभ' कहा। उसे सुन कर वे दोनों बड़े खुश हो कर परस्पर कहने लगे—'चलो, आज 'धर्मलाभ' आया है, उसे खूब नचायेंगे।'

यों मंत्रणा करके सागरचन्द्र मुनि का हाथ पकड़ कर ये दोनों उन्हें महल में खींच लाए और अन्दर से द्वार बन्द करके उनसे कहा—"आज हमें नाच कर बताओ। नहीं तो हम तुम्हें बहुत पीटेंगे।" सागरचन्द्रमुनि ने समयसूचकता का विवेक करके उन दोनों से कहा—'तुम दोनों बाजा बजाओगे तभी मैं नृत्य कर सकूंगा।' दोनों तपाक से बोले—'हमें बाजा बजाना नहीं आता।' साधु ने कहा—'मुझे नृत्य करना भी नहीं आता।" तब उन दोनों ने उद्दण्डतापूर्वक कहा—"तो फिर आओ, हमारे साथ मल्लयुद्ध करो।' सागरचन्द्र मुनि को इस कला का गृहस्थाश्रम में अभ्यास था। इसलिए दोनों उद्धत लड़कों के साथ मल्लयुद्ध करके दोनों की हड्डीपसलियाँ ढीली कर दीं और तुरंत दरवाजा खोल कर अपने उपकरण ले कर

उन दोनों मुनियों में से जो पुरोहितपुत्र था, उसके जातिगत संस्कार उभर आए। ब्राह्मणत्व का जात्यभिमान करने के कारण उसने नीचगोत्रकर्म का बन्धन किया। दोनों मुनि चारित्र की आराधना करके आयुष्य पूर्ण कर देव बने। उन दोनों मे परस्पर गाढ़ स्नेह था। इसलिए उन्होंने परस्पर एक दूसरे को वचन दिया कि हम दोनों में जो कोई यहाँ से पहले च्यवन कर मनुष्यगति मे उत्पन्न होगा, उसे देवलोक में रहा हुआ देव प्रतिबोध दे।" तदनन्तर देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर पुरोहितपुत्र का जीव वहाँ से राजगृही नगरी में जातिमद के कारण मेहर नामक चाण्डाल के यहाँ मेती नाम की उसकी पत्नी की कुक्षि मे पुत्ररूप मे पैदा हुआ। उसी नगरी के किसी श्रेष्ठी के यहाँ चाण्डालपत्नी आया-जाया करती थी। सेठानी के साथ उसका अत्यन्त स्नेह था। सेठानी मृतवत्सा थी, उसका कोई भी बच्चा जिंदा नहीं रहता था। इससे उसे मन में बहुत दुःख होता था। उसने चाण्डालपत्नी से यह बात कही तो उसने कहा—'सेठानीजी! चिन्ता न करो। अगर इस बार के गर्भ से मेरे पुत्र हुआ तो मैं आपको सौंप दूंगी।' ठीक समय पर चाण्डालपत्नी के पुत्रजन्म हुआ। उसने चुपके से वह पुत्र उस सेठानी को सौप दिया। सेठानी बहुत हर्षित हुई। उसने खूब धूम-धाम से पुत्रजन्मोत्सव किया और बालक का नाम मैतार्य रखा। जब वह १६ वर्ष का हुआ तो पूर्वजन्म के मित्र-देव के साथ वचनबद्ध होने से वह मित्रदेव (राजपुत्र का जीव) मैतार्य को प्रतिबोध देने आया। परन्तु किसी तरह भी उसे देव का दिया हुआ प्रतिबोध न लगा। उन्ही दिनों में उसके पिता (सेठ) ने आठ वणिक्पुत्रियों के साथ मैतार्य की सगाई कर दी। यह देख कर मित्रदेव ने इस मोहजाल से निकालने के लिए चाण्डालपत्नी (उसकी असली माता) के शरीर मे प्रवेश किया, जिससे वह उन वणिकों के यहाँ जा कर

बदले दुर्गन्धित विष्ठा करने लगा। इससे आश्चर्यचकित हो कर अभयकुमार ने कहा—'हो न हो इसमे कोई देवप्रभाव मालूम होता है। अन्यथा, चांडाल के द्वारा राजपुत्री की याचना कैसे सम्भव है? इसकी भलीभांति परीक्षा करनी चाहिए। जो कार्य मनुष्य के बलबूते से परे का हो, उस कार्य को यदि कोई मनुष्य करता हो तो उसमे देव का प्रभाव अवश्य होना चाहिए।" अत काफी सोचविचार कर अभयकुमार ने चांडाल से कहा—'यदि इस राजगृही के चारों ओर नया सोने का किला बना दो और वैभारगिरि पर्वत पर पुल बांध दो एवं गंगा, यमुना, सरस्वती और क्षीरसागर इन चारों को उसके नीचे प्रवाहित कर दो और उससे तुम्हारे पुत्र को स्नान करा दो तो राजा श्रेणिक उसे अपनी पुत्री दे देंगे।' देव के प्रभाव से अभयकुमार के कहने के अनुसार रातभर मे ही यह सब काम हो गया। प्रातः उस जल से चांडालपुत्र–मैतार्य–को स्नान करा कर पवित्र हो जाने के बाद राजपुत्री से विवाह सम्पन्न हो गया। इसके बाद आठ वणिकों ने भी अपनी-अपनी कन्याओं की शादी मैतार्य के साथ कर दी। इस प्रकार ६ कन्याओं के साथ मैतार्य का धूमधाम से विवाह हो गया। मित्रदेव ने पुन. आकर मैतार्य को चेतावनी दी—"अब तो तुम्हारा विवाह इज्जत के साथ हो गया है और तुम्हे पहले की तरह प्रतिष्ठा भी प्राप्त करा दी है, अत. अब मुनिदीक्षा ग्रहण कर लो।" मैतार्य बोला—"मित्र! तुम्हारी बात ठीक है, लेकिन मैंने अभी-अभी शादी की है, अत· कम से कम १२ साल तक तो इन स्त्रियों के साथ मुझे रह लेने दो, इन्हे संतुष्ट करने के बाद में अवश्य दीक्षा ले लूंगा।" देव ने उसकी बात कबूल कर ली। जब १२ वर्ष व्यतीत हो गए और मित्रदेव पुन. आया तो मैतार्य की सभी पत्नियों ने उससे हाथ जोड़ कर विनम्र प्रार्थना की—"१२ वर्ष की मुद्दत आपने अपने मित्र को दे दी, उसी प्रकार १२ वर्ष की मुद्दत और

"साधु कानों से बहुत-सी बातें सुनता है और आँखों से भी बहुत-सी चीजें देखता है, लेकिन देखी हुई या सुनी हुई सभी बातें साधु के लिए कहने योग्य नहीं होतीं।"

मैतार्यमुनि से सोनी के द्वारा बारबार पूछे जाने पर भी जब जवाब नहीं मिला तो उसने मुनि को ही चोर मान कर क्रोधावेश में उन्हें घर में एक ओर ले जा कर धूप में खड़ा कर दिया और उनके मस्तक पर गीला चमड़ा कस कर बांध दिया। तेज धूप के कारण चमड़ा सूख कर सिकुड़ने और कठोर होने लगा, इससे मुनि के सिर की नसें तनने लगीं और आँखें एकदम बाहर निकल आईं। मुनि को असह्य वेदना हो रही थी, फिर भी न तो सुनार पर रोष व द्वेष ही किया और न ही क्रौंचपक्षी के जौ निगल जाने की बात कही। फलत इस परम क्षमा के कारण शुक्लध्यानाग्नि में समस्त कर्मों को भस्म करके केवलज्ञान प्राप्त करके आयुष्य पूर्ण होते ही मैतार्यमुनि मोक्ष पधार गए।

सोनी के घर के सामने एक लकड़हारे ने उसी समय लकड़ियों की भारी जोर से डाली। उसकी जोर की आवाज सुन कर भय के मारे क्रौंचपक्षी ने घबरा कर विष्ठा की; उसमें वे निगले हुए सारे स्वर्णयव निकल पड़े। सोने के यवों को देख कर सोनी एकदम सकपका गया और अपने द्वारा हुए इस अकार्य से सिहर उठा। उसने भयभीत हो कर सोचा—'हाय! आज मैंने कितना बड़ा अनर्थ कर डाला! एक मुनि की हत्या और वह भी राजा श्रेणिक के दामाद की! राजा को पता लगते ही वह मेरे सारे परिवार को बुरी मौत मरवा डालेगा।" अब तो इससे बचने का और इस घोर अकार्य का प्रायश्चित्त करने का यही उपाय है कि मैं भगवान् महावीर के चरणों में जा कर अपने पापों का प्रायश्चित्त लूं और परिवार-

'मेरी अनुपस्थिति में यह बालमुनि वज्रकुमार तुम्हें शास्त्रवाचना देगा' तो सभी शिष्यों ने गुरुवचनों को शिरोधार्य किया। उन्होंने शंकाकुल हो कर विपरीत चिन्तन नहीं किया कि यह बाल साधु हमें किस प्रकार वाचना देगा? गुरुदेव के वचनों पर दृढ़ श्रद्धा रखने वाले ऐसे सुशिष्यों का कल्याण हो।'

आगे वज्रस्वामी के जीवन की वह घटना दे रहे हैं—

वाचनाचार्य वज्रस्वामी का दृष्टान्त

वज्रस्वामी ने बाल्यकाल में उपाश्रय में साध्वियों के मुख से ११ अंगों का पाठ सुन कर पदानुसारिणी लब्धि के बल से ग्यारह ही अंगो का अध्ययन कर लिया था। ८ वर्ष की उम्र में उन्हें गुरुदेव ने दीक्षा दी थी। अपने गुरु के साथ विहार करते हुए वे एक गांव में पहुचे और वहाँ के उपाश्रय मे ठहरे। एक दिन वज्रस्वामी को उपाश्रय मे अकेले छोड कर सभी साधु भिक्षाचरी को गए हुए थे। वज्रस्वामी ने उपयुक्त अवसर जान कर सभी मुनियों के उपकरणों को रत्नाधिक क्रम से अपने सामने जमा दिये और उनके आसनों पर मुनियों की स्थापना (मुनि बैठे हैं, ऐसी कल्पना) करके स्वयं बीच में बैठ गए और उच्चस्वर से आचारांगसूत्र आदि की वाचना देने का अभिनय करने लगे। ठीक इसी समय स्थंडिलभूमि को गए हुए आचार्यश्री पधार गए। परन्तु उपाश्रय का द्वार बन्द देख कर आचार्य आश्चर्य में पड़ गए। अन्दर झांक कर देखा तो वज्रस्वामी वाचना देने का उपर्युक्त अभिनय कर रहे हैं। आचार्य दंग रह गए। उन्होंने सोचा—यदि मैं सहसा द्वार खोलूंगा तो वज्रमुनि शंकित हो कर घबरा जायगा। इसलिए आचार्यश्री ने उच्चस्वर से 'निसीहि निसीहि' उच्चारण किया। यह सुनते ही गुरुजी का आगमन जान कर वज्रमुनि से झटपट अपनी बाजी समेट ली, लघुलाघवकला से शीघ्र ही सबके

शब्दार्थ—'अरे शिष्य! इस सांप को अपनी उंगली से नाप अथवा इसके दांत दन्तस्थान में गिन'; इस प्रकार गुरु द्वारा कहे जाने पर शिष्य तहत्ति (अच्छा गुरुजी!) कह कर उस कार्य को करे। मगर उस पर तर्क-वितर्क न करे। यही सोचे—'इस कार्य के पीछे क्या मकसद है? यह तो गुरुदेव ही जानें।'

भावार्थ—'किसी भी कार्य के करने का गुरु जब आदेश दें तो विनीतशिष्य को शंकाशील बन कर यह नहीं सोचना चाहिए—गुरुजी ने यह कार्य मुझे करने का क्यों और किस लिए कहा? इनका इस कार्य के पीछे क्या प्रयोजन है? बल्कि ऐसा सोचे कि गुरुदेव शिष्य का एकान्तहित ही चाहते हैं। इसलिए उन्होंने जो कार्य बताया है, मुझे उसे अविलम्ब करना चाहिए।'

कारणविऊ कयाई, सेयं कायं वयंति आयरिया।
तं तह सद्दहियव्वं, भवियव्वं कारणेण तहिं ॥९५॥

शब्दार्थ—'कारण को जानने वाले आचार्य भगवान् किसी समय यह कौआ सफेद है, ऐसा कहते हैं तो उसे श्रद्धापूर्वक मान लेना चाहिये, उस समय यह सोचे कि इसमें भी कोई कारण होगा।'

भावार्थ—'किसी कारणवश आचार्य भगवान् कोई न जचने वाली बात कहते हैं, तो उसे वैसी ही माननी चाहिये और विचार करना चाहिए कि 'ऐसा कहने में कोई न कोई कारण होगा, तभी गुरु महाराज ऐसा कहते हैं।'

जो गिह्नइ गुरुवयणं, भण्णंतं भावओ विसुद्धमणो।
ओसहमिव पीज्जंतं, तं तस्स सुहावहं होइ ॥९६॥

शब्दार्थ—'भाव से विशुद्ध मन वाला जो शिष्य गुरुमहाराज के द्वारा वचन कहते ही अंगीकार कर लेता है तो उसके लिए वह वचन-पालन औषध के समान परिणाम में सुखदायी होता है।'

शब्दार्थ—'बुढापे में विहार करने की अशक्ति के कारण या किसी दु:साध्य रोग के कारण एक जगह स्थित गुरु का जो तिरस्कार करते हैं, वे दत्त नामक शिष्य की तरह अपने धर्म से भ्रष्ट और दुराचारी (दुष्ट शिष्य) हैं।'

प्रसंगवश यहाँ दत्तमुनि का उदाहरण दे रहे हैं—

दत्तमुनि की कथा

कुल्लपुर नाम के नगर में श्रमण संघ में कोई स्थविर आचार्य रहते थे। एक बार उन्होंने भविष्य में पड़ने वाले महान दुष्काल की बात ज्ञान से जान कर गच्छ के समस्त साधुओं को दूसरे देश में भेज दिया। परन्तु स्वयं वृद्धावस्था होने से तथा रुग्ण और विहार में अशक्त होने से, उसी नगर में बस्ती के नौ विभागों की कल्पना कर एक ही नगर में स्थिर हो गए। गुरु-सेवा के लिए एक बार दत्त नाम का शिष्य वहाँ आया। वह शिष्य जिस निवासस्थान में गुरु-महाराज को छोड़ गया था, उसी स्थान पर गुरु का विहारक्रम आता था, किन्तु उस शिष्य ने जब उसी स्थान पर गुरुमहाराज को देखा तो उसे शंका हुई और विचार करने लगा कि 'गुरुजी पासत्था (पार्श्वस्थ) और उन्मार्गगामी हो गए दिखते हैं। उन्होंने स्थान भी नहीं बदला मालूम होता है।' इस आशंका से वह दूसरे उपाश्रय में अलग रहने लगा। भिक्षा के लिये वह गुरु के साथ जाता। छोटे-बड़े कुलों में घूमने पर भी भिक्षा नहीं मिली तो दत्त के मन में उद्वेग पैदा हुआ। गुरु ने उसकी चेष्टाओं पर से मन के विचार जान लिये और उसे वे एक बड़े सेठ के घर गोचरी के लिये ले गये। उस सेठ के घर व्यंतर के प्रकोप के कारण एक बालक हमेशा रोता था। यह देख गुरुमहाराज ने 'वत्स! रो मत', यों कह कर चुटकी बजाई कि व्यन्तर भाग गया और बालक चुप हो गया। इससे

मुनि पश्चात्ताप करता हुआ गुरु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए उनसे वारवार क्षमायाचना की। आखिर पापकर्म की सम्यक् आलोचना कर वह सद्गति का अधिकारी बना।

दत्तमुनि के इस दृष्टान्त से यही उपदेश फलित होता है कि शिष्य को गुरु महाराज की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। अब गुरुभक्ति के सम्बन्ध मे ज्वलन्त उदाहरण दे कर समझाते है—

आयरियभत्तिरागो, कस्स सुनक्खत्तमहरिसिसरिसो।
अवि जीविअ ववसिअं, न चेव गुरुपरिभवो सहिओ ॥१००॥

शब्दार्थ—'आचाय 'गुरु' पर किसका भक्तिराग महर्षि सुनक्षत्र जैसा है, जिसने अपने प्राणों का त्यागकर दिया; मगर गुरु का पराभव सहन नहीं किया।' इस सम्बन्ध मे सुनक्षत्र मुनि का दृष्टान्त इस प्रकार है—

श्रीसुनक्षत्रमुनि का दृष्टान्त

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रावस्ती नगरी मे पधारे। गोशालक भी उसी नगरी में आया। नगरी मे यह अफवाह फैली कि 'आज नगर में दो सर्वज्ञ पधारे है। एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलीपुत्र गोशालक।' गोचरी के लिये गये हुए श्री गौतम स्वामी ने यह वात सुनी तो आते ही उन्होंने भगवान् से पूछा—"गुरुदेव! यह गोशालक कौन है? जिसकी मनुष्यों मे सर्वज्ञ के नाम से चर्चा हो रही है।" भगवान् ने कहा—गौतम! सुनो, सरवण नाम के गांव मे मंखली नाम का मंख जाति का एक पुरुप रहता था। उसके भद्रा नाम की पत्नी थी। उसकी कुक्षि से इसका जन्म हुआ है। बहुतसी गायों के रखने वाले एक ब्राह्मण की गौशाला मे जन्म होने से इसका नाम गोशालक रखा गया था। जब यह जवान हुआ, उस समय छद्मस्थावस्था मे मेरा राजगृही चातुर्मास

को फोड़ा तो उसमें से गंगाजल जैसा निर्मल पानी निकला। सभी ने प्यास बुझाई और रास्ते के लिये जलपात्र भर लिये। जब दूसरा शिखर तोड़ने लगे तो साथ में चल रहे एक वृद्ध वणिक् ने कहा—भाइयो! हमारा काम हो गया है, अब दूसरी बांबी के शिखर को फोड़ने की आवश्यकता नहीं है।' इसके बावजूद भी उन्होंने दूसरी बांबी फोड़ डाली। उसमे से बहुत-सा सोना मिला। वृद्ध के मना करने पर भी उन्होंने तीसरा शिखर फोड़ा। उसमें से बहुत से रत्न निकले। बूढ़े बनिये के रोकने की परवाह न करके उन्होंने चौथी बांबी भी फोड डाली। उसमे से एक अतिभयंकर दृष्टिविष सर्प निकला। उसने सूर्य के सामने देखा और उनके ऊपर दृष्टि फेंक कर हितोपदेशक बूढे बनिये को छोड़ कर सभी को मौत के घाट उतार दिया। इसलिये हे आनन्द! तुम्हारे धर्माचार्य को ऋद्धि प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं है, वह मुझसे ईर्षा करता है। मैं अपने तप-तेज से उसे भस्म कर डालूंगा। परन्तु उस वृद्ध वणिक् के समान हितोपदेशक समझ कर मैं तेरी रक्षा करूंगा।" यह बात सुन कर आनन्द भयभीत हुआ और भगवान् के पास जा कर उसने सारा वृत्तान्त कहा। भगवान् बोले—"आनन्द! तू शीघ्र ही गौतमादि मुनियो से जा कर कह कि वह गोशालक यहां आ रहा है; अत. उस के साथ कोई भी संभाषण न करे। और तुम सब यहां से इधर-उधर चले जाओ।" आनन्द ने भगवान् की आज्ञानुसार वैसा ही किया।

इतने मे गोशालक वहाँ आ धमका और भगवान् से कहने लगा—"अरे काश्यप! तुम मुझे अपना शिष्य बताते हो, लेकिन यह असत्य है। जो तुम्हारा शिष्य था वह तो मर चुका है। मैं तो और ही हू। मैं तो उसके शरीर को बलवान जान कर उसमे प्रविष्ट हो कर रह रहा हू।" किन्तु गोशालक द्वारा किया जा रहा प्रभु का तिरस्कार

लिए उसे सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ, जिससे वह विचार करने लगा— 'अहो ! मैंने अत्यन्त विरुद्ध आचरण किया है। मैंने श्रीजिनेश्वर भगवान की आज्ञा का लोप किया। मैंने साधुओं का घात किया। इसके फलस्वरूप अगले जन्म मे मेरी क्या गति होगी ?" उसने तुरन्त शिष्यों को अपने पास बुलाया। उनको खासतौर से कहा— "आयुष्मन्तो ! मेरे मरने के बाद मेरे शव को पैर से बांध कर श्रावस्ती नगर में चारों तरफ घूमाना, क्योंकि मैंने जिन नहीं होते हुए भी 'मैं जिन हूँ' ऐसा संसार मे प्रगट किया है।" इस तरह आत्म-निंदा करता हुआ मर कर गोशालक बारहवे देवलोक में उत्पन्न हुआ। शिष्यों ने गुरु की आज्ञा का पालन करने के लिए उपाश्रय के अन्दर ही श्रावस्ती नगरी की स्थापना की और दरवाजे बन्द करके शव के पैर पर रस्सी बांध कर उसे चारों तरफ घूमाया।

इस कथा का सारभूत उपदेश यह है कि सुनक्षत्र मुनि की तरह अन्य साधुओ को भी गुरुभक्ति मे रत रहना चाहिए।

पुन्नेहिं चोइया पुरकडेहिं सिरिभायण भविअसत्ता।
गुरुमागमेसिभद्दा, देवयमिव पज्जुवासंति ॥१०१॥

शब्दार्थ—'जो पूर्वकृत पुण्यों से प्रेरित होता है, भविष्य में जिस भव्यजीव का शीघ्र कल्याण होने वाला होता है। वह सद्गुणों का निधान गुरुमहाराज की इष्टदेव की तरह सेवा करता है।'

बहु सुक्खसयसहस्साण, दायगा मोअगा दुहसहस्साण।
आयरिआ फुडमेअं, केसि - पएसिअ तहेअ ॥१०२॥

शब्दार्थ—'यह बात स्पष्ट है कि धर्माचार्य अनेक प्रकार के शत-सहस्र सुखों के देने वाले और हजारों दुःखों से छुड़ाने वाले

दुर्बुद्धि और पापी बना हुआ मेरा राजा नरक में न जाय, ऐसा उपाय करना चाहिये। इसलिये उसे किसी भी युक्ति से मुनि के पास ले जाऊं।' अत. चित्र प्रधान अश्वक्रीडा दिखाने के बहाने राजा को नगर के बाहर ले गया। अतिश्रम से थक जाने के कारण राजा ने मृगवन में चलने का प्रधान से कहा। श्री केशीगणधर उसी मृगवन मे विराजमान थे. और वे उस समय बहुत से लोगों को उपदेश दे रहे थे। उन्हे देख कर राजा ने चित्रसारथी से पूछा—"यह सिरमुंडा, मूढ, जड और अज्ञानी इन लोगों के सामने क्या बोल रहा है?" चित्रसारथी ने कहा—'मैं नहीं जानता। यदि आपकी इच्छा हो तो चलें, वहाँ जा कर सुने।' ऐसा कहने पर राजा चित्रसारथी के साथ वहाँ गया और वंदनादिरूप में विनय किये बिना ही केशीश्रमण से पूछा—"आपकी अनुमति हो तो यहाँ बैठूं?" गुरुमहाराज ने कहा—'यह तुम्हारी भूमि है, अत. जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।' यह सुन कर राजा उनके सामने बैठा। उसे बैठा देख कर आचार्यश्री ने जीव आदि के स्वरूप का विशेषरूप से वर्णन किया। उसे सुन कर राजा ने ताव मे आ कर कहा—'यह सारी उटपटांग बातें है। जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई दे, वही सत्य है, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु प्रत्यक्ष दीखते है, वैसे यह आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखता; इसलिये आकाशपुष्प के समान अविद्यमान आत्मा का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है?" तब केशीगणधर ने कहा—'राजन्! जो वस्तु तुम्हारी नजर से नही दीखती, क्या वह दूसरे को भी दृष्टिगोचर नहीं होती? अतः तुम जो कहते हो कि जो मैं नहीं देखता, वह सब असत्य है, यह मिथ्याकथन है; क्योंकि सभी ने देखा हो और एक ने नहीं देखा हो, वह असत्य नहीं होता और यदि तुम कहो कि उसे सभी देख नहीं सकते तो क्या तुम सर्वज्ञ हो गये? सभी उसे देख नही सकते, यह बात तो सर्वज्ञ ही कह सकता है! जो सर्वज्ञ होता है, वह

चत्तारि-पंच-जोयणसयाइं, गंधो अ मणुअलोगस्स ।

उड्ढं वच्चइ जेणं, न हु देवा तेण आवंति ॥

अर्थात—'इस मनुष्य लोक की दुर्गन्ध चार-पांच सौ योजन ऊपर तक पहुंचती है, इसलिये देवता यहां नहीं आते ।'

राजा ने फिर प्रश्न उठाया—"स्वामिन ! एक बार मैंने एक चोर को जिंदा पकड़ा और उसे एक लोहे की कोठी मे डाल कर उस पर ढकना लगा दिया। कुछ समय बाद जब वह ढक्कन खोला तो मैंने चोर को मरा हुआ पाया। उसकी लाश मे बहुत से जीव उत्पन्न हो गए थे। परन्तु उस कोठी में न कोई छिद्र हुआ और न कोई जीव ही निकलता दिखाई दिया। अन्य जीवों को कोठी मे घुसने के लिये छिद्र चाहिये, वह भी मैंने नहीं देखा। इसलिये मैं कहता हूं कि आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है।" केशीगणधर ने उत्तर दिया—'किसी मनुष्य को तलघर में रख दिया जाय और उसके सभी दरवाजे अच्छी तरह बन्द कर दिये जांय। उसके बाद तलघर मे रहा हुआ मनुष्य जोर से शंख अथवा भेरी बजाए तो क्या उसकी आवाज बाहर सुनाई देती है ? राजा—'हाँ स्वामिन् ! सुनाई देती है।' केशीश्रमण—'जब रूपी आवाज (शब्द) के बाहर जाने से दीवार में छिद्र नहीं होता तो फिर अरूपी आत्मा के बाहर निकलने से छिद्र कैसे हो जायगा ?" प्रदेशी राजा ने फिर शंका की—"स्वामिन् ! मैंने एक चोर के शरीर के टुकडे-टुकड़े किए, उसके प्रत्येक जर्रे-जर्रे को देखा परन्तु उसमें कहीं आत्मा नजर नहीं आया।" केशीगणधर ने कहा—'राजन् ! तुम भी उस लकड़हारे के समान मूर्ख मालूम होते हो ! कुछ लकड़हारे मिल कर एक जंगल मे लकड़ियाँ काट कर लाने गए। जैसे उनमें से एक लकड़हारे ने कहा—'यह अग्नि है; जब रसोई का समय हो तब इसे जला कर

इस प्रकार का ज्ञान करने वाला आत्मा ही होता है। इसलिए आत्मा अनुभव से सिद्ध है। जैसे तिलों मे तेल, दूध मे घी, और काष्ठ में अग्नि रहती है, लेकिन इन चमड़े की आंखों से ये वस्तुयें नहीं दिखाई देतीं, उसी प्रकार शरीर मे आत्मा का निवास चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देता।"

ये और इस प्रकार की अनेक युक्तियों, प्रमाणों और आकार तर्कों से श्रीकेशीश्रमण गणधर ने प्रदेशी राजा को उत्तर दिया; जिससे उसकी शंकाओं का यथार्थ समाधान हो गया। राजा ने प्रसन्न हो कर विनयपूर्वक नमस्कार करके श्रीकेशीगणधर से कहा—"भगवन्! आपकी बात सत्य है, आपके ज्ञान को धन्य है। आपके उपदेशमन्त्र से मेरे हृदय मे स्थित मिथ्यात्वपिशाच तो भाग गया है; मगर कुल-परम्परा से प्राप्त इस नास्तिकधर्म को सहसा कैसे छोड़ूं? यही विचार बारबार आ रहा है।" श्रीकेशीगणधर ने कहा—'राजन! तुम भी उस लोहवणिक् की तरह अपनी मूर्खता प्रदर्शित कर रहे हो। कुछ वणिक् मिलकर व्यापार करने के लिए परदेश रवाना हुए। रास्ते में उन्होंने एक जगह लोहे का खान देखी। उन्होंने अपनी गाड़ियों में लोहा भर लिया। थोडी दूर चलने पर उन्हे एक तांबे की खान मिली। तब एक वणिक् को छोड़ कर सबने अपनी गाड़ियों से लोहा उतार कर उनमे तांबा भर लिया। कुछ दूर जाने पर उन्हें चांदी की खान दिखाई दी। एक को छोड़ कर सब ने अपनी-अपनी गाड़ी में चांदी भर ली, तांबा वहीं छोड़ दिया। उस लोहवणिक् को उन्होंने लोहा वहीं छोड़ कर चांदी भर लेने के लिए बहुतेरा समझाया। पर वह अपनी जिद पर अड़ा रहा। आगे चलने पर उन्हे सोने की खान मिली। और सबने चांदी खाली करके अपनी गाड़ियों मे सोना भर लिया, पर उस लोहवणिक् ने लोहा ही भरा रखा। इसके पश्चात् कुछ दूर चले होंगे कि उन्हे जगमगाती हुई रत्नों की खान दिखाई

दुर्नीति, दुर्भाग्य और दुःख आदि को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।' परन्तु ऐसा कहीं होता नहीं। इसलिए राजन्! कुलपरम्परागत सभी बातें धर्म नहीं होती, न किसी कुल के पूर्वजों द्वारा आचरित चोरी, जारी, हत्या आदि पाप धर्म हो सकते हैं। अतः ऐसे पापमिश्रित कुलाचार को छोड़ना और जीवरक्षादि धर्ममिश्रित आचार को ग्रहण करना ही विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है।'

श्रीकेशीश्रमण के इस उपदेश से राजा प्रदेशी बड़ा प्रभावित हुआ, उसकी अन्तरात्मा प्रतिबुद्ध हो उठी। उसने विनयपूर्वक उद्गार निकाले—'भगवन्! आपका कथन बिलकुल सत्य है, तथ्य, तत्त्वरूप और वास्तविक है। इसके विपरीत बातें चाहे वे परम्पराचरित हों, तो भी अनर्थकर है। अतः मेरी इच्छा है कि मैं आपसे सम्यक्त्वसहित श्रावक के १२ व्रत अंगीकार करके वास्तविक धर्म का आचरण करूं।" केशीगणधर राजा ने प्रदेशी को सम्यक्त्वपूर्वक बारहव्रतों का स्वरूप समझा कर अंगीकार कराए। जिस समय राजा प्रदेशी मुनिवर से मंगलपाठ सुन कर विदा होने लगा; उस समय उन्होंने कहा—'राजन्! अब तुम रमणीक (रम्यजीवनवाले) हो कर जा रहे हो, लेकिन देखना, बाद मे कभी अरमणीक (अरम्य जीवनवाले) न बन जाना ('मा णं तुमं पएसी पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जो भविज्जासि'—राजप्रश्नीय सूत्र) इस समय तुम जैनधर्म की प्राप्ति होने से दाता के बदले अदाता (कृपण) न बनाना, क्योंकि अदाता बनने पर अन्तरायकर्म का बन्ध तो होगा ही; साथ ही जिनधर्म की भी निन्दा होगी, चिरकाल से प्रचलित दान धर्म को सहसा बन्द कर देने में तुम लोकविरुद्धता और निन्दा आदि दोषों का भागी भी बनोगे। इसलिये यथायोग्य समझ कर परम्परा से प्रचलित दान अवश्य चालू रखना। तुम्हें सिर्फ मिथ्यात्व और अधर्म को छोड़ना है, उत्तम दया, दान आदि धर्म का आचरण

सुख की प्राप्ति कराने वाले उपकारी धर्माचार्य की यत्नपूर्वक सेवा करनी चाहिये ।

इसी बात को ग्रन्थकार आगे की गाथा में बता रहे हैं—

नरयगइगमण-पडिहयए कए तह पएसिणा रन्नो ।

अमरविमाणं पत्तं आयरियप्पभावेण ॥ १०३ ॥

शब्दार्थ—'नरकगति में गमन करने के लिए उद्यत प्रदेशीराजा को आचार्य (केशीश्रमण) के प्रताप से देवविमान प्राप्त हुआ। सचमुच, आचार्य-(गुरु) सेवा महान फलदात्री होती है ।'

धम्ममइएहिं अइसुंदरेहिं कारणगुणोवणीएहिं ।

पल्हायंतो य मण सीसं चोएइ आयरिओ ॥ १०४ ॥

शब्दार्थ—'आचार्य भगवान् अतिसुन्दर (निर्दोष) धर्ममय कारणों, (हेतुओं) युक्तियों और दृष्टान्तों से शिष्य के मन को आनन्दित करते हुए उसे प्रेरणा देते हैं और संयम (धर्म) मार्ग में स्थिर करते हैं ।'

जीअं काऊण पणं तुरमणि दत्तस्स कालिअज्जेण ।

अवि य सरीरं चत्तं न य भणियमहम्मसंजुत्तं ॥ १०५ ॥

शब्दार्थ—'तुरमणि नगर में कालिकाचार्य से दत्त राजा ने पूछा तो उन्होंने अपने शरीर के त्याग की परवाह न करके भी असत्य-अधर्मयुक्त वचन नहीं कहा ।'

भावार्थ—'दत्तराजा ने जब कालिकाचार्य से यज्ञ का फल पूछा तो अपने शरीर (प्राण) की ममता छोड़ कर निर्भयतापूर्वक स्पष्ट कहा—'ऐसे हिंसामय यज्ञ का फल तो नरकगति ही है,' मगर राजा के लिहाज में आ कर धर्मविरुद्ध असत्य उत्तर न दिया । इसी प्रकार मुनियों को भी धर्मसंकट आ पड़ने पर भी धर्मविरुद्ध वचन नहीं कहना चाहिए ।'

गुरु ने कहा—'जहां हिंसा हो, वहां धर्म नहीं हो सकता, कहा है—

'दमो देव-गुरुपास्तिर्दानमध्ययनं तपः।
सर्वमप्येतदफलं हिंसा चेन्न परित्यजेत् ॥'

'यदि हिंसा का त्याग न किया जाय तो इन्द्रियों का दमन, देव-गुरु की सेवा, दान, अध्ययन, और तप, ये सब व्यर्थ है।' दत्त ने फिर यज्ञ का फल पूछा, तो गुरु ने कहा—'हिंसा दुर्गति का कारण है। कहा भी है—

'पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः।
निरागस्त्रसजंतूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥'

लंगड़ा होना, कुष्ट रोगी होना, या कुबड़ा आदि होना हिंसा का ही फल है, ऐसा जान कर बुद्धिमान पुरुष निरपराधी त्रस जीवों की संकल्प से भी हिंसा का त्याग करे। तब दत्तराजा ने झुंझला कर कहा—'तुम ऐसा ठेढामेढा, गोलमोल उत्तर क्यों देते हो? यज्ञ का फल जैसा हो वैसा साफसाफ (सत्य) कहो।' तब कालिकाचार्य ने विचार किया कि 'यद्यपि यह राजा है और यज्ञ मे इसकी गाढ़ प्रीति है। जो होना होगा वही होगा, मैं कदापि मिथ्या नहीं बोलूंगा। प्राणान्त कष्ट आने पर भी असत्य बोलना कल्याणकारी नहीं है। नीतिज्ञो का कथन है—

निंदन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करे अथवा स्तुति; लक्ष्मी की

ही शौच बैठ कर उस पर उसने फूल ढांके और चला गया। सहसा राजा के घोड़े का पैर उस पर टिकने से विष्ठा एकदम उछली और राजा के मुंह में पड़ी। इससे गुरु के वचन पर विश्वास आने से राजा वापस आया। दत्तराजा को अकेला जान कर जितशत्रु राजा के सेवकों ने गिरफ्तार कर लिया और जितशत्रु को राजगद्दी पर बैठाया। नये राजा ने विचार किया—'यदि यह जीता रहा तो दुःखदायी बनेगा।' अतः उसे एक लोहे की कोठी में गिरवा दिया; जहाँ दत्त बहुत दिनों तक विलाप करता-करता दुःख पाता हुआ मर गया। मर कर वह सातवीं नरकभूमि में गया। श्रीकालिकाचार्य चारित्राराधना करके देवलोक में पहुचे।

इसी तरह अन्य साधुओं को प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी असत्य नहीं बोलना चाहिये, यही इस कथा का सार है।

> फुडपागडमकहंतो जहट्ठिग्रं बोहिलाभमुवहणइ।
>
> जह भगवओ विसाली जर-मरण-महोदही आसी ॥१०६॥

शब्दार्थ—'स्पष्टरूप से यथार्थ सत्य नहीं कहने पर साधक आगामी जन्म में बोधिलाभ (धर्मप्राप्ति) का नाश कर देता है। जैसे वैशालिक भ० महावीर ने मरीचि के भव में यथास्थित सत्य नहीं कहा, जिसके कारण उनके लिए जरा-जन्मों का महासमुद्र तैयार हो गया। यानी कोटाकोटी सागरोपमकाल तक संसार (जन्म मरण रूप) की वृद्धि की।' श्रीमहावीर स्वामी के सम्बन्ध में पूर्वजन्मों की वह घटना दे रहे हैं—

श्रीमहावीर स्वामी के पूर्वजन्म की कथा

प्रथम (सम्यक्त्वप्राप्ति के भव में पश्चिम महाविदेह में भ० महावीर का जीव नयसार के रूप में था। किसी ग्रामाधीश के अधीन

विहार करते-करते भगवान अयोध्या पधारे। वहाँ उनका समवसरण लगा। भरत चक्रवर्ती को मालूम हुआ तो वह भी उन्हें वन्दना करने के लिए आया। भगवान के प्रवचन सुनने के बाद भरत ने उनसे पूछा—'स्वामिन ! क्या इस धर्मसभा मे कोई भावी तीर्थंकर है ?" भगवान ने कहा—"भरत ! तुम्हारा गृहस्थपक्ष का पुत्र मरीचि, जो इस समय त्रिदंडी संन्यासी के वेष मे है, वर्तमान अवसर्पिणीकाल मे अन्तिम (चौबीसवां) तीर्थंकर वर्धमान होगा। महाविदेहक्षेत्र में मूकानगरी मे प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा और इस भरतक्षेत्र मे पहला त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव होगा। यह पहले दो पदों का उपभोग कर बाद मे अन्तिम तीर्थंकर होगा।" यह सुनते ही भरत अत्यन्त हर्षावेश मे मरीचि के पास पहुंचे और उसे तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करके कहा—"मरीचि ! ससार के सर्वोत्कृष्ट लाभ आपने प्राप्त किये है। क्योंकि मैंने भगवान् के श्रीमुख से सुना है कि आप अन्तिम तीर्थंकर, चक्रवर्ती और प्रथम वासुदेव होंगे, इस दृष्टि से मैं वन्दना करता हू। धन्य है आपको !" इस प्रकार मरीचि की प्रशंसा करके भरत अपने स्थान पर लौटे। मरीचि ने अपने भावी उत्कर्ष की बाते सुन हर्षावेश में आ कर तीन बार जोर से पैर पछाड़े और नाचता हुआ कहने लगा—"मेरे से बढ़कर कौन भाग्यशाली होगा ! मैं ही मूकानगरी में चक्रवर्ती, प्रथम वासुदेव और अन्तिम तीर्थंकर बनूंगा। इस प्रकार मुझे तीन पद मिलेगे। मेरा कुल ही सर्वोत्तम है।" इस प्रकार बार-बार कुल का मद (गर्व) करने से मरीचि ने नीचगोत्रकर्म बाध लिया।

भ० ऋषभदेव के निर्वाण के बाद मरीचि उनके साधुओ के साथ विचरण करता था। एक दिन मरीचि बीमार पड़ा। परन्तु जैन-साध्वाचार में शिथिल होने के कारण उसकी सेवाशुश्रूषा किसी साधु ने नही की। तब उसने सोचा—'इतने परिचित साधुओं के होते

८ वें भव में चैत्यसन्निवेश नामक गांव में अग्निद्योत नाम का ६० लाख पूर्व की आयु वाला ब्राह्मण हुआ। अन्तिम जिन्दगी में उसने त्रिदण्डीवेष धारण किया। ग्यारहवें भव में तीसरे कल्प में मध्यम स्थिति वाला देव बना। बारहवें भव में श्वेताम्बरी में ४४ लाख पूर्व की आयु वाला भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ। जिन्दगी के अन्तिम दिनों में त्रिदण्डी बना। १३ वें भव में महेन्द्रकल्प में मध्यम स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से कितने ही काल तक संसार में परिभ्रमण करके १४ वें भव में राजगृह नगर में ३४ लाख पूर्व की आयुष्य वाला स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ। त्रिदण्डीवेष में ही आखिरी जिन्दगी पूरी की। वहाँ से १५ वें भव में ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग में मध्यमस्थिति वाला देव बना। १६ वें भव में एक करोड़ वर्ष की आयु वाला विश्वभूति नामक युवराज हुआ। इस जन्म में संसार से विरक्ति होने के कारण उसने संभूतिमुनि से मुनिदीक्षा धारण करके एक हजार वर्ष तक कठोर तपश्चर्या की। एक दिन मासिक (मासक्षपण) उपवास के पारणे के लिए मथुरा नगरी में गोचरी करने जा रहे थे कि रास्ते में एक गाय ने सींग मारे। तपस्या से शरीर दुर्बल था ही, अतः नीचे गिर पड़े। यह देख कर उनके गृहस्थपक्ष के चाचा का पुत्र विशाखनन्दी, जो वहाँ एक शादी में आया हुआ था; उपहास के स्वर में बोला—'वाह रे डरपोक! तू तो एक मुट्ठी के प्रहार से कोठे के वृक्ष के तमाम फल गिरा देता था! आज कहाँ गई तेरी वह ताकत? मालूम होता है; साधुओं ने तुझे मार-मार कर कमजोर बना दिया है।' इस तानेकशी से उत्तेजित हो कर विश्वभूति मुनि ने उस गाय के दोनों सींगों को पकड़ कर अधर घुमाई कि बेचारी मरणासन्न हो गई। फिर निदान किया कि "इस तप के फल के रूप में मैं भवान्तर में सबसे अधिक बलवान बनूं।" एक हजार वर्ष का तप निदान सहित करने और अन्तिम समय में

इस तरह मरीचि के भव में उत्सूत्रप्ररूपणा करने से कोटाकोटी सागरोपम तक संसार की वृद्धि की। जो साधक सूत्रविरुद्ध प्ररूपणा करते हैं, वे इसी प्रकार संसार की वृद्धि करते हैं। इसलिए कदापि उत्सूत्र-प्ररूपणा नहीं करना चाहिए। इस कथा से यही उपदेश मिलता है।

कारुन्न-रुन्न-सिंगारभाव-भय-जीवियंतकरणेहिं।
साहू अवि अ मरंति न य निअनियमं विराहंति ॥१०७॥

शब्दार्थ—'करुणाभाव, रुदन, शृंगारभाव, राजा आदि किसी की ओर से भय या जीवन का अंत तक करने वाले अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों (कष्टों) के आ पड़ने पर भी साधु अपने नियमों का कभी विराधन (भंग) नहीं करते।'

अप्पहियमायरंतो अणुमोयंतो य सुग्गइं लहइ।
रहकार-दाणमणुमोयगो मिगो जह य बलदेवो ॥१०८॥

शब्दार्थ—'तप, संयम आदि आत्मकल्याण का आचरण करने वाला तथा दानादि धर्म की अनुमोदना करने वाला जीव भी सद्गति प्राप्त करता है। जैसे मुनि को दान देने वाला रथकार, उसकी अनुमोदना करने वाला मृग और तप-संयम का आचरण करने वाला मुनि बलदेव तीनों ने सुगति प्राप्त की।'

भावार्थ—'बलदेव मुनि, रथकार (बढ़ई) और हिरन ये तीनों यहां से आयुष्य पूर्ण कर पाचवें देवलोक मे गए; क्योंकि एक ने तपसंयम आदि आत्महित का आचरण किया था, दूसरे ने भिक्षा के रूप में दान दिया था और तीसरे ने मुनि को दान दिलाने की दलाली की थी और दान की अतीव भाव से अनुमोदना की थी। मतलब यह है दान-शील आदि धर्म का आचरण, उसके पालन में

बलदेव आयेगा, वह तुझे जिंदा नहीं छोड़ेगा।" जराकुमार भयभीत हो कर शीघ्र ही वहां से नौ दो ग्यारह हो गया। श्रीकृष्णजी के मन में अपने आप पर बड़ी ग्लानि हुई कि 'अपने जीवन में ३५० संग्रामों में विजयी और महाबली होते हुए भी जराकुमार के एक ही बाण से मेरी मृत्यु हो रही है! और मेरा वह हत्यारा भी सकुशल चला गया।' पर ऐसा ही होना था। श्रीकृष्णजी निरुपाय थे, अतः मृत्यु अवश्यम्भावी थी। मर कर वे अधोलोक के तृतीय धराधाम में पहुंचे।

कुछ ही समय बाद बलदेवजी पानी ले कर वहाँ आए और कृष्ण से कहा—'बन्धु! उठो, मैं तुम्हारे लिए ठण्डा पानी लाया हूं, पी लो।' पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न मिला। बलदेव ने सोचा—'मुझे पानी लाने में काफी देर हो गई, इसलिए भाई रुष्ट हो गया दिखता है। मैं उससे क्षमा मांग कर उसे प्रसन्न करूं।" यों सोच कर भाई के चरणों में पड़ कर निवेदन किया—'बन्धुवर! यह क्रोध करने का अवसर नहीं है। मुझे क्षमा करो और पानी पी कर जल्दी यहाँ से चलो। इस भयानक जंगल में हम दोनों अकेले हैं।' जब हिला-हिला कर बारबार पुकारने पर भी श्रीकृष्ण नहीं उठे तो मरे हुए होने पर भी मोहवश उन्हें जलपिपासा के कारण मूर्च्छित और जीवित समझ कर बलदेवजी ने कंधे पर उठाया और चल पड़े। संसार में तीन बातें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। वे इस प्रकार हैं—

'तीर्थंकराणां साम्राज्यं सपत्नीवैरमेव च।
वासुदेव-बल-स्नेहः सर्वेभ्योऽप्यधिकं मतम्॥'

'तीर्थंकरों का शासन, सौतों का वैर और वासुदेव-बलदेव का परस्पर स्नेह ये तीनों बातें दुनिया में सब बातों से बढ़कर मानी जाती हैं।'

पानी भरने के लिए घड़े में रस्सी डालने के बजाय भ्रान्ति से अपने पुत्र के गले में रस्सी डालने लगी। देखते ही फौरन मुनि ने उससे कहा—"मुग्धे ! जरा देख तो सही, तू क्या कर रही है ? रूप के मोह में पागल हो कर इस बच्चे के गले में रस्सी डाल कर क्यों मार रही है ?" सुनते ही वह एकदम चौंकी और बच्चे के गले से रस्सी निकाल ली। किन्तु बलदेवमुनि विचारों की गहराई में डूब गये—"धिक्कार है मेरे रूप को ! आज इसी रूप के कारण भयंकर अनर्थ होते-होते बचा ! अत: इस रूप को छिपाया तो नहीं जा सकता; लेकिन शहर में आने व रहने के बजाय जंगल में रह कर इसके आकर्षण को टाला जा सकता है।" इस प्रकार बलदेवमुनि ने जिंदगी-भर वन में ही रहने का अभिग्रह (दृढ़संकल्प) कर लिया। वे तुंगिका-नगरी के बाहर तुंगिकापर्वत पर रहने लगे। जिस दिन मुनि के तपश्चर्या का पारणा होता उस दिन वे वहीं जंगल में कोई सार्थवाह या लकड़हारा आया हुआ होता तो उसके यहाँ से भिक्षा ले कर निर्वाह कर लेते। जिस दिन निर्दोष आहार न मिलता, उस दिन उपवास कर लेते। इस तरह अपनी तपस्या में वृद्धि करने के फल-स्वरूप बलदेव मुनि को अनेक लब्धियां प्राप्त हो गईं। लब्धि के प्रभाव से उन्होंने अनेक बाघों व सिंहों को उपदेश देकर प्रतिबोधित किया। और वह सिद्धार्थदेव भी उनकी सेवा में रहने लगा। एक दिन उनके उपदेश से एक अतिभद्र मृग को प्रतिबोध हुआ। वह भी रातदिन इनकी सेवा करता और जंगल में घूमा करता। मुनि किस प्रकार का प्रासुक, एषणीय, निर्दोष, आहार लेते हैं इस बात को वह जान गया था। इसलिए जंगल में जहाँ भी मुनि के योग्य निर्दोष आहार देखता, वहाँ अपने मूक इशारे और चेष्टाओं से मुनि को समझा कर स्वयं आगे-आगे हो कर ले जाता और आहार दिलाने की दलाली करता था।

पूरणतापस की कथा

विन्ध्याचल पर्वत की तलहटी मे पेढाल नाम का गाँव था। वहाँ पूरण नाम का एक सेठ रहता था। उसने एक दिन विरक्त हो कर अपने पुत्र को गृहभार सौंप कर तामलितापस की तरह तापसदीक्षा ले ली। वह निरन्तर दो-दो उपवास (छठ-छठ तप) करने लगा। पारणे के दिन वह चार खानों वाला एक भिक्षापात्र झोली में डाल कर ले जाता और पहले खाने में जो आहारादि पडता उसे पक्षियों को दे देता, दूसरे खाने मे जो आहारादि पड़ता उसे जलचर जीवों को दे देता, तीसरे खाने मे जो आहारादि पड़ता, वह स्थलचर-जीवों को दे देता था, और चौथे खाने मे जो आहारादि आता उसे स्वय खाता था। इस प्रकार का अतिकठोर अज्ञानमय तप उसने १२ वर्ष तक किया। जिंदगी के अन्तिम दिनों मे उसने एक मास की सलेखना पूर्वक संथारा (अनशन) किया और काल प्राप्त कर चमरचंचा नामक राजधानी मे चमरेन्द्र हुआ।

पूरण तापस ने जितना घोर तप अज्ञानपूर्वक किया, उतना ही ज्ञानपूर्वक करता उसे बहुत सुफल प्राप्त होता। यही इस कथा का मुख्य उपदेश है।

> कारण नीयावासी सुट्ठुयर उज्जमेण जइयव्वं।
> जह ते संगमथेरा सपाडिहेरा तया आसि ॥११०॥

शब्दार्थ—'वृद्धावस्था, रुग्णता, अशक्ति, विकलांगता आदि किसी कारणवश अगर एक ही स्थान पर नित्य रहना पड़े तो चारित्र (सयम) मे भलीभांति प्रयत्नशील रहना चाहिये। जैसे उस समय मे वृद्धा-वस्थादि कारणों से आचार्य संगम स्थविर स्थिरवासी होते हुए भी चारित्र में प्रयत्नशील थे; देव भी उनसे प्रभावित हो कर उनके सान्निध्य में रहता था।'

कार्यों से जीवहिंसा होती है, यह प्रत्यक्ष असंयम का मार्ग है। सुविहित साधु को ऐसे कामों में सीधे नहीं पड़ना चाहिए।'

पोवो वि गिहिपसंगो जइणो गुदस्स पकमावहइ।

जइ सो वरित्तरिसि हसिओ पज्जोअ-नरवइणा ॥११३॥

शब्दार्थ—'शुद्ध मुनि को गृहस्थ के थोड़े-से परिचय (ससर्ग) से पापरूपी कीचड लग जाता है। जैसे वरदत्तमुनि की चण्डप्रद्योत राजा ने हंसी उड़ाई थी कि "अजी नैमित्तिकजी! आपको वन्दन करता हूँ" इसलिए मुनिवर गृहस्थ का जरा भी संसर्ग न करे।'

प्रसंगवश यहाँ वरदत्तमुनि की कथा दी जा रही है—

वरदत्तमुनि की कथा

चम्पानगरी में मित्रप्रभ नामक राजा राज्य करता था। उसका मंत्री धर्मघोष था। उसी नगरी में धनमित्र नाम का एक अत्यन्त राजमान्य सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम धनश्री था। उसके रूपलावण्ययुक्त, तेजस्वी, नारीजनवल्लभ सुजातकुमार नाम का एक पुत्र था। एक दिन युवक सुजातकुमार धर्मघोषमंत्री के अन्तःपुर के पास से हो कर जा रहा था; तभी मन्त्रीपत्नी प्रियंगुमंजरी की दृष्टि उस पर पड़ी। सुजातकुमार का रूप-लावण्य, देख कर अत्यन्त मोहित हो गई। मन्त्री की अन्य सब पत्नियां सुजातकुमार को देख कर परस्पर कहने लगीं—'सखियो! हमे यह पुरुष अत्यन्त प्रिय लगता है। यह जिस स्त्री का भोक्ता होगा, वह स्त्री बड़ी भाग्यशालिनी होगी। एक दिन प्रियंगुमंजरी सुजातकुमार का वेश धारण करके अपनी सौतों के साथ पुरुष की तरह विनोद और क्रीडा करने लगी। यह देख कर मन्त्री को सभी स्त्रियों के प्रति घृणा हो गई। उसने सोचा—"मेरी सभी स्त्रियां इस सुजातकुमार के साथ लगी हुई हैं।

आपकी कृपा से मैं चन्द्रयशा का जीव देव हुआ हूँ। मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहिये।" सुजातकुमार ने सम्यक् धर्माराधन का फल जान कर अपनी इच्छा प्रगट की—"यदि तुम सेवा करना चाहती हो तो मेरा कलंकनिवारण करके मुझे अपने माता-पिता के पास पहुंचा दो, ताकि मैं भी मुनिदीक्षा अंगीकार करके धर्माराधन कर सकूं।"

देव ने सुजातकुमार की इच्छानुसार सारा कार्य कर दिया। पहले सुजातकुमार को उसने चम्पानगरी के उद्यान में पहुचाया। फिर नगरी के जितनी चौड़ी एक शिला बना कर आकाश में खड़े हो कर चन्द्रप्रभ राजा को डराया और धमकाया—'अरे नराधम! तूने सुजातकुमार पर कलंक लगा कर उसके विरुद्ध आचरण क्यों किया?" राजा भय से कांपता हुआ देव के पास हाथ जोड कर खडा हुआ और देव से तथा सुजातकुमार से उसने चरणों में पड कर क्षमायाचना की। देव ने भी अपनी माया समेट ली। इसके बाद सुजातकुमार को राजा ने हाथी पर बिठा कर धूमधाम से गाजे-बाजे के साथ नगरी में प्रवेश कराया। सुजातकुमार भी घर पहुच कर अपने माता-पिता के चरणों में गिरा और उनकी आज्ञा ले कर पिता के साथ मुनिदीक्षा ग्रहण की और भलीभांति संयम पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष पहुंचे।

सुजातकुमार से प्रभावित राजा ने धर्मघोषमंत्री को देशनिकाला दे दिया। उसके पुत्रों और पत्नियों ने भी उसे बहुत धिक्कारा। मंत्री धर्मघोष घूमताघामता राजगृह पहुंचा। वहाँ एक स्थविरमुनि से उसने दीक्षा ली और शास्त्रों का भलीभांति अध्ययन करके गीतार्थ हुआ। विहार करते-करते एक बार धर्मघोषमुनि वरदत्तनगर पहुंचे। एक दिन वहाँ के वरदत्त नामक मंत्री के यहाँ वे गोचरी के लिए पधारे। वरदत्तमंत्री ने खीर का बर्तन उठाकर कहा—"स्वामिन्! यह निर्दोष आहार है; इसे ग्रहण कीजिए।" संयोगवश उस बर्तन में से

उस समय सुसुमारपुर के राजा धुंधुमार की रूपवती पुत्री अंगारवती ने किसी योगिनी के साथ विवाद किया, उसमें योगिनी हार गई। इसके कारण योगिनी को क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने अंगारवती का हूबहू चित्र बना कर चण्डप्रद्योत राजा को दिखाया। चित्र देखते ही चण्डप्रद्योत उसे पाने के लिए लालायित हो उठा। योगिनी ने भी राजा के सामने बढ़ाचढ़ा कर उसके रूप का वर्णन किया। चंडप्रद्योतन ने धुंधुमार राजा के पास दूत भेजकर अंगारवती की मांग की। धुंधुमार राजा ने दूत को उत्तर दिया—'पुत्री मन की प्रसन्नता से दी जाती है, बलात्कार से नहीं।' दूत के मुख से धुंधुमार का उत्तर सुन कर चण्डप्रद्योतन क्रोध से आगबबूला हो उठा। वह बड़ी भारी सेना ले कर सुसुमारपुर पहुंचा और उसे चारों ओर से घेर लिया। धुंधुमार राजा के पास बहुत ही थोडी सेना थी; इसलिए युद्ध करना लाभदायी न समझ कर वह नगर के अन्दर ही रहा। काफी दिन व्यतीत हो जाने पर धुंधुमार नृप ने एक नैमित्तिक से पूछा—"अगर मैं चण्डप्रद्योत के साथ युद्ध करूं तो उसमें मेरी जय होगी या पराजय ?" नैमित्तिक ने कहा—"मैं निमित्त देख कर आपको बताऊंगा।" नैमित्तिक ने नगर के एक चौक में आ कर बच्चों को डराया। इससे बच्चे भयभीत हो कर नागमन्दिर में विराजमान वरदत्तमुनि के पास पहुंचे। बच्चों को भय से कांपते हुए देख कर मुनि ने कहा—"बालको डरो मत ! तुम्हें किसी का भय नहीं है।" मुनि के मुख से ये उद्‌गार सुन कर नैमित्तिक ने मन ही मन निश्चय करके धुंधुमार राजा से कहा—"राजन् ! आपको किसी प्रकार का भय नहीं होगा। विजय भी आपकी ही होगी।" यह सुन कर राजा को बड़ी खुशी हुई। उसने सेनासहित नगर के बाहर निकल कर चण्डप्रद्योत के साथ युद्ध छेड़ा। युद्ध में चण्डप्रद्योत की हार हुई। उसे जीता ही पकड़ कर

कहा—"नाथ ! नागमन्दिर में एक मुनि विराजमान थे। उनके बताए हुए निमित्त-(भविष्य) कथन के प्रभाव से मेरे पिताजी की विजय हुई।" चंडप्रद्योत के मन मे भावना पैदा हुई और वह स्वयंप्रेरणा से मुनि वरदत्त के पास पहुंचा और उन्हें उपहास की भाषा मे संबोधित करते हुए यों कहा—"हे नैमित्तिकमुनि ! मैं आपको वन्दना करता हूं।" अपने लिए नैमित्तिक शब्द सुन कर वरदत्तमुनि ने विचार किया—"मैं कौन-सा और कब निमित्त (भविष्य) बताया है ?" सोचते-सोचते उन्हे ख्याल आया कि जिस समय घबराए हुए कुछ बच्चे मेरे पास आये थे, उस समय मैंने उन्हे कहा था—'डरो मत। तुम्हे किसी प्रकार का भय नहीं है।' सचमुच, इस प्रकार निमित्त-कथन करना मेरे लिए दोषजनक था। वरदत्त मुनि ने यथार्थरूप से इस दोष की आलोचना की और शुद्ध हो कर निर्दोषरूप से चारित्राराधना की और सद्गति मे पहुंचे।

इसलिए निर्दोष चारित्राराधना करने वाले मुनि के लिए गृहस्थो का थोडा-सा भी संसर्ग हानिकारक होता है; यही इस कथा का मुख्य उपदेश है।

सब्भवो वीसंभो नेहो रइवइयरो जुवइजणे।
सयणघरसपसारो तवसीलवयाइं फेडिज्जा ॥११४॥

शब्दार्थ—'युवतियों के सामने सद्भावपूर्वक अपने हृदय की बात कहना, उन पर अत्यन्त विश्वास रखना, उनके प्रति स्नेह (मोहजन्य-संसर्ग) रखना, कामकथा करना और उनके सामने अपने स्वजन-सम्बन्धियों की, अपने घर आदि की बारबार बाते करना साधु के तप (उपवासादि), शील (ब्रह्मचर्यादि गुण) तथा महाव्रतों का भंग करती हैं।'

जोइस-निमित्त-अक्खर-कोउआएस-भूइकम्मेहिं।
करणाणुमो-अणाहि अ साहुस्स तवक्खओ होइ ॥११५॥

पा कर शीघ्र ही अपने प्राणातिपातविरमण (अहिंसा) आदि पच-महाव्रतरूप मूलगुणों से भी च्युत हो जाता है। क्योंकि उत्तरगुणों के नाश से मूलगुणों का एक दिन नाश हो जाता है। साधुजीवन के मौलिक नियमों के पालन मे ज्यों-ज्यों प्रमाद, शिथिलता या असावधानी वरती जायगी, त्यों-त्यों उसमें अनेक दोष घुसते जायंगे। फिर दोषों को छिपाने या उन्हें गुण सिद्ध करने के लिए साधु मे क्रोध, अभिमान, कपट और लोभ आदि का उद्भव होगा। यानी संयम-पालन मे ढिलाई आने से सर्वप्रथम उत्तरगुण लुप्त होते जायेंगे, तत्पश्चात कषायों के भड़कने से मूलगुणों का भी सफाया हो जायगा। इसलिए साधु उत्तरगुणों को किसी हालत में न छोड़े। और प्रमाद, शैथिल्य, असावधानी व अविवेक को छोड़ कर अपनी तप-जप-संयमसाधना में सदा तल्लीन रहे।'

जो निच्छएण गिण्हइ देहच्चाए विनय धिइं मुयइ।
सो साहेइ सकज्जं जह चंदवडिसओ राया ॥ ११८ ॥

शब्दार्थ—'जो महानुभाव व्रत-नियमों को स्वेच्छा से दृढ़ निश्चयपूर्वक ग्रहण करता है और देहत्याग तक का कष्ट आ पड़ने पर भी उनके पालन का धैर्य नहीं छोड़ता (अर्थात् स्वीकृत अभिग्रह-संकल्प-पर डटा रहता है), वह अपना कार्य (मुक्तिरूप साध्य) सिद्ध कर लेता है। जैसे चन्द्रावतंसक राजा ने प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी अपना अभिग्रह नहीं छोड़ा; वैसे ही अन्य साधकों को करना चाहिए।'

यहाँ प्रसंगवश चन्द्रावतंसक राजा का उदाहरण दे रहे हैं—

चन्द्रावतंसक राजा की कथा

केतपुर का राजा चन्द्रावतंसक बहुत ही धार्मिक वृत्ति का था।

पा कर शीघ्र ही अपने प्राणातिपातविरमण (अहिंसा) आदि पंच-महाव्रतरूप मूलगुणों से भी च्युत हो जाता है। क्योंकि उत्तरगुणों के नाश से मूलगुणों का एक दिन नाश हो जाता है। साधुजीवन के मौलिक नियमों के पालन मे ज्यों-ज्यों प्रमाद, शिथिलता या असावधानी बरती जायगी, त्यों-त्यों उसमें अनेक दोष घुसते जायेंगे। फिर दोषों को छिपाने या उन्हें गुण सिद्ध करने के लिए साधु में क्रोध, अभिमान, कपट और लोभ आदि का उद्भव होगा। यानी संयम-पालन मे ढिलाई आने से सर्वप्रथम उत्तरगुण लुप्त होते जायेंगे, तत्पश्चात कषायों के भडकने से मूलगुणों का भी सफाया हो जायगा। इसलिए साधु उत्तरगुणों को किसी हालत में न छोड़े। और प्रमाद, शैथिल्य, असावधानी व अविवेक को छोड़ कर अपनी तप-जप-संयमसाधना में सदा तल्लीन रहे।'

> जो निच्छएण गिण्हइ देहच्चाए विनय धिइं मुयइ।
> सो साहेइ सकज्जं जह चंदवडिसओ राया॥ ११८॥

शब्दार्थ—'जो महानुभाव व्रत-नियमों को स्वेच्छा से दृढ़ निश्चयपूर्वक ग्रहण करता है और देहत्याग तक का कष्ट आ पड़ने पर भी उनके पालन का धैर्य नहीं छोड़ता (अर्थात् स्वीकृत अभिग्रह-संकल्प-पर डटा रहता है), वह अपना कार्य (मुक्तिरूप साध्य) सिद्ध कर लेता है। जैसे चन्द्रावतंसक राजा ने प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी अपना अभिग्रह नहीं छोड़ा; वैसे ही अन्य साधकों को करना चाहिए।'

यहाँ प्रसंगवश चन्द्रावतंसक राजा का उदाहरण दे रहे है—

चन्द्रावतंसक राजा की कथा

केतपुर का राजा चन्द्रावतंसक बहुत ही धार्मिक वृत्ति का था।

पा कर शीघ्र ही अपने प्राणातिपातविरमण (अहिंसा) आदि पंच-महाव्रतरूप मूलगुणों से भी च्युत हो जाता है। क्योंकि उत्तरगुणों के नाश से मूलगुणों का एक दिन नाश हो जाता है। साधुजीवन के मौलिक नियमों के पालन में ज्यों-ज्यों प्रमाद, शिथिलता या असावधानी बरती जायगी, त्यों-त्यों उसमे अनेक दोष घुसते जायंगे। फिर दोषो को छिपाने या उन्हें गुण सिद्ध करने के लिए साधु मे क्रोध, अभिमान, कपट और लोभ आदि का उद्भव होगा। यानी संयम-पालन मे ढिलाई आने से सर्वप्रथम उत्तरगुण लुप्त होते जायेंगे, तत्पश्चात कषायों के भड़कने से मूलगुणों का भी सफाया हो जायगा। इसलिए साधु उत्तरगुणों को किसी हालत मे न छोड़े। और प्रमाद, शैथिल्य, असावधानी व अविवेक को छोड़ कर अपनी तप-जप-संयमसाधना में सदा तल्लीन रहे।'

जो निच्छएण गिण्हइ देहच्चाए विनय धिइं मुयइ।
सो साहेइ सकज्जं जह चंदवडिसओ राया ॥ ११८ ॥

शब्दार्थ—'जो महानुभाव व्रत-नियमों को स्वेच्छा से दृढ़ निश्चयपूर्वक ग्रहण करता है और देहत्याग तक का कष्ट आ पड़ने पर भी उनके पालन का धैर्य नहीं छोड़ता (अर्थात् स्वीकृत अभिग्रह-संकल्प-पर डटा रहता है), वह अपना कार्य (मुक्तिरूप साध्य) सिद्ध कर लेता है। जैसे चन्द्रावतंसक राजा ने प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी अपना अभिग्रह नहीं छोड़ा; वैसे ही अन्य साधकों को करना चाहिए।'

यहाँ प्रसंगवश चन्द्रावतंसक राजा का उदाहरण दे रहे हैं—

चन्द्रावतंसक राजा की कथा

साकेतपुर का राजा चन्द्रावतंसक बहुत ही धार्मिक वृत्ति का था।

समभावपूर्वक सहन करता है, वही वास्तव में साधुधर्म की सम्यक् आराधना कर सकता है। क्योंकि जो धैर्यवान हो कर ऐसे कष्टों को तुच्छ समझ कर उन्हें सह लेता है, वही तपश्चरण करता है। परन्तु कायर हो कर घबरा कर जो ऐसे समय मैदान छोड़ देता है, प्रमाद करता है, वह अपने तप-संयम के वास्तविक फल से वंचित रहता है।'

धम्ममिणं जाणंता गिहिणो दढव्वया किमुअ साहू।
कमलामेलाहरणे सागरचंदेण इत्युवमा ॥

शब्दार्थ—'जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित इस धर्म को जानने वाले गृहस्थ (श्रावक) भी दृढ़व्रती (नियम-व्रतों में पक्के) होते हैं, तो फिर निर्ग्रन्थ साधुओं के दृढ़व्रती होने में कहना ही क्या ? इस विषय में कमलामेला का अपहरण कराने वाले सागरचन्द्र श्रावक का उदाहरण प्रसिद्ध है।'

सागरचन्दकुमार की कथा

द्वारिका नगरी के राजा श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलभद्र (बलदेव) के निषध नामक पुत्र के पुत्र का नाम सागरचन्द था। उसी नगरी में धनसेन नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसने अपनी पुत्री कमलामेला की सगाई उग्रसेन के पुत्र नभसेन के साथ कर दी।

एक दिन नारदमुनि घूमते-घूमते नभसेन के यहाँ पहुंच गए। नभसेन उस समय अपने खेलकूद में व्यस्त था, इसलिए उनका कोई आदर नहीं किया। नारदमुनि को यह बात बहुत खटकी। वे रुष्ट हो कर वहाँ से उड़ कर सागरचन्द के यहाँ पहुंचे। सागरचन्द ने आते ही उन्हें विनयपूर्वक आदर-सत्कार करके सिंहासन पर बिठाया और उनके चरण धो कर हाथ जोड़ कर खड़े हो कर निवेदन किया— "स्वामिन् ! कहिये, मेरे योग्य क्या सेवा है ? आपने कोई आश्चर्य-

खा लेने पर मनुष्य उसके नशे में चारों ओर सोना ही सोना देखा करता है, वैसे ही सागरचन्द को भी मोहरूपी धतूरे के नशे से सारा संसार कमलामेलामय दिखाई देने लगा। कहा भी है—
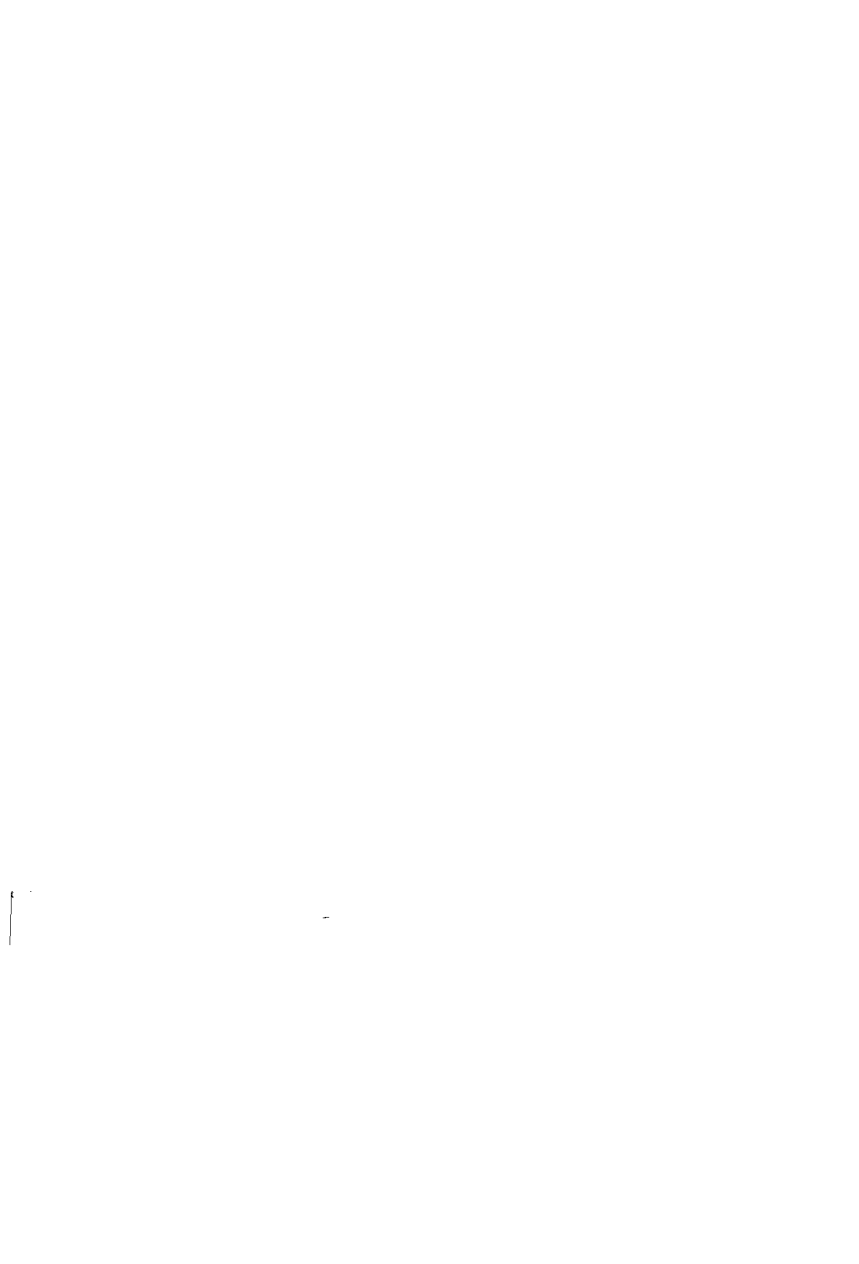
'प्रासादे सा दिशि-दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
पर्यंके सा पथि-पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हं हो! चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे काऽपि सा सा,
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥'

अर्थात्—"कमलामेला के विरह में आतुर बने हुए सागरचन्द को महल में भी सर्वत्र कमलामेला दिखाई देती थी। प्रत्येक दिशा में भी वही, आगे भी वही, पीछे भी वही, पलंग पर भी वही, प्रत्येक मार्ग में भी वही नजर आती थी। अफसोस है, हे मेरे मन! यद्यपि मेरी प्रकृति उससे भिन्न है, वह भी कोई मेरी नहीं है, फिर भी सारे संसार में सर्वत्र वही, वही, वही और वही दृष्टिगोचर होती है। यह कैसा विचित्र अद्वैतवाद (एकरूपता) है?"

इस प्रकार कमलामेला के रूप में दीवाने सागरचन्द को सारा जगत् अन्धकारपूर्ण लगने लगा। सच है—

'सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु नानामणिषु च।
विनैकां मृगशावाक्षि तमोभूतमिदं जगत्॥'

'दीपक के होते हुए भी, अग्नि के जलते हुए भी और अनेक मणियों के जगमगाते हुए भी अगर एक मृगशिशु के समान नेत्र वाली न हो तो सारा जगत् अन्धकारमय है।' सागरचन्द उसके मोह में इतना पागल हो उठा कि जहाँ भी किसी स्त्री को देखता, तुरन्त उससे कहता—"प्राणप्रिये! मेरे पास आओ। अपने सान्निध्य से मुझे कृतार्थ करो।' एक दिन वह इसी तरह धुन में कहीं जा रहा था कि

में उद्यत रहते हैं।' साथ ही सज्जन पुरुष परोपकार करने में भी कुशल होते हैं। कहा भी है—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्त.।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य,
निज हृदि विकसन्त सन्त सन्ति कियन्त ॥'

'सत्पुरुष मन, वचन और काया इन तीनों में पुण्यरूपी अमृत से भरे रहते हैं। वे अपनी उपकारराशियों से तीनों लोक को प्रसन्न कर देते हैं। साथ ही दूसरों के परमाणु जितने गुण को वे पर्वत के समान मान कर नित्य अपने हृदय में उसे विकसित करते रहते हैं। सचमुच ऐसे संतपुरुष विरले ही होते हैं।' "इसलिए चाचाजी! कमलामेला से मिलाप आप जैसे परोपकारी सत्पुरुष ही करा सकते हैं।"

सागरचन्द की व्यथा सुन कर शाम्बकुमार ने उससे मिलाप कराना स्वीकार किया। तत्पश्चात अपने विद्यावल से उसने द्वारिका के उद्यान से कमलामेला के घर तक एक सुरग बनवाई और उस सुरंग के रास्ते से गुप्तरूप से उसे द्वारिका नगरी के उद्यान मे ले आया। फिर नारद-जी को वहाँ बुला कर उनकी साक्षी से सागरचन्द के साथ शुभ-मुहूर्त मे उसका पाणिग्रहण करा दिया। इधर कमलामेला के माता-पिता ने घर में अपनी कन्या को न देख कर सर्वत्र उसकी खोज करनी शुरू कर दी। वन में, पहाड़ आदि पर जब कहीं भी उसका पता न लगा तो उन्होंने श्रीकृष्णजी से निवेदन किया—"स्वामिन्! आप सरीखे समर्थ नाथ होने पर भी मुझ अनाथ की कन्या को कोई अप-हरण करके ले गया है। सुना है, किसी विद्याधर ने उसे उद्यान मे ले जा कर छोड़ दी है।" यह सुनते ही श्रीकृष्णजी सेनासहित कन्या

देवेहिं कामदेवो गिही वि नवि चालिओ तवगुणेहिं ।
मत्तगयंद-भुयगम-रक्खसघोरट्टहासेहिं ॥ १२१ ॥

शब्दार्थ—'तप के गुण से युक्त कामदेव श्रावक को अपने व्रत-नियम से चलायमान करने के लिए इन्द्र के मुख से प्रशंसा सुन कर अश्रद्धाशील बने हुए देवों ने मदोन्मत्त हाथी, क्रूर सर्प और राक्षसों के भयंकर अट्टहास आदि प्रयोग किये, लेकिन वह जरा भी विचलित न हुआ। गृहस्थ श्रावक होते हुए भी कामदेव ने जब अपनी परीक्षा होने पर इतनी निश्चलता रखी तो मुनिराजों को तो निश्चलता रखने में कहना ही क्या ?'

यहाँ प्रसंगवश कामदेव श्रावक की कथा दी जा रही है।

कामदेव श्रावक की कथा

उन दिनों चम्पानगरी का राजा जितशत्रु था। उसी नगरी में कामदेव नाम का बहुत बड़ा व्यापारी रहता था। उसके पास १८ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ तथा साठ हजार गायों के ६ व्रज थे तथा धन-धान्य आदि से वह सम्पन्न था। उसकी गृहिणी का नाम भद्रा था। एक बार चम्पानगरी में भ० महावीर स्वामी पधारे। कामदेव ने उनका उपदेश सुना। भगवान् ने अपने उपदेश में जीवादि नौ तत्त्वों का स्वरूप बताते हुए कहा—'जो व्यक्ति वीतरागों द्वारा प्ररूपित जीव-अजीव आदि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा कर लेता है, उसे दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम या उपशम होने के कारण सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय—मोक्षमार्ग की ओर गति-प्रगति करने की शुभ परिणति पैदा होती है। कहा भी है—

'अरिहंतो देवो गुरुणो सुसाहुणो जिणमयं महप्पमाणं ।
इच्चाइ सुहो भावो सम्मत्तं बिंति जगगुरुणो ॥'

इस प्रकार भगवद्वाणी सुन कर कामदेव के हृदय में अत्यन्त आनन्द हुआ। उसे श्रावकधर्म पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हुई और भगवान से उसने सम्यक्त्वमूलक श्रावक के १२ व्रत अंगीकार किये और जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता बन कर भलीभांति श्रावकधर्म का पालन करने लगा।

एक बार सौधर्मदेवलोक के अधिपति इन्द्र ने कामदेव श्रावक की दृढधर्मिता की प्रशंसा की—"मर्त्यलोक में कामदेव श्रावक धर्म पर अत्यन्त दृढ़ है। देव भी उसे चलायमान नहीं कर सकते। उसके धैर्य का क्या कहना? ऐसे श्रावकों के कारण मनुष्यलोक की शोभा है।" इन्द्र के मुख से कामदेव श्रावक की प्रशंसा एक मिथ्यादृष्टि देव को नहीं सुहाई। वह कामदेव श्रावक को अपने धर्म से विचलित करके इन्द्र की वाणी को मिथ्या सिद्ध करने के लिए देवलोक से चल कर मर्त्यलोक में कामदेव श्रावक के पास आया। कामदेव उस समय पौषधशाला में पौषधव्रत ले कर कायोत्सर्ग में बैठा था। ठीक आधी-रात के समय उस देवता ने विकराल राक्षस का रूप बनाया और हाथ में यमजिह्वा के समान चमचमाती तलवार ले कर पैर पछाड़ता और धरती को कंपाता हुआ, धमधमाता हुआ मुंह खोल कर भयंकर अट्टहास करता हुआ कामदेव के पास आया। और उससे कहने लगा—"अरे कामदेव! इस धर्म के ढोंग को छोड दे। और इस कायोत्सर्ग का भी त्याग कर दे; नहीं तो, अभी इस तलवार से तेरे टुकड़े-टुकडे कर दूंगा। जिससे तू अकाल में ही मौत का मेहमान बन जायगा। जिंदा रहेगा तो सब कुछ कर सकेगा, सुखों का उपभोग कर जीवन का आनन्द लूट सकेगा।" देव के द्वारा बारबार इस प्रकार भयोत्पादक बातें कही जाने पर भी जब कामदेव जरा भी विचलित न हुआ तो देव को रोष पैदा हुआ। उसने कामदेव के शरीर पर तलवार चलाई, जिससे बड़ी भारी वेदना होने लगी।

समय तेरे शरीर को मैं अपनी जहरीली दाढ से डस कर इतना विषैला बना दूंगा कि फौरन तू अकाल में ही कालकवलित हो जायगा।" इतना कहने पर भी कामदेव बिलकुल भयभीत नहीं हुआ। उसने सोचा—'चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं, या अकाल मे ही यह छूट जाय, परन्तु मैं अपने धर्म (व्रत-नियमरूप) को बिलकुल नहीं छोड़ूंगा। शरीर तो फिर भी मिल जायगा, परन्तु धर्म एक बार नष्ट हो जाने के बाद मिलना बहुत ही दुर्लभ है। इसलिए मैं अपने श्रावकधर्म के स्वीकृत व्रतों मे जरा भी अतिचार (दोष) नहीं लगने दूंगा। क्योंकि जरा-से अतिचार से व्रत मलिन हो जाता है, महान् दोषयुक्त बन जाता है। कहा भी है—

'अत्यल्पादप्यतीचाराद् धर्मस्यासारतैव हि।
अङ्घ्रिकण्टकमात्रेण पुमान् पंगूयते न किम् ?'

थोड़े से अतिचार (दोष लगने) से धर्म में निःसारता आ ही जाती है; पैर में एक कांटे के चुभने मात्र से क्या वह मनुष्य को लंगड़ा नहीं कर देता ? सचमुच, व्रतों में भी इसी तरह लगड़ापन आ जाता है।' मगर देव ने इतने पर भी सर्प के रूप मे उसे डसा। इससे कामदेव के शरीर में अत्यन्त पीड़ा होने लगी; कालज्वर हो जाने से भयंकर वेदना होने लगी। फिर भी वह टस से मस नहीं हुआ। अपने व्रत-नियम पर डटा रहा। ध्यान मे अडिग रहा। उलटे, मन ही मन चिन्तन करता रहा—

'खण्डनाया तु धर्मस्यानन्तैरपि भवैर्भवैः
दुःखान्तो भविता नैव गुणस्तत्र न कश्चन।'

अर्थात्—'धर्म के खंडित कर देने से अनन्त-अनन्त भवों में परिभ्रमण करने पर भी दुःख का अन्त नहीं होगा। इसलिए धर्म को खंडित करने में कोई लाभ या विशेषता नहीं है।'

साधुसाध्वियों को बुला कर कहा—"आयुष्मन्तो ! जब कामदेव जैसे श्रमणोपासक ने श्रावकधर्म पर अत्यन्त दृढ रह कर देवकृत उपसर्गों को समभाव से सहन किया है तो श्रुतशीलधर आगमवेत्ता महाव्रती साधुओ को तो अपने धर्म पर दृढ़ रह कर समभाव से उपसर्गों को सहना ही चाहिए।" भगवान के ये अमृतवचन सब साधुसाध्वियों ने श्रद्धापूर्वक सुन कर शिरोधार्य किए। और ये उद्गार निकाले—'धन्य है कामदेव की आत्मा 'जिसकी प्रशंसा स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से की है।' कहा भी है—

"धन्ना ते जीअलोए गुरवो निवसति जस्स हिययम्मि ।
धन्नाणवि सो धन्नो, गुरूण हियए वसइ जो ऊ॥"

अर्थात—'इस जीवलोक मे वे पुरुष धन्य है, जिनके हृदय मे गुरुदेव वसे हुए है और वह तो सभी धन्यभागियो से भी बढ़ कर धन्य है, जो गुरुदेव के हृदय मे वसे हुए हैं।'

इस तरह साधुसाध्वियों तथा अन्य लोगों के मुंह से अपनी प्रशंसा सुन कर भी तटस्थ कामदेव श्रावक भगवत् कृपापरवश हो कर भावभक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके अपने घर आया। उसके पश्चात् उसने श्रावक की दर्शन आदि ११ प्रतिमाओं की भलीभांति आराधना की और २० वर्ष तक श्रावकपर्याय का पालन किया। जिंदगी के अन्तिम दिनों में एक मास का संलेखना-संथारा (अनशन) करके सर्व पाप-दोषों की अच्छी तरह आलोचना-प्रतिक्रमण करके शुद्ध हो कर प्रसन्नतापूर्वक शरीर छोड़ कर वह परलोक विदा हुआ। वहाँ सौधर्म देवलोक मे अरुण नामक विमान मे ४ पल्योपम की आयु वाला देव हुआ। वहा से आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्म ले कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त

ने उसे भिक्षा लेने के लिए नहीं कहा। फलतः वह भिक्षुक तिलमिला उठा और क्रोध से आगबबूला हो कर सोचने लगा—"कितने दुष्ट हैं यहां के लोग! ये स्वयं इच्छानुसार भोजन बनाते हैं, खाते-पीते भी हैं, मगर मुझे किसी ने भोजन नहीं दिया। अतः इन्हें मैं वैभारगिरि पर चढ़ कर वहां से एक बड़ी शिला इन स्वार्थमग्न दुष्टों पर गिरा कर इन्हें चकनाचूर कर दूं और इन्हें अपने किये का मजा चखा दूं।" इस प्रकार रौद्रध्यानवश झल्लाता हुआ वह वैभारगिरि पर चढ़ा और एक बड़ी शिला उठा कर वहां से नीचे गिरा दी। शिला गिरती देख कर लोग इधर-उधर दूर भाग गए। दुर्भाग्य से वही भिक्षुक अचानक गिरती हुई शिला के नीचे आ कर उसके वजन से दब गया; जिससे उसका शरीर एकदम चकनाचूर हो गया। रौद्रध्यानवश मरने के कारण वह सातवीं नरकभूमि में पहुंचा। सचमुच मन की गति-प्रवृत्ति बड़ी बलवती होती है। कहा भी है—

'मनोयोगो बलीयाश्च भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमीं क्षणार्द्धेन नयेद्वा मोक्षमेव च॥'

'भगवान् के मत में सभी योगों (मन-वचन-काया के व्यापारों) में मन का योग बड़ा बलवान् बताया गया है। जो मनोयोग अपने बल से आधे क्षण में या तो सातवीं नरक की यात्रा करा देता है अथवा मोक्ष पहुंचा देता है।' अनुभवियों ने बताया है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
यथैवालिंग्यते भार्या तथैवालिंग्यते स्वसा॥'

'मनुष्यों के कर्मबन्ध और कर्मों से मुक्ति का कारण मन ही है। मनुष्य जिस प्रकार अपनी पत्नी का आलिंगन करता है, उसी प्रकार बहन से मिलते समय उसका आलिंगन करता है। दोनों जगह क्रिया एक-सी होने पर भी मन की भावना का अन्तर है।'

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणों के विघातक राग-द्वेषरूपी पापों के वशीभूत नहीं होना चाहिए ।'

भावार्थ—'राग-द्वेष दोनों महादुःखदायी है। रागद्वेष आदि ऐसे महादोष है, जिनसे अनेक सद्गुणों का विनाश हो जाता है। इसलिए रागद्वेष का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये ।'

नवि कुणइ अमित्तो सुट्ठुवि सुविराहिओ समत्थो वि।
ज दो वि अणिग्गहिआ करति रागो अ दोसो अ ॥१२६॥

शब्दार्थ—'जितना अनर्थ वश मे (निग्रह) नहीं किये हुए राग और द्वेष करते है, उतना अच्छी तरह विरोध करने में समर्थ शत्रु भी नहीं करता ।'

भावार्थ—'शत्रु तो कट्टर विरोधी होने पर भी एक जन्म मे मारता है, मगर ये राग-द्वेषरूपी शत्रु अनन्त-अनन्त जन्मों तक जीव का पिंड नहीं छोडते। ये वार-वार आत्मा को नुकसान पहुचाते और उसे दुःख देते रहते है। इसलिए रागद्वेष का त्याग करने मे उद्यम करना चाहिए ।'

आगे की गाथा मे राग-द्वेष का फल बताते है—

इहलोए आयासं अजसं च करति गुणविणासं च।
पसवति परलोए सारीरमणोगए दुक्खे ॥१२७॥

शब्दार्थ—'राग और द्वेष से इस लोक मे शारीरिक और मानसिक खेद होते है; जगत् मे अपयश (बदनामी) कराते है और ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि सद्गुणों का विनाश करते है; तथा परलोक मे भी नरकगति और तिर्यञ्चगति के कारण होने से ये दोनों शारीरिक और मानसिक दुःखों को पैदा करते है ।'

शब्दार्थ—'जो साधक सदा कलह और क्रोध करता रहता है, हमेशा अपशब्द बोलता रहता है तथा विवाद (व्यर्थ का झगड़ा) करता रहता है; वह हमेशा (कषायाग्नि में) जलता रहता है। ऐसे व्यक्ति का संयमाचरण निरर्थक है।'

भावार्थ—कषाय से कलुषित रहने वाले साधु का चारित्रपालन निष्फल जाता है। परस्पर जोर-जोर से आवेश में आ कर बोलना कलह कहलाता है, दूसरे के गुणों को सहन नहीं कर सकता, वह क्रोधनशील होता है। दूसरे को तुच्छ शब्दों से डांटना अथवा भला बुरा कह कर उसके गुणों की धज्जियां उड़ाना भंडनशीलता है, गाली-गलौज अथवा तीखे वाक्यबाणों का प्रहार करना विवाद कहलाता है। ये सब क्रोध के ही प्रकार हैं। इसलिए क्रोध का त्याग करके चारित्र की आराधना करना ही श्रेयस्कर है।

जह वणदवो वणं दवदवस्य जलिओ खणेण निद्दहई।
एवं कसायपरिणओ जीवो तवसंजमं दहइ ॥ १३२ ॥

शब्दार्थ—'जैसे शीघ्र जलने वाला दावानल (जंगल में लगी हुई आग) क्षणभर में सारे वन को जला कर खाक कर देता है, वैसे ही क्रोधादिकषाय से युक्त साधु भी तपसंयम की अपनी करणी को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है। इसलिये जो साधु संयम में सफलता चाहता है, वह समता आदि चारित्रधर्म के मूल का आदर करे।'

परिणामवसेण पुणो अहिओ ऊयरउव्व हुज्ज खओ।
तह वि ववहारमित्तेण भन्नइ इन जहा थूलं ॥ १३३ ॥

शब्दार्थ—'परिणामों की तरतमता (न्यूनाधिकता) के अनुसार चारित्र का न्यूनाधिक (कमोवेश) क्षय होता है। तथापि यह क्षय व्यवहारमात्र से कहा जाता है कि स्थूलरूप (मोटेतौर) से इतना क्षय हुआ है।'

है। और संयम का नाश करके फिर पापरूपी मल की वृद्धि करता रहता है। ऐसा प्रमादबहुल जीव फिर संसार में जन्ममरण के चक्कर काटता रहता है।'

भावार्थ—इसलिए प्रमाद को छोड़ कर साधक को सावधानीपूर्वक संयम की आराधना करनी चाहिए। संयम के १७ भेद इस प्रकार हैं—पांच आश्रवों का त्याग, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और मन-वचन-कायारूप तीन दण्डों से विरति। अप्रमादी रहने पर ही संयम की आराधना और रक्षा भलीभांति हो सकती है।

उक्कोसण-तज्जण-ताडणा अवमाण-हीलणाओ अ।
मुणिणो मुणियपरभवा दढप्पहारीव्व विसहंति ॥१३६॥

शब्दार्थ—जिन मनुष्यों ने परभवों (अन्य जन्मों) का स्वरूप भलीभांति जान लिया है वे दृढ़प्रहारी मुनि की तरह अज्ञजनों द्वारा दिये गए शाप, दुर्वचन या किये गए डांटफटकार, मारपीट, अपमान, अवहेलना, निन्दा आदि प्रहारों को समभाव से सह लेते हैं।

भावार्थ—'आक्रोश का अर्थ है—शाप देना, कोसना या अपशब्द कहना। तर्जना का अर्थ है—आँखे लाल व भौंहें टेढ़ी करके जोर-जोर से डांटना, फटकारना या भर्त्सना करना। ताड़ना है—लाठी आदि शस्त्रों से प्रहार करना। इसी प्रकार निरादर करना, नीच कुल, जाति प्रगट करके लोगों की दृष्टि मे उसे नीचा दिखाना, बदनाम करना या उसकी निन्दा करना, ये सब प्रहार के प्रकार है। परभवों के स्वरूप के ज्ञाता-द्रष्टा मुनि इनके बदले रोषपूर्वक प्रत्याक्रमण करके नये कर्म नहीं बांधता; बल्कि मुनि दृढ़प्रहारी की तरह समभावपूर्वक इन्हें सहन कर पुराने कर्मों का क्षय करता है।'

प्रसंगवश दृढ़प्रहारी की कथा यहाँ दी जा रही है—

नगर लूटने के लिए चला। उस नगर में देवशर्मा नाम का एक अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण रहता था। उसने बड़ी कठिनाई से सामग्री ला कर आज खीर बनाई थी। खीर की हंडिया नीचे रख कर वह नदी पर नहाने के लिए चला गया। इनमें से एक लुटेरा उसी ब्राह्मण के घर में घुसा। उसने और कुछ न देख कर खीर का बर्तन उठाया। यह देख उस ब्राह्मण के लड़के रोते-रोते अपने पिता को खबर देने नदी पर पहुंचे। भूख से छटपटाता हुआ वह ब्राह्मण भी यह सुनते ही झटपट दौड़ा हुआ घर आया। तब तक लुटेरा खीर की हंडिया ले कर भाग चुका था। पर देवशर्मा ने क्रुद्ध हो कर लोहे की बडी अर्गला उठाई और उस लुटेरे को मारने दौडा। कुछ ही दूर जाने पर उसे लुटेरा मिल गया। दोनों मे परस्पर गुत्थम-गुत्था होने लगी। इसी बीच दृढ़प्रहारी भी वहाँ आ पहुंचा। उसने तलवार के एक ही झटके से इस ब्राह्मण को मार गिराया। ब्राह्मण को अन्तिम सांस गिनते देख उसके घर की गाय पूंछ उठा कर रोषवश दृढप्रहारी को मारने दौडी। मगर दृढप्रहारी ने उसे भी नीचे पटक कर क्रूरतापूर्वक मार डाली। इसी समय पति को मरते देख कर उस ब्राह्मण की गर्भवती पत्नी रोती-चिल्लाती, विलाप करती जोर-जोर से दृढ़प्रहारी को कोसती और आँसू बहाती वहाँ आई। दृढ-प्रहारी ने आव देख न ताव, उसके पेट मे छुरा भौंक कर उसे भी यमलोक पहुंचा दी। उसके पेट मे से गर्भस्थ शिशु बाहर निकला और जमीन पर छटपटाने लगा। यह देख कर निर्दय दृढ़प्रहारी के मन मे सहसा दया का अंकुर फूटा। वह पश्चात्ताप करने लगा—"हाय! मैंने कितना अनर्थ कर डाला! धिक्कार है मुझे इस प्रकार के अधर्मकर्मकारी को! इस निर्दोष, अनाथ और गर्भवती अबला को अकारण मारते हुए मुझे शर्म नही आई! सचमुच, मैंने एक साथ चार जीवों की हत्याएँ कर दी। एक हत्या भी नरकगति की

कोई लाठियो से तो कोई ईंट-पत्थरों से मारने-पीटने लगे; कोई अटसंट गालियां देने लगे, 'इस दुष्ट का सत्यानाश हो जाय!' इस प्रकार कोई उसे कोसने लगे, कोई दुर्वचन कह कर उसका अपमान करने लगे। परन्तु दृढ़प्रहारी ने उन प्रहारकर्ताओं पर जरा भी रोष या द्वेष नहीं किया। वे समभावपूर्वक उस यातना को सहते रहे। जब लोगो के द्वारा फेंके हुए पत्थरों और ईंटों का ढेर गले तक आ गया और उनका श्वास रुकने लगा तो उन्होंने कायोत्सर्ग पारित करके वहाँ से चल कर दूसरे दरवाजे पर आ कर कायोत्सर्ग (ध्यान) लगा दिया। परन्तु वहाँ भी यही हालत हुई। मगर उन्होंने पहले की तरह यहाँ भी परिषह सहन किये वहाँ से क्रमश: तीसरे और चौथे दरवाजे पहुचे; लेकिन वहाँ भी उन पर गाली, मारपीट और प्रहार आदि कष्ट आते उन्हे वे समतापूर्वक सहते और चारो ही प्रकार के आहारो का प्रत्याख्यान (त्याग) कर लिया करते। यों करते-करते निराहारी मुनि दृढ़प्रहारी को ६ महीने हो गए, मगर वे अपने नियम से जरा भी विचलित न हुए। विशुद्ध ध्यान और भावना (अनुप्रेक्षा) के कारण उनका अन्त:करण क्षमा से निर्मल हो गया। अत: चार घाती कर्मों का क्षय होने से उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् अनेक जीवो को प्रतिबोध दे कर केवली दृढ़प्रहारीमुनि मोक्ष पधारे।

इसी प्रकार जो आत्मार्थी साधक आक्रोश, वध आदि अनेक परिषहो को समभावपूर्वक सहते है, वे अनन्तसुखो से युक्त मोक्ष को प्राप्त करते है, यही इस कथा का मुख्य उपदेश है।'

अहमाहओत्ति न य पडिहणति सत्तवि न य पडिसवति।

मारिज्जंतावि जइ सहति सहस्समल्लुव्व ॥ १३७ ॥

शब्दार्थ—'इस व्यक्ति ने मुझे मारा-पीटा है, ऐसा जानते हुए सुविहित साधु उसे मारते-पीटते नही, किसी ने उन्हे शाप दिया है,

ले कर अकेला ही वहां से चल पड़ा। वह सीधा कालसेन के पास पहुंचा। इधर कालसेन भी अपनी सेना ले कर सामने आ डटा। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। वीरसेन ने युद्ध मे सबके छक्के छुड़ा दिये। बात की बात मे कालसेन की सेना भाग खड़ी हुई। फलत. वीरसेन ने कालसेन को जिन्दा पकड़ लिया और रस्सियों से बाध कर राजा के सामने ले आया। वीरसेन का ऐसा अद्भुत पराक्रम देख कर राजा अत्यन्त विस्मित हुआ। राजसभा मे सबके सब वीरसेन की प्रशसा करने लगे—"धन्य है वीरसेन को, जिसने लाखों आदमियो से पराजित न हो सकने वाले कालसेन को बात की बात में हरा दिया।" राजा ने प्रसन्न हो कर सबके सामने वीरसेन को एक लाख स्वर्णमुद्राए इनाम दीं और उसका नाम वीरसेन से बदल कर 'सहस्रमल्ल' रखा। साथ ही उसे एक देश जागीरी मे दिया। पराजित कालसेन से राजा ने अपनी आज्ञा के अधीन चलना स्वीकृत करवा कर जीता हुआ राज्य उसे वापिस दे दिया।

सहस्रमल्ल को अपने देश के राज्य का सचालन करते काफी अर्सा हो गया। एक बार वहाँ महामहिम सुदर्शनाचार्य पधारे। उनका उपदेशामृत सुन कर सहस्रमल्ल नृप को संसार से वैराग्य हो गया। उसने राजपाट छोड कर आचार्य से मुनिदीक्षा ग्रहण की। ११ अंगशास्त्रो का अध्ययन किया; और क्रमश चारित्राराधना करते-करते जिनकल्पीचर्या स्वीकार की। एक बार विहार करते-करते सहस्रमल्लमुनि कालसेन राजा के नगर के समीप कायोत्सर्गस्थ खड़े रहे। उन्हे देख कर कालसेन ने पहचान लिया। उसने मन ही मन सोचा—'यह पापी ही मुझे युद्ध मे हरा कर जीते जी पकड कर कनकध्वज राजा के पास ले गया था। अब अच्छा मौका है, इसको अपने किये का फल चखाऊं।' अतः दुष्ट कालसेन ने लकड़ी, ईंटो और पत्थरो से मार-मार कर मुनि का कचूमर निकाल दिया। परन्तु

समर्थ से समर्थ पुरुष भी बाधित-पराभूत न कर सके। यदि तूने शुभ कर्म किया होता तो कौन तुझे पराभूत कर सकता! अब किसी पर व्यर्थ ही क्यों कोप करता है? क्योंकि तेरे पूर्वोपार्जित अशुभ-कर्म ही ऐसे हैं, जिनके उदय होने से दूसरे पर क्रोध करना व्यर्थ है! ऐसा विचार करके धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष क्रोध न करके समभाव ही रखते हैं।'

अणुराएण जइस्स वि सियायपत्तं पिया धरावेइ।
तहवि य खंदकुमारो न बंधुपासेहि पडिबद्धो ॥१४१॥

शब्दार्थ—'स्कन्दकुमार मुनि पर अनुराग के कारण उसके पिता अपने पुत्र पर सेवकों द्वारा श्वेतछत्र कराते थे। परन्तु वे मुनि बन्धु-वर्ग के स्नेहपाश में नहीं फसते।' प्रसंगवश यहाँ स्कन्दककुमार मुनि की कथा दे रहे हैं—

स्कन्दककुमार मुनि की कथा

श्रावस्ती नाम की महानगरी में समस्त रिपुमण्डल में धूमकेतु के समान कनककेतु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी देवांगना-सम अतिसुन्दरी मलयसुन्दरी रानी थी। उसके स्कन्दकुमार नाम का अतिप्रिय एक पुत्र था और आनन्ददायिनी सुनन्दा नाम की एक पुत्री थी। यौवन-रूप-सम्पन्न होने पर राजा ने कान्तिपुर नगर के राजा पुरुषसिंह के साथ धूमधाम से उसकी शादी कर दी। एक बार श्रावस्ती नगरी में विजय-सेनसूरि पधारे। स्कन्दककुमार भी सपरिवार उनके दर्शनार्थ पहुंचा। आचार्यश्री ने समस्त श्रोताजनों को धर्मोप-देश दिया—"भव्यजनो! यह संसार अनित्य है, शरीर नाशवान है, सम्पत्ति जल की तरंगों के समान चंचल है, जवानी पर्वत से निकली हुई नदी के प्रवाह के समान है; इसलिए कालकूट विष के तुल्य विषयसुखों के उपभोग से क्या लाभ है? कहा है—

आंखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े, वर्षा से प्रफुल्लित कदम्बपुष्प के समान उसकी रोमराजि खिल उठी। वह विचारने लगी—'यह मेरा भाई तो नहीं है ?" गौर से देखने पर उसने स्कन्दकमुनि को पहिचान लिया। अब तो और अधिक स्नेह उमड़ा। मगर मुनि को (भ्राता) अपनी बहन पर जरा भी आसक्ति न हुई। राजा को भाई-बहन के स्नेहसम्बन्ध की जानकारी न होने से रानी को अचानक अन्यमनस्क देख कर सोचा—"सुनन्दा का इस साधु के प्रति अत्यन्त राग (मोह) मालूम होता है।" अत राजा ने आगापीछा कुछ भी न सोच कर कायोत्सर्ग में खड़े हुए स्कन्दकऋषि को रातोरात दुर्बुद्धिपूर्वक मरवा डाला।

प्रात.काल खून से लाल बनी हुई मुंहपत्ती को किसी पक्षी ने चोंच में उठाई और रानी के महल के आंगन मे डाल दी। उस मुंहपत्ती को देखते ही रानी को शंका हुई कि कहीं यह मुंहपत्ती किसी साधु की तो नहीं है !" रानी ने इस विषय मे दासी से पूछा तो उसने कहा—"कल आपने जिस साधु को देखा था, रात को उसे किसी पापी ने मार दिया है। उसी की यह मुखवस्त्रिका दिखती है।" यह सुनते ही रानी वज्राहत की तरह जमीन पर गिर पड़ी और मूर्च्छित हो गई। शीतल-उपचार के बाद जब वह होश मे आई तो अगर यह साधु मेरा भाई निकला तो मैं क्या करूंगी ? क्योंकि मेरे भाई ने मुनिदीक्षा ली है, ऐसा मैंने सुना था। कल उस साधु को देख कर भी मुझे बन्धुदर्शन जैसा आनन्द हुआ था। उसने अपने मुनि बने हुए भ्राता का पता लगाने के लिए एक सेवक को अपने पिता के पास भेजा। उसने वहाँ जा कर सारी घटना यथार्थरूप से सुनी तो उसका हृदय भी दु'ख से भर आया। उसने जब रानी को दुःखित-हृदय से जब वह अशुभ समाचार सुनाये तो वह मुक्तकण्ठ से रुदन करने लगी—"हे मेरे सहोदर ! मेरे बन्धु ! मेरे भाई ! वीर ! यह

अपने गृहस्थपक्ष के भाईबन्धु और कुटुम्बकबीले पर अत्यधिक स्नेह-राग (आसक्ति) होता है। जिन्होंने निश्चयपूर्वक संसार के स्वभाव को जान लिया है, उनका हृदय सब पर सम रहता है।'

भावार्थ—'संसार का स्वरूप यथार्थरूप से नहीं जानने वाला मूढ़मति साधक ही स्वजनों के स्नेहपाश (आसक्ति के जाल) में फंसता है। परन्तु बुद्धिमान और संसार का स्वरूप सम्यक् प्रकार से जानने वाला साधक सांसारिक (गार्हस्थ्य) सम्बन्ध छोड़ कर पुनः उसमें नहीं फसता। उसके हृदय में अपने (कुटुम्बकबीले वाले) या पराये सबके प्रति समानता रहती है। शत्रु हो या चाहे मित्र सबत्र वह सम रहता है। उसके हृदय में रागद्वेष (आसक्तिघृणा) या पक्षपात किसी के प्रति नहीं होता। इसलिए बन्धुजनों का स्नेह उसके लिए प्रति-बन्धकारक नहीं होता।'

माया पिया य भाया भज्जा पुत्ता सुही य नियगा य।

इह चेव बहुविहाइं करंति भय-वेमणस्साइं ॥ १४४ ॥

शब्दार्थ—'माता, पिता, भ्राता, भार्या, पुत्र, मित्र और स्वजन ये सब इस संसार में प्रसंगवश अनेक प्रकार के भय (मरणान्त डर) और वैमनस्य (मनमुटाव) पैदा कर देते हैं।'

सांसारिक जनों का स्नेह कितना अनर्थकर और कृत्रिम होता है, इसे आगे की गाथाओं में क्रमशः बताते हैं—

माया नियगमइविगप्पियंमि अत्थे अपूरमाणंमि।

पुत्तास्स कुणइ वसणं चुलणी जह बभदत्तास्स ॥ १४५ ॥

शब्दार्थ—'माता भी अपने दिमाग में सोची हुई बात पूरी न होने पर अपने पुत्र को तकलीफ देती है; जैसे चूलनी रानी ने ब्रह्मदत्त को अनेक कष्ट दिये थे।'

गई। दोनों की चार आंखें हुई। परस्पर हास्य-विनोद होता रहता। एक दिन दोनों ने कामान्ध हो कर रतिक्रीडा की। यह क्रम बढ़ता चला गया। अब तो दीर्घराजा निःशंक हो कर अपनी स्त्री की तरह चूलणी के साथ सहवास करने लगा। लोकनिन्दा और भय छोड़ कर दोनों परस्पर कामासक्त हो कर रहने लगे। किसी तरह से धनु नामक वृद्ध मंत्री को इनके इस गुप्त अनाचार का पता लग गया। वह सोचने लगा—"अरे रे! इस दुष्ट दीर्घराजा ने बड़ा ही अविचारपूर्ण कार्य किया है यह! पता नहीं, अन्य तीन मित्रनरेशों ने इसे क्या समझ कर राज्याधिकार दिया है! इसने अनाचार-सेवन करके बहुत बुरा किया है। इस मूढ़ को अपने मित्र की पत्नी के साथ व्यभिचार करते हुए जरा भी लज्जा नहीं आती? धिक्कार है इसे!" यों विचार करते-करते मंत्री अपने घर आया और अपने पुत्र वरधनु को उसने सारी बात कही। उसने मौका देख कर एकान्त में ले जा कर ब्रह्मदत्त को सारी बात कह सुनाई। इसे सुन कर ब्रह्मदत्त अत्यन्त कुपित हुआ। वह उसी समय दीर्घराजा की सभा में पहुचा और एक कोयल के साथ कौए का संगम करवा कर कहने लगा—'दुष्ट कौए! तू कोकिला के साथ संगम करता है? तेरा यह आचरण बिलकुल अयोग्य है। मैं इसे कदापि सहन नही करूंगा!" यों कह कर कौए को हाथ से पकड़ कर मार डाला। फिर उसने लोगों को लक्ष्य में रख कर कहा—"मेरे नगर में जो कोई इस प्रकार का दुष्ट कार्य करता है या करेगा, उसे मैं सहन नही करूंगा।" यह सुन कर दीर्घराजा मन ही मन सहम गया। उसने जा कर चूलणी को सारी घटना बताई। चूलणी ने बात को हंसी में टालते हुए कहा—"यह तो बालक्रीडा है। आप इससे जरा भी न डरें। आप तो आनन्द से सुखभोग करते जिंदगी काटें।" कुछ दिन व्यतीत हो जाने के बाद फिर एक दिन सभा में उसी तरह ब्रह्मदत्त ने एक हंसनी के साथ बगुले का

दे दूं। जब सभी सोये हों तभी मौका पा कर उसमें आग लगा दूं; जिससे सभी जल कर भस्म हो जायेंगे। इससे मेरी निन्दा भी नहीं होगी और काम भी बन जायगा।' उसने शीघ्र ही अपने सेवकों को आदेश दे कर लाख का एक खूबसूरत आलीशान महल बनवाया। उस पर ऐसी खूबी से चूने की सफेदी करवा दी कि किसी को लाख के होने का संदेह न हो। तत्पश्चात् उसने ब्रह्मदत्त की शादी पुष्पचूलराजा की कन्या के साथ बड़े धूमधाम से कर दी। धनुमंत्री ने जब यह हाल देखा तो वह भांप गया कि 'इसमें कहीं न कहीं दाल में काला है। यह पापिनी अपने पुत्र को मारने का षड़यंत्र रच रही है। परन्तु मुझे ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे ब्रह्मदत्त की रक्षा हो सके।' मंत्री ने मन ही मन उपाय सोच कर दीर्घराजा से कहा—'राजन्! अब मैं काफी वृद्ध हो गया हूं, अतः आपकी आज्ञा हो तो कुछ दिनों के लिए तीर्थयात्रा कर आऊं। मेरा पुत्र वरधनु आपकी सेवा में रहेगा।' यह सुन कर दीर्घराजा विचार में पड़ गया—'अगर यह मंत्री कहीं दूर चला गया तो कुछ न कुछ अनिष्ट करेगा या हमें बदनाम करेगा। इसलिए इसे पास रखना ही अच्छा है।' अतः दीर्घराजा ने मंत्री से कहा—"मंत्रीवर! तीर्थयात्रा करने का आपका क्या प्रयोजन है? और यदि तीर्थगमन करना ही है तो पास में ही तीर्थस्वरूप गंगा नदी है। उसके किनारे जो दानशाला है, वहीं आनन्द से रहिये और दानधर्म का आचरण करिये। दूर जाने से क्या लाभ है?" धनुमंत्री ने दीर्घराजा की बात मान ली और गंगा के किनारे आ कर दानशाला संभाल ली। वहाँ रहते-रहते धनुमंत्री ने गंगातट से लाक्षागृह तक दो कोस लम्बी एक सुरंग गुप्तरूप से खुदवाई; और अपने पुत्र वरधनु के द्वारा पुष्पचूल राजा को यह संदेश कहलवाया कि 'आज ब्रह्मदत्त के शयनगृह में अपनी पुत्री के बदले किसी रूपवती दासी को समस्त आभूषणों से सुसज्जित

किया। इसके बाद ब्रह्मदत्त छहों खंडों की दिग्विजय करके बारहवां चक्रवर्ती बना।

एक दिन ब्रह्मदत्त राजसिंहासन पर बैठा था; तभी उसने एक फूलों का गुच्छा देखा। उसको टकटकी लगा कर देखते-देखते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वजन्म के भाई चित्र का जीव साधु-रूप मे उसे प्रतिबोध देने के लिए वहां आया. लेकिन कठोर-हृदय ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उसका एक भी प्रतिबोध न लगा। जब जिंदगी के १६ वर्ष बाकी थे, तभी एक दिन एक ग्वाले ने चक्रवर्ती की आंखे फोड दीं। भ्रम से ब्रह्मदत्त उसे किसी ब्राह्मण की ही करतूत जान कर उस दिन से अपने राज्य मे जितने भी ब्राह्मण थे, उनकी क्रमश आँखें निकलवाने लगा। इस महारौद्रध्यान के क्रूर परिणामो के कारण अनेक अशुभकर्मों का संचय करके सात सौ वर्षों का आयुष्य बिता कर ब्रह्मदत्त सातवी नरक के अप्रतिष्ठान नामक नरकावास मे उत्कृष्ट स्थिति वाला नारक बना। इसकी विस्तृत घटना जानना चाहे वे 'उवएससहस्सेहि' इस २१ वी गाथा के अन्तर्गत दी गई कथा से जान ले।

माता का स्नेह भी अत्यन्त स्वार्थपूर्ण और कृत्रिम होता है। इस लिए सासारिकजनों के स्वार्थी स्नेह का विश्वास नहीं करना चाहिये, यही इस कथा का सारभूत उपदेश है।

सव्वगोवगविगत्तणाओ जगडणविहेणाओ अ।
कासीय रज्जतिसिओ पुत्ताण पिया कणयकेउ ॥१४६॥

शब्दार्थ—'राज्य के लोभ मे अन्धा बना हुआ पिता कनककेतु अपने पुत्रों के सभी अंगोपागों का विविध प्रकार से छेदन करवा डालता था। ताकि वह राज्याभिषेक के योग्य न रहे। अत पिता का पुत्रों के साथ सम्बन्ध भी कृत्रिम और स्वार्थपूर्ण है।'

कनककेतु का चरित्र विस्तृतरूप से यहाँ दिया जा रहा है—

राजपुत्र धीरे-धीरे मन्त्री के यहाँ बड़ा होने लगा। मन्त्री ने उसका नाम कनकध्वज रखा। जब वह जवान हुआ तो उसी समय राजा कनककेतु की मृत्यु हो गई। राजा की आकस्मिक मृत्यु से सभी सामन्तों को यह चिन्ता हुई कि 'अब राज्य किसको सौंपा जाय; क्योंकि राजा ने जितने पुत्र हुए सभी के अंगभंग कर दिए हैं। राज्य के योग्य किसी को न रखा।' मन्त्री ने उस समय राजसभा में सबके सामने यह रहस्योद्घाटन किया कि कनकध्वज राजा का ही पुत्र है। गुप्तरूप से यह मेरे यहां पाला गया है। इसे ही राजगद्दी पर बिठा दिया जाय।" यह सुन कर सभी खुश हुए और उसे राजगद्दी देने में सहमत हुए। अतः शुभमुहूर्त में राज्याभिषेक करके उसे राजगद्दी पर बिठा दिया गया। कनकध्वज राजा भी मन्त्री को अपना परम-उपकारी जानकर उनका बहुत आदर किया करता था और आनन्दपूर्वक राज्य-पालन करता था। एक दिन मन्त्रीपत्नी पोट्टिला, जो पहले मन्त्री को प्राणों से अधिक प्रिय थी, अपने अशुभकर्मों के कारण मन्त्री की अप्रिय हो गई। मन्त्री ने उसकी शय्या एक अलग कमरे में पृथक् करवा दी, जिससे पोट्टिला के मन में रह-रह कर बड़ा संताप होता था। कहा भी है—

'आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां गुरूणां मानमर्दनम्।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते॥'

'राजाओं की आज्ञा का भंग करना, गुरुओं का मान-मर्दन करना और स्त्रियों की शय्या पृथक करना, विना किसी हथियार के ही उनका वध करने के समान कहलाता है।'

पति के द्वारा अपमानित और पीडित पोट्टिला दानधर्मादि कार्यों में विशेषरूप से अपना समय बिताने लगी। उन्हीं दिनों उसके यहाँ एक दिन सुव्रता नाम की साध्वी भिक्षा के लिए पधारी। पोट्टिला ने

सकोगी।" साध्वीजी की बात पोट्टिला के गले उतर गई। उसने साध्वीजी की बात स्वीकार की और पति से आज्ञा प्राप्त कर उनके पास भागवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षाग्रहण करते समय पति ने क्रोधरहित हो कर प्रशंसा करते हुए कहा—पोट्टिले ! धन्य है तुम्हें। तुमने उत्तम साध्वीधर्म अपनाया है। इसकी सम्यक् प्रकार से आराधना करने पर तुम्हें देवगति प्राप्त होगी। अतः अगर तू देवी हो जाय तो मुझे प्रतिबोध देने अवश्य आना।" पोट्टिला साध्वी इस भूमण्डल पर स्वपरकल्याण करती हुई विचरण करने लगी। चिरकाल तक निर्दोष चारित्राराधन कर पोट्टिला आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में उत्पन्न हुई।

वहाँ अवधिज्ञान से उसने अपने पूर्वजन्म का स्थान आदि जाना और पूर्वजन्म के अपने पति—मंत्री—को प्रतिबोध देने के लिए देव-रूप में वह वहाँ आई। तेतलीपुत्र मंत्री को उसने बहुत उपदेश दिया, मगर उसे जरा भी प्रतिबोध न हुआ। देव ने सोचा—'राज्य के प्रति अत्यन्त मोह के कारण इसे प्रतिबोध नहीं होता, इसलिए इसे किसी उपाय से राज्य से विरक्त करना चाहिए।' फलतः देव ने राजा के मन में मंत्री के प्रति घृणा पैदा कर दी। इसके कारण जब मंत्री राजसभा में आया तो राजा कनकध्वज उसे आदर देने के बदले मुंह फेर कर उसके प्रति उपेक्षा करके बैठा।" राजा का यह रवैया देख कर मंत्री ने सोचा—"राजा मुझ से रुष्ट हो गया है। किसी दुष्ट ने मेरे खिलाफ राजा के कान भर दिये दिखते हैं। पता नहीं, यह मेरे साथ कैसा दुर्व्यवहार करेगा अथवा मुझे किस कुमौत से मरवाएगा ! ऐसे अपमानित जीवन बिताने की अपेक्षा तो आत्महत्या करके मर जाना ही अच्छा है।" इस प्रकार के विचारों में डूबता-उतराता मंत्री घर आया और अपने गले में फंदा डाला। देव के प्रभाव से वह फंदा टूट गया। अतः उसने जहर का टुकडा मुंह में डाला, मगर वह भी

भज्जावि इंदियविगारदोसनडिया हरेइ पइप्पाणं ।

जह सो पएसिराया सूरियकन्ताइ तह वहिओ ॥ १४८ ॥

शब्दार्थ—'इन्द्रियों के विकारदोष से बाधित पत्नी भी अपने पति के प्राणहरण कर लेती है। जैसे प्रदेशी राजा को उसकी पत्नी सूरिकान्ता रानी ने विष दे कर मार डाला था।' प्रदेशी राजा का दृष्टान्त भी पहले आ चुका है। इसलिए पत्नी का प्रेम भी विषयसुख-जन्य होने से कृत्रिम और स्वार्थी है।

सासयसुक्खतरसी नियअंग समुब्भवेण पियपुत्तो ।

जह सो सेणियराया कोणियरन्ना खयं नीओ ॥१४९॥

शब्दार्थ—'शाश्वत सुख प्राप्त करने का अभिलाषी, भगवान् के वचनों मे अनुरक्त और क्षायिकसम्यक्त्वी श्रेणिकराजा अपने ही अंगज और प्रियपुत्र कौणिक राजा द्वारा मार डाला गया था। अत पुत्रस्नेह भी व्यर्थ है।'

यहाँ प्रसंगोपात्त कौणिकराजा का उदाहरण दिया जा रहा है—

कौणिक राजा की कथा

उन दिनों धनधान्य से समृद्ध, धनाढ्य श्रेष्ठी लोगों और सुशोभित घरों से परिपूर्ण और नगरों में अग्रणी राजगृह नगर मे भगवान् महावीर का परमभक्त श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसके रूप-लावण्यसम्पन्न, शील-सौजन्यगुणों से सुशोभित पतिभक्ता चिल्लणा नाम की पटरानी थी। चिल्लणा के गर्भ सीप में मोती की तरह एक ऐसा जीव आया, जिसका श्रेणिकराजा के साथ पूर्वजन्म का वैर था और जिसने बाद में बहुत तप किया था। उस गर्भ के प्रभाव से चिल्लणा रानी को तीसरे महीने में अपने पति (श्रेणिक राजा) के कलेजे का मांस खाने का अशुभ दोहद पैदा हुआ। दोहद पूर्ण न

भज्जावि इंदियविगारदोसनडिया हणेइ पइप्पाणं ।

जह सो पएसिराया सूरियकनाइ तह वहिओ ॥ १४८ ॥

शब्दार्थ—'इन्द्रियों के विकारदोष से बाधित पत्नी भी अपने पति के प्राणहरण कर लेती है। जैसे प्रदेशी राजा को उसकी पत्नी सूरिकान्ता रानी ने विष दे कर मार डाला था।' प्रदेशी राजा का दृष्टान्त भी पहले आ चुका है। इसलिए पत्नी का प्रेम भी विषयसुख-जन्य होने से कृत्रिम और स्वार्थी है।

सासयसुक्खतरसी नियअंग समुब्भवेण पियपुत्तो ।

जह सो सेणियराया कोणियरन्ना खयं नीओ ॥१४६॥

शब्दार्थ—'शाश्वत सुख प्राप्त करने का अभिलाषी, भगवान् के वचनों मे अनुरक्त और क्षायिकसम्यक्त्वी श्रेणिकराजा अपने ही अंगज और प्रियपुत्र कौणिक राजा द्वारा मार डाला गया था। अतः पुत्रस्नेह भी व्यर्थ है।'

यहाँ प्रसंगोपात्त कौणिकराजा का उदाहरण दिया जा रहा है—

कौणिक राजा की कथा

उन दिनों धनधान्य से समृद्ध, धनाढ्य श्रेष्ठी लोगों और सुशोभित घरों से परिपूर्ण और नगरों मे अग्रणी राजगृह नगर मे भगवान् महावीर का परमभक्त श्रेणिक राजा राज्य करता था। उसके रूप-लावण्यसम्पन्न, शील-सौजन्यगुणों से सुशोभित पतिभक्ता चिल्लणा नाम की पटरानी थी। चिल्लणा के गर्भ सीप मे मोती की तरह एक ऐसा जीव आया, जिसका श्रेणिकराजा के साथ पूर्वजन्म का वैर था और जिसने बाद में बहुत तप किया था। उस गर्भ के प्रभाव से चिल्लणा रानी को तीसरे महीने मे अपने पति (श्रेणिक राजा) के कलेजे का मांस खाने का अशुभ दोहद पैदा हुआ। दोहद पूर्ण न

बहुमूल्य हार और सेचानक हाथी दिये। कोणिक के मन में इससे बहुत ईर्ष्या पैदा हुई। पिता के प्रति रोष भी था। स्वयं राजा बनने की धुन भी थी। अत. राजा श्रेणिक को उसने छल करके लकड़ी के पींजरे मे बन्द कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। राजा होने के अभिमान मे आ कर वह अपने पिता को सदा कोड़े लगाता था।

कोणिक राजा की रानी पद्मावती ने एक दिन सुन्दर पुत्ररत्न को जन्म दिया। जब वह दो साल का था, तब कोणिक राजा एक दिन उसे अपनी गोद में बिठा कर भोजन कर रहा था। तभी अचानक उस बच्चे ने पेशाब कर दिया। परन्तु कोणिक जरा भी मुंह मचकोडे बिना उस मूत्रमिश्रित भोजन को खाता रहा। इसके बाद उसने अपनी माता से पूछा—"माँ, इस पुत्र के प्रति मुझे बहुत प्यार उमडता है, इसका क्या कारण है ?" तब माता ने कोणिक से कहा—'अरे क्रूरमते ! इस बच्चे पर तेरा क्या प्यार है, तेरे पिता का तुझ पर इससे कई गुना अधिक स्नेह था।" यह कह कर माता ने कोणिक को उसके बचपन की सारी घटना आद्योपान्त सुनाई। उसे सुन कर पिता के साथ अपने निर्दय व्यवहार के कारण कोणिक को मन मे बडा खेद हुआ। वह अपने इस निन्दित कर्म के लिए अपने आप को कोसने व पश्चात्ताप करने लगा। सहसा कोणिक के दिमाग मे पिताजी को बन्धनमुक्त करके उनसे क्षमा मांगने की सूझी। वह कुल्हाड़ी ले कर जेलखाने की ओर भागा। श्रेणिक राजा ने जब कोणिक को इस प्रकार अपनी ओर आते देखा तो उनके मन में विचार आया कि न मालूम, यह दुष्ट किस कुमौत से मुझे मारेगा।" अत' उन्होंने उसके अपने पास आने से पहले ही स्वयं तालपुटविष खा कर अपना काम तमाम कर लिया। नरक का आयुष्य सम्यक्त्वप्राप्ति से पहले बंधा होने के कारण वे पहली नरक में गए। कोणिक पिता को मरा देख कर हक्काबक्का रह गया। वह फूट-फूट कर जोर से रोने लगा। परन्तु

चाणक्य की कथा

चणक गांव में चणी नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम चणेश्वरी था। दोनों जैनधर्म के अनुयायी और जिनेश्वरदेव के भक्त थे। एक दिन उनके एक पुत्र हुआ, जिसके जन्म लेते ही मुंह में सभी दांत थे। अत उसका नाम चाणक्य रखा। एक दिन एक मुनि उसके यहां भिक्षा के लिए आए। अपने पुत्र को गुरुदेव के चरणों में रख कर चणी ने पूछा—"भगवन ! मेरे यहाँ जन्म से ही मुख में समस्त दंतपङ्क्ति वाला यह बालक हुआ है, इसका क्या कारण है ? और इसका क्या प्रभाव होगा ?" मुनिवर ने कहा—"यह इसके भविष्य मे राजा बनने के लक्षण हैं।" इस पर माता ने विचार किया कि "चिरकाल तक राज्यासक्ति रखने वाला व्यक्ति अवश्य ही नरक में जाता है। हमारा यह बालक राज्यासक्त हो कर नरकभागी बने, यह ठीक नहीं है।" अतः माता ने पुत्र के दांतों को किसी चीज से घिस डाले।' एक दिन फिर जब मुनि उनके यहाँ आए तो उनसे चाणक्य के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा—"अब दांत घिस जाने के कारण राजा तो नहीं, किन्तु राजमन्त्री होगा; यह किसी व्यक्ति को प्रेरित करके स्वयं राज्य-संचालन करायेगा।" धीरे-धीरे चाणक्य बड़ा हुआ, सभी विद्याओं में प्रवीण हुआ। यौवन-अवस्था में पहुंचते ही मातापिता ने एक उत्तम ब्राह्मण की कन्या के साथ उसका विवाह किया। सांसारिक सुखोपभोग करते हुए चाणक्य अपना जीवन बिताने लगा। एक दिन चाणक्य की पत्नी सादी पोशाक पहन कर अपने भाई की शादी के मौके पर पीहर गई। किन्तु सादे कपड़े और निर्धनता के कारण पिता के यहाँ किसी ने भी उसे योग्य आदर नहीं दिया। उस मौके पर उसकी दूसरी बहने भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर वहाँ आई हुई थी, भाई ने उनका बहुत आदर किया। सचमुच, संसार में स्वार्थ का मूल कारण धन है। नीतिज्ञ कहते हैं—

छोड कर दूसरे आसन पर बैठिए।' चाणक्य बोला—"दूसरे आसन पर तो मेरा कमण्डलु रहेगा।" दासी ने जब तीसरा आसन बताया तो चाणक्य ने अपना दण्ड रख कर कहा—'इस पर तो मेरा दंड रहेगा।' चौथे आसन की ओर संकेत किया तो उस पर माला रखते हुए कहा—"इस पर मेरी माला रहेगी। दासी ने जब पाचवां आसन बताया तो उसने अपना यज्ञोपवीत उस पर रख दिया। इस तरह जब पांचों ही आसन रोक लिए तो दासी झल्ला कर बोली—"तुम तो कोई धूर्त मालूम होते हो। मैं तो समझती थी कि सरलता से मेरी बात मान जाओगे। इसके बदले तुमने पहले का आसन तो छोड़ा ही नहीं, बल्कि नये-नये और आसन भी रोक लिये।" यह कह कर दासी ने चाणक्य के लात मार दी।' लात लगते ही क्रुद्ध सर्प की तरह चाणक्य गुस्से में आ कर खडा हो कर फुफकारने लगा—"दुष्ट दासी! तेरी इतनी जुर्रत! तीन कौड़ी की नौकरानी हो कर तू मेरा अपमान करती है। याद रख, तेरे इस परम्परागत नन्दराजा को राजगद्दी से हटा कर इसके स्थान पर नये राजा को राजगद्दी पर न बिठा दूं तो मेरा नाम चाणक्य नहीं।" यों कह कर भन्नाता हुआ चाणक्य नगर से बाहर चला आया। वहाँ एक पेड़ के नीचे बैठ कर सोचने लगा—'बचपन मे मेरे सम्बन्ध में एक मुनि ने कहा था कि 'यह राजा को मार्गदर्शन देने वाला राज्यसंचालनकुशल मंत्री होगा।' अतः अब मुझे राजा के योग्य किसी पुरुष की खोज करनी चाहिए।" चाणक्य इसी धुन मे अनेक गाँवों और नगरों मे घूमता हुआ नन्दराजा के मयूरपालक के गाँव मे पहुचा। वहाँ वह संन्यासी-वेष में भिक्षार्थ घूमने लगा। वह मयूरपालक के यहां पहुचा तो देखा कि उसकी गर्भवती पत्नी को चन्द्रपान करने का दोहद पैदा हुआ है। और वह किसी भी उपाय से पूर्ण न होता देख, उस महिला ने अपने पति से नहीं कहा; इस कारण दिनोंदिन दुर्बल होती जा

हमजोली लड़कों के साथ राजा का खेल खेला करता था। स्वयं राजा बनता, किसी को कुछ गांव जागीरी मे दे देता, किसी को कुछ देश, किसी को किले का अधिपति बना देता था। संयोगवश घूमतेघामते चाणक्य भी एक दिन वहां आ पहुचा। चाणक्य ने कुतूहलवश यह तमाशा देखा तो पास आ कर उसने चन्द्रगुप्त से याचना की—'राजन् ! तुम सबको मनोवाञ्छित वस्तु देते हो, मुझे भी कुछ इच्छित वस्तु दो।" इस पर चन्द्रगुप्त ने कहा-'ये सारी गायें मैं तुम्हे देता हू। इन्हें ले जाओ।" यह सुन कर चाणक्य बोला—"ये सारी गायं तो दूसरे की है, इन्हे मैं कैसे ले सकता हू।" इस पर चन्द्रगुप्त साहसपूर्वक बोला—"जो समर्थ होता है, उसी की यह पृथ्वी होती है।" चाणक्य ने दूसरे बालको से पूछा—"यह लड़का किसका है ?" उन्होने कहा—"यह बालक एक परिव्राजक का दिया हुआ है, इसकी मा को उत्पन्न हुए चन्द्रपान के दोहद से यह बालक हुआ है, इसलिए इसका नाम चन्द्रगुप्त रखा है।" यह सुन कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा—"वत्स ! यदि तुझे राज्यप्राप्ति की इच्छा हो तो चल मेरे साथ, मैं तुझे राज्य दिलाऊंगा।" यह कह कर चन्द्रगुप्त को साथ ले कर चल पड़ा। धातुविद्या के प्रयोग कुछ धन एकत्र कर चाणक्य ने थोड़ी-सी सेना इकट्ठी की और पाटलिपुत्रनगर के चारो ओर घेरा डाल दिया। नन्दराजा को यह मालूम पड़ा तो उसने विशाल सेना ले कर युद्ध किया। युद्ध में चाणक्य की सेना हार गई। फलत. चाणक्य चन्द्रगुप्त को ले कर भाग गया। नन्दराजा ने उसे पकड़ने के लिए पीछे-पीछे सेना दौडाई। एक सैनिक जब चाणक्य के नजदीक आ रहा था, तब तक उसने झटपट चन्द्रगुप्त को सरोवर मे छिपा दिया और स्वयं किनारे पर आ कर योगी के वेष मे ध्यान लगा कर बैठ गया। सैनिक ने जब पूछा कि "योगीश्वर ! आपने नन्दराजा के शत्रु चन्द्रगुप्त को इधर से जाते हुए देखा है ?" चाणक्य ने सरोवर मे

इस ब्राह्मण का ही पेट चीर कर दही-चावल दोने में भर कर क्यों न ले जाऊ !" चाणक्य ने वैसा ही करके उस दही-चावल के भोजन से चन्द्रगुप्त को तृप्त किया। शाम को वे दोनों किसी गांव में पहुंचे वहां चाणक्य भिक्षुकवेष मे किसी बुढ़िया के यहां भिक्षा के लिए जा पहुचा। बुढ़िया ने अभी-अभी अपने बालकों के लिए एक थाली में गर्म-गर्म राब परोसी थी। उनमें से एक बच्चे ने थाली के बीच मे हाथ डाला, जिससे उसका हाथ जल गया। वह रोने लगा। यह देख बुढ़िया ने कहा—'कलमुंहे ! तू भी उस चाणक्य के समान मूर्ख हो रहा मालूम होता है !" यह सुनते ही चाणक्य ने पूछा— "माजी ! चाणक्य कैसे मूर्ख हुआ ?" बुढ़िया बोली—"सुनो ! चाणक्य आगे, पीछे और आसपास के गॉवों और नगरों को फतह किये लिना ही एकदम पाटलिपुर जीतने गया। इसलिए उसे हार कर भागना पड़ा। इसी तरह मेरा यह पुत्र भी आसपास की ठंडी हुई राब को छोड कर बीच की गर्म राब मे हाथ डालने गया, इससे उसका हाथ जल गया और वह रोने लगा। यह मूर्खता नहीं तो क्या है ?" वृद्धा की प्रेरणा हृदयंगम करके चाणक्य चन्द्रगुप्त को ले कर हिमालय की ओर गया। वहॉ उसने पर्वतराजा के साथ मैत्री की। कुछ दिनों बाद पर्वतराजा को आधा राज्य देने का वचन दे कर चाणक्य उसकी विशाल सेना ले कर आसपास के अनेक देशों को जीतता हुआ पाटलीपुत्र पहुंचा। वहॉ उसने नन्दराजा के साथ युद्ध किया। इस युद्ध में नन्दराजा हार गया। उसने नगर से निकलने के लिए चाणक्य से धर्मद्वार मागा। चाणक्य ने यह स्वीकार किया। अत नन्दराजा अपनी पत्नी, पुत्री और कुछ सारभूत धन साथ ले कर रथ मे बैठ कर रवाना हुआ। नगर के मुख्यद्वार मे प्रवेश करते समय नंदराजा की रथ मे बैठी हुई पुत्री चन्द्रगुप्त का रूप-लावण्य देख कर उस पर मोहित हो गई। चन्द्रगुप्त के प्रति

भावार्थ—परशुराम ने सात बार इस पृथ्वी निःक्षत्रिय बनाई थी और सुभूमचक्री ने २१ बार पृथ्वी अब्राह्मणी कर दी थी; इन दोनों अकृत्यों मे अपने स्वजनसम्बन्धी लोगों का भी विनाश हुआ था। इसलिए स्वजनस्नेह भी व्यर्थ है।' इस सम्बन्ध मे परशुराम और सुभूमचक्रवर्ती का उदाहरण दे रहे है—

परशुराम और सुभूमचक्री की कथा

सुधर्मा देवलोक मे विश्वानर और धन्वन्तरी नामक दो मित्रदेव थे। एक जैन था दूसरा तापस था। दोनों परस्पर धर्मचर्चा किया करते और अपने-अपने धर्म की प्रशसा करते रहते थे। एक दिन वे दोनो किसका धर्म श्रेष्ठ है?, इसका निर्णय करने हेतु धर्मपरीक्षार्थ मर्त्यलोक मे आए। मिथिला नगरी का राजा पद्मरथ उस समय अपना राज्य छोड़ कर वैराग्यभाव से श्रीवासुपूज्यमुनि के पास मुनिदीक्षा अंगीकार करने जा रहा था। उसे भावचारित्री देख कर जैनदेव ने अपने मित्र तापसभक्तदेव से कहा—'पहले हम इसकी परीक्षा कर लें, बाद मे तुम्हारे तापस की परीक्षा करेंगे।" उन्होंने भावसाधु पद्मरथ जब भिक्षा के लिए घूम रहे थे। तो वे उनके सामने स्वादिष्ट उत्तम भोजन ला कर देने लगे, परन्तु वे अपनी साधुवृत्ति से जरा भी विचलित न हुए, वह भोजन अकल्प्य होने से ग्रहण नहीं किया। उसके पश्चात् उन्होंने जिस मोहल्ले में वे भावसाधु जा रहे थे, उसके मार्ग में जगह-जगह मेंढक ही मेंढक घूमते बताए। उस रास्ते को छोड वे जब दूसरे रास्ते मे जाने लगे तो वहाँ कांटे बिखेर दिये। परन्तु वे जीवों की विराधना वाले रास्ते को छोडकर वे कांटे वाले रास्ते से चले। सावधानीपूर्वक चलने पर भी उनके पैर में कांटे चुभ जाने से खून की धारा बह निकली, दर्द भी बहुत होने लगा। परन्तु भावमुनि जरा भी खिन्न न हुए, ईर्या समितिपूर्वक चलते हुए जरा

दांत हिलने लगते हैं; बुद्धि चंचल हो जाती है; हाथ-पैर कांपने लगते हैं, आंखें कमजोर हो जाती हैं; बल नष्ट हो जाता है; रूपश्री भी विदा हो जाती है; हृदयरूपी नगर में केवल एक तृष्णारूपी वाराङ्गना सुभटी नाचती रहती है।'

इस प्रकार के उत्तर से भावमुनि की दृढ़ता जान कर दोनों देव बड़े प्रसन्न हो कर उनकी प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् जैनदेव ने तापसभक्तदेव से कहा—"जैनों का दिव्यस्वरूप तो हमने देख-परख लिया, अब चलें तापसस्वरूप को भी परख लें।" इस प्रकार दोनों एकमत हो कर तापसपरीक्षा के लिए जंगल की ओर चल दिये। वहाँ उन्होंने एक जटाधारी वृद्ध एवं तीव्रतपश्चरणकर्ता यमदग्नि नामक तापस को देखा। उसकी परीक्षा करने के लिए वे दोनों देव चकवा-चकवी का रूप बना कर उसकी दाढ़ी में घोंसला बना कर बैठ गए। फिर चकवा मनुष्यवाणी में बोला—हे बाले! तू यहां सुख से रह। मैं हिमालय पर्वत पर जा कर आता हूँ।" चकवी ने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपको वहां हर्गिज नहीं जाने दूंगी। क्योंकि जो पुरुष वहां जाता है, वह वहीं लुब्ध हो जाता है। अत. यदि आप वहां से न लौटे तो मेरी क्या दशा होगी? मैं अबला अकेली यहां कैसे रह सकूंगी? आपका वियोग मुझ से कैसे सहा जायगा?" यह सुन कर चकवा बोला—"प्रिये! तू ऐसा हठ क्यों पकड़ रही है? मैं जल्दी ही वहां से वापिस लौट आऊंगा। यदि न आऊं तो मुझे ब्राह्मण, स्त्री, बालक और गाय की हत्या का पाप लगे!" चकवी कहने लगी—मैं ऐसी शपथ को नहीं मानती। मैं तो आपको तभी जाने दे सकती हूं, यदि आप वापिस लौट कर न आए तो यमदग्नि तापस का पाप आपके सिर पर धारण करेंगे।" चकवा बोला—'ऐसी बात मत कह। कौन ऐसे पाप को सिर पर ले!' इस संवाद को सुन कर यमदग्नि तापस ध्यान से विचलित हुए और चकवा-

अन्तःपुर मे लौटते समय रास्ते में तापस ने धूल से खेलती हुई एक राजकन्या देखी। तापस ने उसे बिजौरे का फल बताया। उसे देखते ही राजकन्या ने उस फल को लेने के लिए हाथ लम्बा किया। इससे तापस समझा कि 'यह कन्या मुझे चाहती है।' उसने राजा से यह बात कही। राजा ने तापस के भय से उसे अपनी कन्या दे दी, साथ मे हजार गायें और अनेक दासदासियाँ भी दीं। इससे प्रसन्न हो कर यमदग्नि ने अपनी तपःशक्ति से सभी कुबड़ी कन्याओं को पुनः पहले की-सी बना दी। इस तरह यमदग्नि अपनी सारी तपस्या नष्ट करके रेणुकाबाला को ले कर वन में चल दिये और वहीं एक झोपड़ी बना कर रहने लगे।

रेणुका समय पा कर युवती हुई, तब यमदग्नि ने उसके साथ शादी की। प्रथम ऋतुकाल में यमदग्नि ने रेणुका से कहा—'सुलोचने ! लो, मैं तुम्हें एक चरु मंत्रित करके दे रहा हूँ, इसके सेवन से तुम्हारे एक सुन्दर पुत्र होगा।" रेणुका ने प्रसन्न हो कर कहा—"स्वामिन् ! एक नहीं, दो चरु मंत्रित करके दीजिए; ताकि एक चरु से ब्राह्मणपुत्र हो और दूसरे से क्षत्रियपुत्र। क्षत्रियचरु मैं हस्तिनापुरनृप अनन्तवीर्य की पत्नी मेरी बहन अनंगसेना को दूंगी और ब्राह्मणचरु का सेवन मैं करूंगी।" रेणुका की बात मान कर यमदग्नि ने उसे दो चरु मंत्रित करके दिये। रेणुका ने शूरवीर पुत्र की अभिलाषा से क्षत्रियचरु का सेवन किया और ब्राह्मणचरु अपनी बहन अनंगसेना को भेजा। उसके सेवन से उसे एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कीर्तिवीर्य रखा गया। रेणुका के भी पुत्र हुआ, उसका नाम रखा गया—'राम'। जवानी आने के साथ ही राम अतिसार रोग से पीड़ित रहने लगा। एक दिन एक विद्याधर उसके आश्रम में आया। राम ने उसका भलीभांति आदर-सत्कार किया और उसके द्वारा दिये गए औषध का सेवन करने से वह स्वस्थ हुआ।

निःक्षत्रिय बना दी और मृत क्षत्रियों की दाढ़ों को एकत्रित कर उसने एक बड़ा थाल भर दिया था।

एक दिन घूमता-घूमता परशुराम उन तापसों के आश्रम में पहुंचा ही था कि उसी समय उसके परशु में से ज्वालाएँ निकलने लगीं। इससे शंकित हो कर परशुराम ने उन तापसों से पूछा—"सच सच बताओ, इस आश्रम में कोई क्षत्रिय है? मेरे परशु में से ज्वालाएँ निकल रही हैं, इसलिए यहां कोई न कोई क्षत्रिय होना चाहिए।" तब तापसों ने कहा—"हम ही क्षत्रिय हैं।" किन्तु परशुराम ने उन्हें तपस्वी समझ कर छोड़ दिया। इस तरह सारे क्षत्रियों को मार कर परशुराम हस्तिनापुर पर निष्कंटक राज्य करने लगा।

एक दिन परशुराम ने किसी नैमित्तिक से पूछा—"मेरी मृत्यु किसके हाथ से होगी?" उसने बताया—"जिसकी दृष्टि पड़ते ही मृतक्षत्रियों की ये दाढ़ें क्षीररूप हो जांय, और जो उसका भोजन कर ले; समझ लेना, वही तुम्हें मारने वाला होगा। यह सुन कर परशुराम ने अपने मारने वाले को पहिचानने के लिए एक दानशाला खोली, उसमें एक सिंहासन पर वह दाढ़ों का थाल रख दिया। इधर वैताढ्यवासी मेघनाद विद्याधर ने नैमित्तिक के कहने से अपनी पुत्री सुभूम को अर्पण कर दी और स्वयं उसका सेवक बन कर रहने लगा। एक दिन सुभूम ने अपनी माता से पूछा—"माताजी! क्या पृथ्वी इतनी ही है?" पुत्र के ये शब्द सुनते ही ताराराानी की आंखों में आंसू उमड़ आए, वह गद्गद् स्वर से सारी पूर्व घटना सुना कर कहने लगी—"बेटा! तेरे पिता और पितामह को मार कर तथा समस्त-क्षत्रियों का नाश कर परशुराम हमारे राज्य पर कब्जा जमाए बैठा है। उसी के डर से भाग कर हम इस तापस-आश्रम के भोंयरे में रह रहे हैं।" माता के मुंह से यह बात सुनते ही क्रुद्ध हो कर सुभूम सहसा भोंयरे से बाहर निकला और मेघनाद के साथ हस्तिनापुर की दान-

स्वजन, सम्बन्धी और सामान्यजनों का आश्रय लिये बिना सदा विचरण करते हैं। जैसे (जिनकल्प का विच्छेद हो जाने पर भी) आर्य महागिरि भगवान आर्य सुहस्तिगिरि को अपना साधुकुल सौंप कर स्वयं जिनकल्पी साधु के समान विचरण करने लगे। इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी विचरण करना चाहिए।'

इस सम्बन्ध में आर्य महागिरि का उदाहरण यहाँ दे रहे हैं—

आर्य महागिरि का गच्छत्याग

आर्य श्री स्थूलिभद्र के दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती। उनमें से बड़े शिष्य आर्यमहागिरि विशेष वैराग्य के कारण अपने गच्छसमुदाय का भार आर्य सुहस्तीसूरि को सौंप कर स्वयं जिनकल्पी साधु की तरह संयम में पुरुषार्थ करते हुए अकेले ही विचरण करने लगे। ये महामुनि खासतौर से साधुजीवन की धर्म-क्रियाओं में प्रयत्नशील रहा करते थे। जब आर्य सुहस्तीसूरि गांव के अन्दर पधारते तो आर्य महागिरि उसी गांव के बाहर रहते। इसी गच्छ के निश्राय में वह विचरण करते थे।

एक बार आर्य सुहस्तीसूरि विहार करते हुए पाटलिपुत्र पधारे। वहाँ आर्य महागिरि उस नगर के सारे क्षेत्र (एरिया) के ६ विभाग करके ५–५ दिन तक प्रत्येक विभाग में भिक्षा के लिए जाते थे; और नीरस आहार करते थे। एक दिन आर्य सुहस्तीसूरि वसुभूति नामक श्रावक के यहाँ उसके कुटुम्ब को प्रतिबोध देने के लिए पधारे थे और उपदेश दे रहे थे; तभी अकस्मात् आर्य महागिरि भी वहाँ पहुचे। उन्हें देखते ही आर्य सुहस्तीसूरि ने खड़े हो कर सविनय वन्दन किया। इससे आर्य महागिरि भिक्षा लिये बिना ही वापिस लौट गए। वसुभूतिश्रावक ने आर्य सुहस्तीसूरि से पूछा—"जिनका आपने इतना विनय किया, ये महामुनि कौन हैं?" आर्य सुहस्तीसूरि ने कहा—

शब्दार्थ—'उत्तमकुल मे उत्पन्न, राजकुल के भूषण और मुनियों मे श्रेष्ठ श्री मेघकुमारमुनि बहुत-से अन्य मुनियों के पैरों की ठोकर आदि से होने वाला कठोर स्पर्श सहन करते है। इसी तरह अन्य मुनियों को भी सहन करना चाहिये।'

श्रीमेघकुमार की कथा

मगधदेश की राजधानी राजगृही नगरी मे राजा श्रेणिक का राज्य था। उसके धारिणी नाम की रानी थी। एक बार उसके गर्भ मे स्थित शिशु के प्रभाव से उसे अकाल मे ही मेघवृष्टि होने का दोहद पैदा हुआ। मंत्री अभयकुमार ने अट्ठम (तेला) तप करके देवाराधन किया और उस देव की सहायता से उसने रानी का दोहद पूर्ण किया। ठीक समय पर पुत्र का जन्म हुआ। स्वप्न के अनुसार उसका नाम मेघकुमार रखा। बचपन पार करके उसने जब यौवन में प्रवेश किया तो श्रेणिक राजा ने उसका विवाह कुलीन और रूप-सम्पन्न ८ कन्याओं के साथ किया। मेघकुमार पंचेन्द्रियसुखों का उपभोग करते हुए जीवन बिताने लगा।

एक बार राजगृही में श्रमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। मेघकुमार को प्रभु का उपदेश सुन कर वैराग्य उत्पन्न हुआ, और माता-पिता की अनुमति ले कर भगवान् के पास उसने मुनिदीक्षा अंगीकार की। भगवान् ने उसे शास्त्रों के अध्ययन के लिए स्थविर-मुनि को सौंपा। रात को संथारापौरुषी (शयन के समय) का पाठ पढ़ा कर रत्नाधिक क्रम से (दीक्षा में बड़े-छोटे के क्रमानुसार) मेघ-मुनि का संथारा (सोने का आसन) दीक्षा में सबसे छोटे होने के कारण सब साधुओं के संथारे के अन्त में उपाश्रय के द्वार के पास किया गया। रात्रि को लघुनीति के लिए आते-जाते साधुओं के पैरों की बार-बार ठोकर लगने से कठोर स्पर्श होने व आहट होने के

वर तुम्हें नजर आया। उसमें घुसने के रास्ते का पता न होने से पानी पीने के लिए ज्यों ही तुम घुसने लगे, त्यों ही दलदल में फस गए। बाहर निकलने की तुमने बहुत कोशिश की, लेकिन निकल न सके। तुम वहाँ फसे हुए थे कि तुम्हारे पूर्वशत्रुहाथियों ने तुम्हें देख कर तीखे दांतों से तुम पर प्रहार किया। सात दिन तक उस की असह्य वेदना सह कर १२० वर्ष की आयु पूर्ण कर तुम वहां से मर कर विन्ध्याचल पर्वत पर चार दांतो वाले, रक्तवर्ण और ७०० हथनियों के स्वामी हाथी बने। संयोगवश वहां भी एक बार भयकर आग लगी। पशुपक्षियों में भगदड़ मच गई। उस दावानल को देख कर तुम्हें जातिस्मरण ज्ञान पैदा हुआ। पूर्वजन्म का स्मरण होने से तुमने एक योजन लम्बा-चौडा एक मंडल (घेरा) बनाया, जिसमें वर्षाकाल से पहले, मध्य मे और अन्त मे जमे हुए नये घास, तिनके, लता और अकुरों आदि को अपनी सूड तथा अपने परिवार की सहायता से मूल से उखाड फेंके। और उस मडल को तुमने साफ और सुरक्षास्थान बना दिया। एक दिन फिर उस वन मे भयकर आग लगी तो तुम सपरिवार उस मडल मे आ गए; साथ ही उस जंगल के तमाम पशुपक्षी भी अपनी जान बचाने के लिए उस मडल में आ कर जमा हो गए। वह मंडल प्राणियों से खचाखच भर गया था। अत्यन्त भीड़ के कारण तग हुआ एक खरगोश भी वहां आ पहुचा। उसने और कहीं जगह न देख तुमने शरीर खुजलाने के लिए ज्यों ही अपना पैर उठाया, त्यों ही वह उतनी-सी जगह मे आराम से बैठ गया। परन्तु शरीर खुजला लेने के बाद पैर नीचे रखते समय तुम्हारे पैर के साथ कोमल-सा स्पर्श हुआ। तुमने सोचा कि यहाँ कोई खरगोश बैठा है, यदि मैंने इस पर पैर रख दिया तो इसका कचूमर निकल जायगा। अत उस पर दयार्द्र हो कर तुमने अपना पैर ढाई दिनों तक ऊपर का ऊपर उठाए रखा। दावानल शान्त हो

रत्न संवत्सर आदि तप करके निर्मलध्यानपूर्वक समाधिपूर्वक अपना आयुष्य पूर्ण कर मेघकुमार मुनि विजय नामक अनुत्तरविमान में देव हुए। वहा से च्यवन कर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

इसी प्रकार अन्य मुनियों को भी अपने चारित्र में स्थिर रहना चाहिये; यही उस कथा का उपदेश है।

> अणहप्परसंवाह सुक्खं तुच्छं सरीरपीडा य।
>
> सारण-वारण-चोयण-गुरुजण आयत्तागा य गणे ॥ १५५ ॥

शब्दार्थ—'गण (गच्छ) में रहने से मुनियों के परस्पर संघर्ष, विषयसुखों की तुच्छता, बड़ों के लिए शरीर को पीड़ा (कष्ट), गुरुजनों की अधीनता, उनके द्वारा की गई सारणा, वारणा, चोयणा, पड़िचोयणा वगैरह सहने पड़ते हैं।'

भावार्थ—'गुरुकुलवास (गण) में रहने पर कहीं-कहीं स्थान की तंगी होने के कारण परस्पर एक दूसरे का संबाध (संघर्ष) होता है, विषय-जन्य सुख भी तुच्छ (नगण्य) हो जाता है, क्योंकि बड़ों के समीप रहने पर कई बार मन को मारना होता है, इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्त होने की इच्छा को दबाना पडता है; परिषह-सहन करने या परस्पर रुग्णादिसाधुओं की सेवा करने में शरीर को भी घिसाना पड़ता है, जिससे थोड़ी बहुत पीड़ा भी होती है। बड़ों की बात को सहन करने में जरा मानसिक पीड़ा भी होती है। गुरु की आज्ञा के अधीन हरदम रहना पडता है, जिससे अपनी स्वतंत्रता दबानी पड़ती है। गुरु के द्वारा (सारणा) किसी अकार्य को न करने का बारबार स्मरण दिलाने, (वारणा) किसी कार्य में प्रमाद करते हुए को रोकने, रोकटोक करने, (चोयणा) अच्छे कार्य में प्रेरित करने और (पडिचोयणा) न करने पर कभी कोमल और कभी कठोर शब्दों में

अत: जो विनययुक्त हो कर गुरु-सान्निध्य में रहते है, उन्हे ये लाभ अनायास ही मिल जाते है।'

पित्तिजेसणमिक्को पइन्नपमयाजणाउ निच्चभय ।

काउं मणोवि अकज्जं न तरइ काउण बहुमज्झे ॥१५८॥

शब्दार्थ—'निरकुंश एकाकी साधु आहार-पानी आदि की गवेषणा करने मे (लज्जावश) पीड़ा पाता है: हमेशा अंगनाओ से घिरे जाने का भय बना रहता है। गुरुकुल-वास मे रहने से साधु मन से भी अकार्य कर नही सकता, शरीर से उसमे प्रवृत्त होना तो बहुत ही दूर है। गुरुकुलवास मे रहने से बहुत लाभ है। इसलिए स्थविर-कल्पी मुनियों को निरंकुश हो कर एकाकी विहार करना उचित नही है।'

उच्चार-पासवण-वंत-पित्त-मुच्छाइ मोहिओ इक्को ।

सद्दव भायण विहत्थो निक्खिवइ कुणइ उड्डाहो ॥१५६॥

शब्दार्थ—'टट्टी, पेशाव, उलटी, पित्त और मूर्च्छा (वेहोशी), वायुविकार, विसूचिका (पेचिश) आदि वीमारियों के प्रकोप के समय अकेला साधु मार्ग मे चलता-चलता कांपते हुए हाथ आदि से जल से भरे पात्र को नीचे रख देता है तो इससे सयम की विराधना-आत्म विराधना-होती है और यदि वह हाथ से पात्र रख कर बड़ी नीति आदि करता है तो जिन शासन की बदनामी होती है। इस-लिए विना कारण के स्वच्छन्दतापूर्वक अकेला रहना किसी तरह भी ठीक नही है।'

एकदिवसेण वहुआ सुहाय असुहाय जीव परिणामा ।

इक्को असुहपरिणओ चइज्ज आलवणं लद्धुं ॥१६०॥

शब्दार्थ—'एक ही दिन में जीव के कई बार शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं। साधु एकाकी होने पर कदाचित् अशुभ परिणाम

शब्दार्थ—'सम्यग्दृष्टि और सिद्धान्त को जानने वाला भी अत्यन्त विषयसुख के राग के वश हो कर भवभ्रमण करता है। इस सम्बन्ध मे हे शिष्य ! तुम्हे सात्यकि का उदाहरण जानना चाहिये।" यहाँ सात्यकि विद्याधर की कथा कहते हैः—

सात्यकि विद्याधर की कथा

विशाला नाम के समृद्ध नगर में चेटक नाम का राजा राज्य करता था। उसके सुज्येष्ठा और चिल्लणा नाम की दो पुत्रियाँ थीं। उन दोनो मे परस्पर बहुत स्नेह था। अभयकुमार के कहने से उन दोनों ने श्रेणिक राजा के साथ विवाह करने का निश्चय किया। अत. अभयकुमार ने इस कार्य के लिए एक सुरंग खुदवाई, और उस सुरंग द्वारा श्रेणिक राजा को विशालानगरी मे ले आया। इधर दोनों कन्याएँ सुरग के पास आई, तब चिल्लणा ने विचार किया कि 'सुज्येष्ठा रूप मे मुझसे अतिश्रेष्ठ है, इसलिए श्रेणिक राजा उसका बहुत सम्मान करके पटरानी बना देगा' यह सोच कर चिल्लणा ने सुज्येष्ठा से कहा कि 'बहन ! तू वापस जा कर मेरा आभूषणों का डब्बा ले आ, जो वहीं रह गया है।' ऐसा कह कर सुज्येष्ठा को वापस भेजा। फिर चिल्लणा ने श्रेणिक राजा से कहा कि 'स्वामीनाथ ! यहाँ से जल्दी चलिए, यदि किसी ने जान लिया तो बड़ा अनर्थ होगा। इस प्रकार भय बता कर वे सुरंग से बाहर निकल गये। उसके बाद सुज्येष्ठा ने वहाँ आ कर विचार किया कि प्राण से भी अधिक प्रिय मेरी बहन चिल्लणा ने मेरे साथ ऐसा धोखा किया है। केवल अपने स्वार्थ मे दत्तचित्त रहने वाले कुटुम्बीवर्ग से क्या मतलब ? सर्पफण के समान इस विषयसुख को भी धिक्कार है।' ऐसे विचार करते-करते उसे वैराग्य हो गया। फलत सुज्येष्ठा ने विवाह नही किया। उसने श्री चन्दनबाला साध्वी के पास जा कर चारित्र ग्रहण किया और छठ्ठ अट्ठम आदि अनेक प्रकार की तपस्या करने लगी।

करने से रोका। क्योंकि सात्यकि का जीव पहले पांच जन्मो मे रोहिणी-विद्या की साधना करते-करते मरा था और छठे जन्म में रोहिणी-विद्या की साधना करते समय उसकी आयु जब छह महीने शेष रह गई थी, तब विद्या की देवी ने प्रत्यक्ष हो कर कहा था—"सात्यकि! तेरी आयु केवल छह महीने ही बाकी है, इसलिये यदि तू कहे तो मैं इसी जन्म मे सिद्ध हो जाऊं, नहीं तो अगले जन्म में सिद्ध होऊंगा।" तब सात्यकि के जीव ने कहा था कि "यदि मेरी आयु थोडी ही बाकी है तो आगामी जन्म मे तुम सिद्ध होना।" इस तरह पूर्वजन्म मे वचन दिया था, इसलिये रोहिणी विद्यादेवी इस जन्म में थोड़े ही समय मे सिद्ध हुई। फिर उसने प्रत्यक्ष हो कर सात्यकि से कहा—"तेरे शरीर का एक भाग मुझे बता, जिसमे मैं प्रवेश करूं।" तब सात्यकि ने अपना कपाल बताया। रोहिणी विद्यादेवी ने ललाटमार्ग से अंग मे प्रवेश किया, जिससे ललाट मे तीसरा नेत्र उत्पन्न हुआ। उसके बल से उसने सर्वप्रथम अपने पिता पेढाल को ही साध्वीजी (माता) का ब्रह्मचर्य-भंग करने वाला जान कर विद्या के प्रभाव से उसे मार दिया। और कालसंदीपक विद्याधर सात्यकि को विद्याबल से अजेय जान कर माया से त्रिपुरासुर का रूप बना कर भाग गया। वह लवणसमुद्र में जा कर पाताल कलश में छिप गया। लोगों मे यह अफवाह फैली कि 'सात्यकि विद्याधर ने त्रिपुरासुर को पाताल में घुसा दिया। इसलिये सात्यकि नाम का यह ग्यारहवॉ रुद्र उत्पन्न हुआ है।'

इसके पश्चात् सात्यकि विद्याधर ने श्रीमहावीर भगवान् से सम्यक्त्व अंगीकार किया और देवगुरु धर्म पर अत्यन्त भक्तिमान हुआ। तीनों संध्याओं के समय भगवान् के आगे नृत्य करता था, परन्तु वह विषय-सुखों में अतिलोलुप था। अत. राजा की, प्रधान

"प्राणवल्लभ ! आप सदा अपनी इच्छा के अनुकूल किसी भी पराई कामिनी का सेवन करते हैं। आपकी इस चेष्टा को देख कर कोई भी आपको मारने में समर्थ नहीं है। आप के पास ऐसा कौन-सा बल है, जिससे आपको कोई मार नहीं सकता ?" तब सात्यकि ने कहा—"सुनयने ! मेरे पास एक ऐसी विद्या है, जिसके प्रभाव से मुझे कोई भी मार नहीं सकता।" तब वेश्या ने उत्सुकतावश फिर पूछा—"स्वामीनाथ ! आप उस विद्या को हर समय साथ ही रखते हैं, या किसी समय अपने से दूर भी रखते हैं ?" वेश्या के विश्वास मे आया हुआ सात्यकि बोला—"जब मैं स्त्रीसहवास करता हूं, तब उस विद्या को दूर रख देता हूँ।" उमा वेश्या को जब इस रहस्य का पता लग गया तो उसने राजा से सारी बात कह दी। अन्त में उसने राजा से कहा—"राजन् ! सात्यकि को मारने का एक ही उपाय है। यदि आप मेरी रक्षा का प्रबन्ध कर दे तो उसे खुशी से मारा जा सकता है।" इस तरह उसने राजा को सारी बात समझा दी। राजा ने पहले आजमाइश के लिए एक औरत को सारी बात समझा दी। उसने वेश्या के पेट पर कमलपत्र रखे और फिर उन्हें छुरी से काट दिये, परन्तु वेश्या के शरीर को जरा भी चोट नही पहुची। इस तरह वेश्या के दिल में एक सुरक्षा का विश्वास उत्पन्न करा कर उसे घर भेज दी। राजा ने दोनों को मार देने का अपने सेवकों को समझा कर रात को वेश्या के यहाँ उन्हें भेजे। वेश्या ने सेवकों को छिपा कर रखा। काम के आवेश मे उन्मत्त सात्यकि आते ही उमा के साथ सम्भोग करने मे जुट पड़ा। छिपे हुए सेवकों ने तुरंत वहाँ आ कर दोनों के मस्तक काट डाले।

सात्यकि विद्याधर के शिष्य नंदीश्वर गण को जब इस बात का पता चला तो वह अतिक्रोधित हुआ और नगर में आ कर एक विशाल शिला हाथों मे थामे आकाश मे खड़े हो कर कहने लगा—नागरिको !

मे पधारे। उन्हें वदन करने के लिये श्रीकृष्णजी अपने परिवार-सहित पहुंचे और मन में उत्कण्ठा जागी कि 'आज मैं भगवान के अठारह ही हजार मुनियो मे से प्रत्येक को द्वादशावर्तपूर्वक वंदन करू' तत्पश्चात अपने भक्त वीर, सामंत आदि के साथ सभी साधुओं को विधिसहित वंदना करके वे अत्यन्त थक गए। अत वे भगवान के पास आ कर बोले—"भगवन ! आज मैं आपके अठारह ही हजार साधुओं को वंदन करने से थक कर चूर-चूर हो गया हूँ। मैंने अपनी जिंदगी मे तीन सौ आठ युद्ध किये, लेकिन उनमे किसी समय इतनी थकावट नहीं आई। पर पता नहीं आज मे इतना क्यों थक गया हूं ?' भगवान् ने कहा—"महानुभाव ! वंदना करने से तुम्हे जितनी अधिक थकावट हुई है, उतना अधिक लाभ भी तो तुमको हुआ है ! क्योंकि इतनी उमग से वंदना करने से तुम्हे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है तथा तुमने तीर्थंकर-नामकर्म भी उपार्जित किया है। साथ ही संग्राम मे लड कर तुमने जो सातवीं नरक के योग्य कर्म वांधे थे, उन्हे क्षय कर दिये, इसलिए अब तुम्हारे सिर्फ तीसरी नरक के योग्य कर्म रह गये है। इतना महान् लाभ तुम्हे मिला है।" यह सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा—'भगवन् ! यदि ऐसी बात है तो मैं फिर से अठारह हजार मुनियों को वंदना कर तीसरी नरक के योग्य कर्मों को क्षय कर डालूं।" इस पर भगवान् ने कहा—'कृष्ण ! अब वैसे भाव नही आ सकते; क्योंकि अब तुममे लोभ ने प्रवेश किया है।' कृष्ण ने फिर पूछा—'मुझे जब इतना लाभ मिला है, तब मेरे अनुयायी वीर, सामंत आदि को कितना लाभ मिला है ?' भगवान् ने कहा—'उनको तो केवल कायाक्लेश हुआ है; क्योंकि इन्होंने तो केवल तुम्हारा अनुकरण करके ही वंदन किया है। अत. बिना भाव के किसी क्रिया का फल नही मिलता है।

रखते थे। एक दिन वहाँ नयी शादी किया हुआ कोई वणिक् पुत्र अपने मित्रों के साथ आया। उसने सभी साधुओं को वंदना की, उसके बालमित्र हास्य से कहने लगे—"स्वामिन ! इसे आप अपना शिष्य बना लें।" तब मुनियों ने कहा—'महानुभाव ! यदि यह दीक्षा लेना चाहता है तो वहाँ दूर बैठे हुए उन गुरुमहाराज के पास जाए।' वे बालमित्र वणिकपुत्र के साथ दूर बैठे हुए आचार्य के पास पहुंचे। गुरुमहाराज को वंदन करके वे मजाक से उनसे कहने लगे—"महाराज ! इसे दीक्षा दे कर अपना शिष्य बना लें।" यह सुन कर आचार्य मौन रहे। उन बालकों ने फिर कहा—"स्वामिन् ! इस नयी शादी किये हुए हमारे इस मित्र को शिष्य बना ले।" तीन-चार बार इसी प्रकार कहने पर आचार्य चंडरुद्र को क्रोध आ गया। उन्होंने उसे जबर्दस्ती पकड़ कर दोनों पैरों के बीच मे उसका सिर रख कर उसका लोच कर डाला। यह देख कर सभी बच्चे भाग गये और विचार करने लगे—"अरे ! यह क्या हो गया ? इन्होंने तो हमारी मजाक को सच मान कर इसे मूंड ही डाला।"

नवदीक्षित शिष्य ने गुरुमहाराज से कहा—"गुरुदेव ! अब हमे यहाँ से दूसरी जगह चल देना चाहिये। क्योंकि मेरे माता-पिता तथा मेरे श्वसुरपक्ष आदि के लोग यह बात सुनेंगे तो यहाँ आ कर महान् उपद्रव मचायेंगे।" तब गुरुमहाराज ने कहा—'वत्स ! मैं रात मे चलने में अशक्त हूँ।' अतः नवीन शिष्य अपने गुरुमहाराज को अपने कंधे पर बिठा कर वहाँ से चल पड़ा। अंधेरी रात मे चलने से उसके पैर जमीन पर ऊंचे-नीचे पड़ने लगे। इससे चंडरुद्राचार्य क्रोधित हो कर उसके सिर पर डंडे मारने लगे। जिससे उसके सिर से खून बहने लगा और अत्यन्त वेदना होने लगी। परन्तु उसके मन में जरा भी क्रोध नहीं आया। प्रत्युत उसने अपनी ही गलती समझी। चा—"धिक्कार है मुझ पापी को ! गुरुमहाराज को मेरे कारण

रहते हुए) स्वप्न मे यथार्थ दृश्य देखा कि हाथी के बच्चों के साथ एक सुअर है।'

> सो उग्गभवसमुद्दे, सयंवरमुवागएहिं राएहिं।
> करहो वक्खरभरिओ, दिट्ठो पोराण सीसेहिं ॥ १६६ ॥

शब्दार्थ—'उस कुगुरु ने उग्र ससारसमुद्र में परिभ्रमण करते हुए ऊट के रूप मे जन्म लिया। उसे पूर्वजन्म के शिष्यो ने, जो अगले किसी जन्म मे राजपुत्र बने थे, स्वयवर मे आये थे, ऊट के रूप मे अपने पूर्वजन्म के गुरु को देख कर करुणा ला कर उसे दुःख से मुक्त किया।' इन दोनो गाथाओं की विशेष जानकारी निम्नोक्त कथा से जान लेना।

अंगारमर्दकाचार्य की कथा

किसी नगर मे विजयसेन नाम के एक आचार्य विराजमान थे। उनके शिष्यो ने रात को स्वप्न मे पांच सौ हाथियो से घिरा हुआ एक सूअर देखा! प्रातःकाल उन्होंने अपने गुरुमहाराज के समक्ष स्वप्नवृत्तान्त निवेदन किया। तब गुरुदेव ने विचार कर कहा—'शिष्यो! आज कोई अभव्य गुरु पांच सौ शिष्यों सहित यहाँ आयेगा। इस तरह तुम्हारा स्वप्न फलित होगा।" इतने मे तो रुद्रदेव नाम के आचार्य पांच शिष्यो के साथ वहाँ आये। पूर्वस्थित साधुओं ने उनका आदर-सत्कार किया। दूसरे दिन अभव्यगुरु की परीक्षा करने के लिये पेशाब करने के स्थान मे और रास्ते मे विजयसेनसूरि ने रुद्रदेवसूरि न जान सके, इस तरह से अपने शिष्यों को समझा कर चुपके से जमीन पर कोयले बिछवा दिये। रात को उस अभव्य गुरु के शिष्य लघुशंका करने के लिये उठे तो उनके पैरो के नीचे कोयले दबने से चर्रर चर्रर से शब्द होने लगा। इससे कोयलो से अनभिज्ञ होने से शंकित हो कर वे पश्चात्ताप करने लगे—"हाय!

है। कर्म की गति विचित्र है! इसने पूर्वजन्म मे ज्ञान प्राप्त किया था परन्तु श्रद्धा के बिना वह निष्फल हुआ। इसलिये इसकी ऐसी दशा हुई है। और अब भी वह अनन्त जन्म-मरण करेगा।" इस प्रकार विचारविमर्श करके करुणावश उस ऊंट को उसके स्वामी से छुड़ा लिया।

तत्पश्चात वे पांच सौ राजपुत्र विचार करने लगे—"यह संसार अनित्य है। चिरपरिचित विषयसुख किंपाकफल के समान है और हाथी के कान के समान चंचल है। ऐसी राज्यलक्ष्मी को भी धिक्कार है। इस तरह वैराग्ययुक्त चित्त से उन्होंने चारित्र अंगीकार किया और अन्त मे वे सद्गति के अधिकारी बने।

इस तरह सुशिष्य भी भवांतर मे गुरु पर उपकार करने वाले होते हैं; ऐसा इस कथा का उपदेश है।

संसारवंचणा नवि गणंति संसार-सूअरा जीवा।
सुमिणगएणवि केइ, बुज्झंति पुप्फचूलाव्व ॥१७०॥

शब्दार्थ—'पुद्गलानन्दी, भवाभिनन्दी और संसार मे अत्यन्त आसक्त जीव सूअर के समान संसार मे होने वाली विविध विडंबनाओ को नहीं समझते। क्योंकि विषयासक्त जीव विषय को ही सार-भूत गिनते है। परन्तु लघुकर्मी जीव सिर्फ स्वप्न को देखने मात्र से अनायास ही प्रतिबुद्ध हो जाते है; जैसे पुष्पचूला को अनायास प्रतिबोध हुआ था।' पुष्पचूला नाम की रानी ने स्वर्ग और नरक का स्वरूप स्वप्न में देख कर ही विषयसुख से विरक्त हो कर संयम अंगीकार किया था। ऐसे भी बहुत से जीव होते है।' यहाँ पुष्पचूला की कथा दे रहे है—

पुष्पचूला की कथा

पुष्पभद्र नाम के नगर मे पुष्पकेतु नाम का राजा राज्य करता था।

से पूर्वजन्म देखा। पूर्वजन्म के पुत्रपुत्री को देखकर उसे प्रीति उत्पन्न हुई और मन में विचार करने लगी कि "यह मेरे पूर्व जन्म के पुत्र-पुत्री इस प्रकार के पापकर्म करके नरक में जायेंगे, इसलिये मैं इनको प्रतिबोध दूं। ऐसा सोचकर उसने अपनी पुत्री पुष्पचूला को रात को स्वप्न में नरक के दुःख बताये। उसे देख कर वह भयभीत हुई और सुबह उसने अपनी पति राजा को स्वप्न की बात कही। राजा ने भी नरक का स्वरूप पूछने के लिये अन्यधर्मी योगियों आदि को बुलाया और नरक का स्वरूप पूछा।' उन्होंने कहा—'राजन्! शोक, वियोग, रोग और भोग में पराधीनता आदि में ही नरक के दुःख जानना।' तब पुष्पचूला रानी ने कहा—'मैंने जो दुःख रात को स्वप्न में देखा था, उससे तो भिन्न है।' उसके बाद राजा ने अर्णिका-पुत्रआचार्य को बुला कर पूछा—'स्वामिन्! नरक के दुःख कैसे होते हैं?" रानी ने नरक के जैसे दुःख स्वप्न में देखे थे वैसे ही आचार्य महाराज ने बताये। उसे सुन कर आश्चर्यचकित हो कर रानी ने पूछा—"स्वामिन्! क्या आपने भी ऐसा कोई स्वप्न देखा है, जिससे मैंने स्वप्न में नरक का जैसा स्वरूप था, वैसा ही आपने बताया।" आचार्यश्रीजी ने कहा—"मैंने स्वप्न तो नहीं देखा, परन्तु आगम-वचन से जानता हूँ।" पुष्पचूला—"किस कर्म से ऐसे दुःख प्राप्त होते हैं?" गुरुमहाराज ने कहा—"पांच आश्रव के सेवन करने से तथा काम-क्रोध आदि पापाचरण से जीव को नरक के दुःख मिलते है।' इस प्रकार समाधान करके गुरुमहाराज अपने स्थान पर लौट गये। दूसरे दिन पुष्पचूला रानी को देव बने हुए माता के जीव ने स्वप्न में देवताओं के सुख बताये। प्रातःकाल रानी ने उस स्वप्न की बात राजा से कही। राजा ने अन्य दर्शनियों को बुलाकर पूछा—'स्वर्ग का सुख कैसा होता है?" तब उन्होंने कहा—'हे राजन्! उत्तम प्रकार के भोजन, श्रेष्ठ वस्त्र-परिधान, प्रियजनों का संयोग, उत्तम अंगनाओं

से पूर्वजन्म देखा। पूर्वजन्म के पुत्रपुत्री को देखकर उसे प्रीति उत्पन्न हुई और मन मे विचार करने लगी कि "यह मेरे पूर्व जन्म के पुत्र-पुत्री इस प्रकार के पापकर्म करके नरक मे जायेंगे, इसलिये मैं इनको प्रतिबोध दूं। ऐसा सोचकर उसने अपनी पुत्री पुष्पचूला को रात को स्वप्न मे नरक के दुःख बताये। उसे देख कर वह भयभीत हुई और सुबह उसने अपनी पति राजा को स्वप्न की बात कही। राजा ने भी नरक का स्वरूप पूछने के लिये अन्यधर्मी योगियो आदि को बुलाया और नरक का स्वरूप पूछा।' उन्होने कहा— 'राजन्! शोक, वियोग, रोग और भोग मे पराधीनता आदि मे ही नरक के दुःख जानना।' तब पुष्पचूला रानी ने कहा—'मैंने जो दुःख रात को स्वप्न मे देखा था, उससे तो भिन्न है।' इसके बाद राजा ने अर्णिका-पुत्रआचार्य को बुला कर पूछा—'स्वामिन्! नरक के दुःख कैसे होते हैं?" रानी ने नरक के जैसे दुःख स्वप्न मे देखे थे वैसे ही आचार्य महाराज ने बताये। उसे सुन कर आश्चर्यचकित हो कर रानी ने पूछा—"स्वामिन्! क्या आपने भी ऐसा कोई स्वप्न देखा है, जिससे मैंने स्वप्न मे नरक का जैसा स्वरूप था, वैसा ही आपने बताया।" आचार्यश्रीजी ने कहा—"मैंने स्वप्न तो नहीं देखा, परन्तु आगम-वचन से जानता हूँ।" पुष्पचूला—"किस कर्म से ऐसे दुःख प्राप्त होते है?" गुरुमहाराज ने कहा—"पॉच आश्रव के सेवन करने से तथा काम-क्रोध आदि पापाचरण से जीव को नरक के दुःख मिलते है।' इस प्रकार समाधान करके गुरुमहाराज अपने स्थान पर लौट गये। दूसरे दिन पुष्पचूला रानी को देव बने हुए माता के जीव ने स्वप्न मे देवताओं के सुख बताये। प्रातःकाल रानी ने इस स्वप्न की बात राजा से कही। राजा ने अन्य दर्शनियो को बुलाकर पूछा—'स्वर्ग का सुख कैसा होता है?" तब उन्होने कहा—'हे राजन्! उत्तम प्रकार के भोजन, श्रेष्ठ वस्त्र-परिधान, प्रियजनों का संयोग, उत्तम अंगनाओं

के साथ विलास इत्यादि स्वर्ग के सुख है।' तब रानी ने कहा 'जो स्वर्ग के सुख मैंने स्वप्न में देखे थे उनका तो इनके साथ कोई मेल नहीं है। आप लोगों के बताए हुए सुखों की उन सुखों के साथ असंख्यातवें भाग की तुलना भी नहीं हो सकती। फिर रानी ने आचार्यश्री अर्णिकापुत्र को बुला कर स्वर्ग के सुख का स्वरूप पूछा। रानी ने स्वप्न में जैसा देखा था वैसा ही स्वर्ग के सुख का उन्होंने हूबहू वर्णन किया। रानी ने पूछा—'गुरुवर ! ऐसे सुख कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?" गुरु महाराज ने कहा—'साधुधर्म की आराधना करने से प्राप्त हो सकते हैं।' इसके बाद धर्म का यथार्थ स्वरूप जानने से पुष्पचूला को संसार से वैराग्य हो गया, और उसने चारित्रग्रहण करने के लिये जब पति से आज्ञा माँगी तब राजा ने कहा। "तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, तेरा वियोग मुझसे सहन नहीं हो सकेगा। ऐसी दशा में मैं तुझे दीक्षा लेने की आज्ञा कैसे दे सकता हूँ ?" रानी ने बहुत कह सुन कर राजा को मना लिया। राजा ने कहा—"एक शर्त पर मैं तुम्हें आज्ञा दे सकता हूँ कि दीक्षा ले कर तू यहीं रहे और मेरे घर से भिक्षा ग्रहण करे।" रानी ने इसे स्वीकार किया और अर्णिकापुत्र आचार्य से दीक्षा अंगीकार की। पुष्पचूला साध्वी बनने के बाद वहीं रह कर राजा के यहाँ से हमेशा शुद्ध भिक्षा लेती, और शुद्ध चारित्रधर्म की आराधना करने लगी।

भविष्य में १२ वर्ष का दुष्काल पड़ने वाला है, यह बात आचार्य अर्णिकापुत्र ने एक दिन ज्ञान से जान कर अपने सभी साधुओं को अलग अलग दिशा में भेज दिये, और स्वयं नहीं चल सकने से वहीं रहे। साध्वी पुष्पचूला हमेशा गुरुमहाराज को आहार पानी ला कर देने लगी और अपने पिता के समान उनकी सेवा करने लगी। इस तरह प्रतिदिन गुरुभक्ति में परायण रहती हुई साध्वी पुष्पचूला को शुभ ध्यान के योग से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर भी वह गुरु महा-

राज को आहार-पानी ला कर देती रही। एक बार वर्षा हुई; फिर भी पुष्पचूला गुरुदेव के लिए भिक्षा ले कर आई। तब गुरुमहाराज ने कहा—'वत्से ! तू यह क्या करती है ? एक तो मैं स्थिरवासी हूं, दूसरे, मैं साध्वी के द्वारा लाया हुआ आहार ग्रहण करता हूँ. फिर तू बरस रही बरसात मे भी मुझे आहार ला कर देती है, क्या यह उचित और कल्पनीय है ?' तब पुष्पचूला साध्वी ने कहा—'गुरुदेव ! यह मेघवृष्टि अचित्त है।' गुरुमहाराज ने कहा—"यह तो केवल-ज्ञानी ही जान सकते है।" पुष्पचूला ने सहजभाव से कहा—"स्वामिन् ! आपकी कृपा से मुझे वहा ज्ञान हुआ है।" यह सुन कर आचार्य पश्चात्ताप करने लगे—"धिक्कार है मुझे, मैंने केवली की आशातना की है।" इस प्रकार खेद करते हुए उससे क्षमायाचना की। साध्वीजी ने कहा—'स्वामिन् ! आप क्यों दु खी हो रहे है ? आप भी गंगानदी पार करते हुए केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाएंगे' यह सुन कर गुरुमहाराज गंगा किनारे आ कर नाव मे बैठे। इतने मे पूर्वजन्म का वैरी कोई देव आ कर जिस तरफ गुरुमहाराज बैठे थे, उस तरफ के हिस्से को जल मे डूबोने लगा। अत गुरुमहाराज वहाँ से उठ कर नाव के मध्य मे बैठे। तब वह पूरी नाव को ही डूबोने लगा। उसे देख कर अनार्यलोगों ने विचार किया—'अरे ! इस साधु के कारण हम सब डूब मरेंगे।' ऐसा सोच कर सभी ने मिल कर आचार्य को उठा कर पानी मे फैंक दिया। उस समय उस देव ने आ कर उनके शरीर के नीचे त्रिशूल धारण करके रखा। उस त्रिशूल के कारण आचार्य अर्णिकापुत्र का सारा शरीर बिंध गया। उस समय अपने शरीर मे से निकलते खून को देख कर वे मन मे विचार करने लगे—'अरर ! मेरे इस खून से जल के जीवो की विराधना हो रही है।' इस प्रकार अनित्यभावना का चिन्तन करते-करते घातिकर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त कर आचार्यदेव

मोक्ष पधार गए। वहाँ देवों ने उनके शरीर की अन्त्येष्टि कर के महिमा की। इसके बाद लोगों ने यह अफवाह फैला दी कि 'जो गंगा में मरता है, वह तीर्थ मोक्ष प्राप्त करता है।' लोग उस स्थान को प्रयागतीर्थ के नाम से पुकारने लगे। इस प्रकार प्रयाग तीर्थ प्रसिद्ध हो गया।

जो अविकल तवसंजम व साहू करिज्ज पच्छावि ।

अन्नियसुयव्व सो नियगमट्ठमचिरेण साहेइ ॥१७१॥

शब्दार्थ—'जो वृद्धावस्था में भी प्रतिबोध प्राप्त करके अखंड तप संयम की साधना करता है, वह आचार्य अर्णिकापुत्र की तरह अपनी आत्मगुण की साधना का अर्थ शीघ्र ही अल्पकाल में सिद्ध कर लेता है।' अर्थात्—जो यौवनावस्था में विषयासक्त हो, किन्तु जिंदगी के अन्तिम समय में धर्माचरण कर लेता है, वह अपने आत्महित को सिद्ध कर सकता है।' यहाँ ऊपर की कथा में वर्णित अर्णिकापुत्र का बाकी रहा हुआ पूर्वजीवन का चारित्र-चित्रण कर रहे हैं—

अर्णिकापुत्र की कथा

उत्तरमथुरा नगरी में कामदेव और देवदत्त नाम के दो व्यापारी पुत्र रहते थे। उन दोनों में परस्पर गाढ़ मित्रता थी। वे एक दिन वे अपने माता पिता की आज्ञा ले कर व्यापार के लिये दक्षिणमथुरा में गये। वहाँ उनकी जयसिंह नामक एक वणिक्पुत्र के साथ मैत्री हो गई। जयसिंह के अर्णिका नाम की बहन थी। वह अतिरूपवती थी। एक दिन जयसिंह ने अपनी बहन अर्णिका से कहा—"बहन! आज तू बढ़िया रसोई बना। क्योंकि आज मेरे दो मित्र कामदेव और देवदत्त हमारे यहाँ भोजन करने के लिए आएँगे।" अतः अर्णिका ने उत्तम रसोई बनाई। भोजन के समय तीनों मित्र एक ही थाली

में साथ-साथ भोजन करने बैठे। अर्णिका ने उन्हें भोजन परोसा और उनके पास खड़ी हो कर वह कपड़े के पल्ले से हवा करने लगी। उस समय उस के हाथ के कंकणों की झंकार, उसके स्तन, उदर, कटि प्रदेश, नेत्र और मुख का हावभाव और विलास देख कर देवदत्त अत्यन्त कामातुर हो गया।' घी के बतन में जब अर्णिका का प्रतिबिंब देखा तो वह और भी अधिक काम विह्वल हो गया। भोजन अब उसके लिए विषतुल्य हो गया, अत: वह कुछ भी खाये बिना जल्दी से उठ गया।

दूसरे दिन उसने अपना अभिप्राय मित्र कामदेव के द्वारा जयसिंह को कहलवाया। तब जयसिंह ने कहा—"मित्र! अपनी यह बहन मुझे अतिप्रिय है और तुम तो परदेशी हो, इसलिये इसका वियोग मुझसे कैसे सहन होगा? अत: मैं अपनी बहन अर्णिका की शादी उसी के साथ कर सकता हूं, जो शादी करने के बाद मेरे घर पर ही रहे। देवदत्त के लिए इतनी रियायत कर सकता हूँ कि बहन के एक पुत्र होने तक वह यहीं निवास करे तो मैं अर्णिका का उसके साथ विवाह कर सकता हूं।" देवदत्त सारी बात मान गया और अर्णिका के साथ उसकी शादी हो गई। शादी के बाद उसके साथ मनोवांछित विषयसुखोपभोग करते हुए काफी समय व्यतीत किया। समय पा कर अर्णिका गर्भवती हुई।

एक समय उत्तर मथुरा से देवदत्त के पिता का पत्र आया जिसमें लिखा था—'पुत्र! तुम्हें परदेश गये बहुत समय हो गया है। इसलिये अब तुम जरा भी विलम्ब किये बिना जल्दी आ जाओ।" पिता का पत्र बारबार पढ़ने से पिता के प्रति उसे अनिर्वचनीय प्रेमभाव जागृत हुआ। देवदत्त मन में विचार करने लगा—'धिक्कार है मुझे! मैं विषयाभिलाषा के कारण यहाँ रहने के लिए वचनबद्ध हो गया और बूढ़े माता-पिता को छोड़ कर यहाँ पड़ा हूँ।' अपने पति

का भिन्न देख कर अर्णिका ने उसके हाथ से वह पत्र झपट कर ले लिया और उसे पढ़ कर उसने वास्तविकता का पता लगा लिया। और स्वयं श्वसुर से मिलने को उत्कंठित हुई। अर्णिका के अत्यन्त अनुरोध से भाई ने भी जाने की आज्ञा दे दी और अपने पति के साथ ससुराल चल पड़ी। मार्ग में पुत्र का जन्म हुआ। देवदत्त ने कहा— अभी इसका नाम अर्णिकापुत्र रखेंगे, बाद में मेरे माता पिता जो नाम रखेंगे वही मान्य करेंगे।' कुछ ही दिनों में वे दोनों घर पहुंचे और माता पिता के चरणों में नमस्कार किया। पुत्र को देख कर पिता को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने पूछा—"वत्स! इतने अर्से तक वहाँ रह कर तूने क्या प्राप्त किया?" तब देवदत्त ने अर्णिका से उसके पुत्र को पिता की गोद में बिठाया और अपनी पत्नी का पता कर कहा—'इतना प्राप्त कर मैं आया हूँ।" पौत्र और पुत्रवधू को देख कर माता-पिता बहुत खुश हुए। पिता ने अपने पौत्र का यथायोग्य नाम रखा, लेकिन वह अर्णिकापुत्र के नाम से ही विशेष प्रसिद्ध हुआ।

बचपन पार करके अर्णिकापुत्र जवान हुआ। परन्तु विषयों से विरक्त होने से वैराग्य परायण हो कर उसने चारित्र ग्रहण कर लिया। उसने आगमों का रहस्य जान कर अनेक भावों को प्रतिबोध दे कर आचार्यपद प्राप्त किया। बाद में वे साधुसमुदाय के सहित विहार करते हुए पुष्पभद्रनगर पधारे। उसके बाद जो घटना हुई वह उपर्युक्त पुष्पचूला की कथा में पहले आ चुकी है।

सुहिओ न चयइ भोए चयइ, जहा दुक्खिओत्ति अलियमिण।
चिक्कणकम्मोवलित्तो न इमो न इमो परिच्चयई ॥१७२॥

शब्दार्थ—'लोग कहते हैं कि जैसे दुःखी मनुष्य विषयभोग आदि का त्याग कर देता है, वैसे सुखी मनुष्य उसका सहसा त्याग नहीं

कर सकता; यह बात असत्य है। यह एकान्त नियम नहीं है। चिकने कर्मों से उपलिप्त व्यक्ति चाहे सुखी हो अथवा दुःखी; वह भोग को नहीं छोड़ सकता।' भोगों को छोड़ना सुखी या दुःखी मनुष्य के वस की बात नहीं है, परन्तु जो लघुकर्मा हो, वही विषय भोग आदि का त्याग कर सकता है।

जह चयइ चक्कवट्टी, पवित्थरं तत्तियं मुहुत्तेण।

न चयइ तहा अहन्नो, दुवुद्धी खप्पर दमग्रो ॥१७३॥

शब्दार्थ—'जैसे लघुकर्मा चक्रवर्ती क्षणमात्र में षट्खंड की राज्य-लक्ष्मी को छोड़ देता है, वैसे अपुण्यशाली दुर्बुद्धि निर्धन भिखारी गाढकर्मों से लिप्त होने के कारण भीख मांगने का अपना एक खप्पर भी नहीं छोड़ सकता।'

देहो पिपीलियाहिं, चिलाईपुत्तस्स चालणीव्व कत्रो।

तणुग्रो वि मणपउसो न चालिग्रो तेण ताणुवरिं ॥१७४॥

शब्दार्थ—'चींटियों ने चिलातिपुत्र का शरीर चालनी की तरह छिद्रों वाला बना दिया। फिर भी उन्होंने मन से जरा भी उन पर द्वेष नहीं किया और न अपने शुभध्यान से चलित हुए। ढाई दिन तक अखंड ध्यान रख कर वह मुनि स्वर्ग में पहुंचे। इसकी कथा ३८ वी गाथा में आ चुकी है।'

पाणच्चाए वि पावं, पिवीलियाए वि जे न इच्छंति।

ते कह जई अपावा, पावाइं करंति अन्नस्स ॥१७५॥

शब्दार्थ—'जो मुनि प्राणांत कष्ट देने वाली चींटियों पर क्रोध-बधादि पाप करने की इच्छा नहीं करते, वे निष्पाप मुनि अन्य मनुष्यों के प्रति पापकर्म का आचरण करेंगे ही कैसे? अर्थात्—वे दूसरों प्रतिकूल आचरण सर्वथा नहीं करते।'

भावार्थ—'दोषरहित मार्ग में चलने वाले महामुनि किसी को कभी भी परिताप 'पीड़ा' नहीं पहुँचाते। वे जब शरीर को चालनी जैसा छिद्रयुक्त बना देने वाली चींटियों का ज़रा भी विनाश नहीं चाहते, तब फिर अन्य जीवों का अहित तो कर ही कैसे सकते हैं? यही इस गाथा का तात्पर्य है।

जिणपह अपंडियाणं पाणहराणंपि पहरमाणाणं।

न करंति य पावाई पावस्स फलं वियाणंता ॥१७६॥

शब्दार्थ—'मुनि पाप का फल नरकादि है, ऐसा भलीभाँति जानते हैं, इसलिए जिनमार्ग से अनभिज्ञ, अधम, अज्ञानी, अविवेकी, पापी और परितापकारी लोग जो तलवार आदि से प्रहार करके प्राणों का हरण करते हैं, उनके प्रति भी द्वेष, रोष, वधादि पापकर्म वे नहीं करते।' अर्थात् उनके मारने का चिन्तनरूप पापकर्म भी वे नहीं करते, और न उनका द्रोह या अहित ही करते हैं।

वह-मारण अब्भक्खाणदाण परधणविलोवणाईणं।

सव्वजहन्नो उदओ दसगुणिओ इक्कसिकयाणं ॥१७७॥

शब्दार्थ—'एक बार किये हुए वध, लकड़ी आदि से किये गए प्रहार, प्राण के नाश करने, मिथ्या कलंक देने, दूसरे के धन का हरण करने या चोरी करने, किसी का ममस्पर्शी शब्द बोलने, गुप्त बात प्रगट करने वगैरह इन पापकर्मों का जघन्य (कम से कम) उदय हो तो दसगुना फल मिलता है।' अर्थात् एक बार जीव को मारने आदि से वह जीव उसे दस बार मारने आदि वाला होता है। मतलब है कि इन गुनाहों में से किसी भी गुनाह का सामान्य प्रतिफल दसगुना मिलता है।'

तिव्वयरे उ पओसे, सयगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो।

कोडाकोडिगुणो वा हुज्ज विवागो बहुतरो वा ॥१७८॥

शब्दार्थ—'परन्तु ऊपर बताए गए पाप तीव्रतर द्वेष से (अतिक्रोध आदिवश) किये जांए तो सौगुना विपाक (प्रतिफल) उदय मे आता है। उससे भी अधिक तीव्रतर द्वेष से क्रमश हजार गुना, लाख गुना, करोड़ गुना विपाक मे उदय आता है और उससे तीव्रतम अतिशय द्वेष-क्रोध आदि से या वधादिक पाप करने से कोटा-कोटीगुणा अथवा इससे भी अधिक विपाक उदय में आते है। अर्थात जैसे कषाय से कर्म बांधा होगा वैसा ही विपाक उदय मे आता है और उसे उतनी मात्रा में वह प्रतिफल भोगना ही पड़ता है।'

के इत्य करतालंबणं इमं तिहुयणस्स अच्छेरं ।

जह नियमासवियगी, मरुदेवी भगवई सिद्धा ॥१७६॥

शब्दार्थ—'कई भोले और स्थूलबुद्धि वाले लोग वधादि के प्रतिफल के बारे में तीनों लोक में आश्चर्यजनक इस खोटे आलम्बन को ले कर कहते हैं कि मरुदेवी माता ने कौन-सा तप-संयम का कष्ट उठा कर अपने अंगों को क्षीण किया था? फिर भी जैसे वे सिद्ध-गति पा गईं, पहले किसी भी प्रकार के धर्म का आचरण किए बिना ही श्रीऋषभदेव की माता श्रीभगवती मरुदेवी ने मोक्ष प्राप्त कर लिया था; वैसे ही हम भी वधादि के विपाक (प्रतिफल) का अनुभव किये बिना और तप-संयम आदि धर्मानुष्ठान किये बिना ही मोक्षपद प्राप्त कर लेंगे।'

भावार्थ—'ऐसा कह कर या ऐसा झूठा आलंबन ले कर धर्मसाधना में उपेक्षा करना, आत्मवंचना करना है, यह दृष्टांत तो एक आश्चर्य-भूत है। ऐसी निर्मल भावना आना भी कठिन है। मरुदेवी माता ने भी पूर्वजन्मों में बहुत धर्मध्यान, व्रताभ्यास किया था। बहुधा अभ्यास के योग से ही सिद्धि प्राप्त होती है। अतः वह अवलबन

ग्रहण करने योग्य नहीं है। यहाँ मरुदेवी माता की कथा दी जा रही है।

श्रीमरुदेवी माता की कथा

जब प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभस्वामी ने जैनेन्द्री मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली, तब भरत राजा राज्य का अधिकारी बना। भरत को हमेशा मरुदेवी माता उपालंभ दिया करती—'बेटा! तू राज्यसुख में इतना मोहित हो गया है, इसलिये मेरे पुत्र ऋषभ की तू कोई सारसंभाल नहीं लेता। मैंने लोगों के मुख से सुना है कि वह मेरा लाडला पुत्र एक वर्ष हुआ अन्न जल के बिना भूखा प्यासा और वस्त्ररहित हो कर अकेला जंगल में घूम रहा है, सर्दी, गर्मी, बरसात आदि सहन करता है और भी बहुत दुःखों का अनुभव करता है। इसलिये एक बार तू मेरे पुत्र को यहाँ ले आ, ताकि मैं उसे अपने हाथों से भोजन दे दूं और कम से कम एक बार अपने पुत्र का मुख तो देख लूं।' यह सुन कर भरत ने कहा—'माताजी! आप बिलकुल चिन्ता न करें। हम सब आप ही के तो पुत्र हैं।" माता ने कहा—"वत्स! तू जो कुछ कह रहा है, वह सत्य है, लेकिन आम खाने की चाह वाले मनुष्य को इमली से कैसे संतोष हो सकता है? इसलिये उस पुत्र ऋषभ के बिना यह सारा ही संसार मेरे लिये सूना है।" इस प्रकार नानीमा हमेशा उपालंभ देती रहती और पुत्र वियोग के कारण विलाप करती थी। अत्यधिक शोक के कारण मरुदेवी माता के नेत्रों पर जाला (पर्दा) आ गया। इसी में एक हजार वर्ष जितना लंबा समय बीत गया।

एक समय श्री ऋषभदेव-स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ; उस समय चौसठ इन्द्रों ने आ कर समवसरण की रचना और आयोजना की वनपालक ने आ कर भरतराजा को यह खुशखबरी सुना कर

बधाई दी। सुनते ही भरत राजा सहर्ष मरुदेवी माता के पास आए और उन्हें शुभखबरी सुनाते हुए बोले—"दादीमां ! आप मुझे हमेशा उपालंभ दिया करती थी कि मेरा पुत्र सर्दी-गर्मी आदि दुःख उठा रहा है और अकेला ही वन मे भ्रमण कर रहा है; तो आज आप मेरे साथ चल कर अपने पुत्र का वैभव और ठाठबाठ अपनी आंखो से देख लें। सुनते ही मरुदेवी माता पुत्रदर्शन के लिये अत्यन्त उत्सुक हुई। भरत महाराज ने उन्हें हाथी पर बिठाया। वे दोनों समवसरण की ओर चले। समवसरण के निकट पहुचते ही देवदुंदुभि का शब्द सुन कर मरुदेवी माता को प्रसन्नता हुई और देवदेवियो के मुंह से जय-जयकार के नारे सुन कर उसके हर्ष से रोंगटे खड़े हो गये आंखों में हर्ष के आंसू उमड आये। इसके कारण उनके नेत्रों पर आया हुआ जाला (पर्दा) खुल गया। अतः तीन गढ़ वाला समवसरण, अशोकवृक्ष तथा छत्र-चामर आदि सर्व वैभव उसने प्रत्यक्ष देखा। अनुपम प्रातिहार्य आदि की समृद्धि देख कर माता मन ही मन विचार करने लगी 'धिक्कार है इस संसार को ! और धिक्कार है ऐसे मोह को भी ! क्योंकि मैं यों समझती थी कि मेरा पुत्र अकेला जंगल मे भूखा-प्यासा भटक रहा होगा परन्तु इसने तो इतनी विशाल समृद्धि प्राप्त कर ली है। एक तो यह था कि इतना वैभव पाने पर भी इसने मुझे कभी संदेश तक नहीं भेजा; और एक मैं थी कि इस पर मोह के कारण हमेशा दुःखी रहा करती थी। इसलिये ऐसे एकतरफा कृत्रिमस्नेह को धिक्कार है ! कौन किसका पुत्र है और कौन किसकी माता है ? दुनियादारी के ये सारे स्वार्थी रिश्तेनाते हैं। वास्तव में संसार मे कोई किसी का नही है।" इस तरह अनित्य-भावना का चिन्तन करते घाति-कर्म का क्षय होने से मरुदेवी माता ने वहीं केवलज्ञान प्राप्त करके अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष प्राप्त कर लिया।" मरुदेवी माता ने सर्व-

प्रथम सिद्धगति (मुक्ति) प्राप्त की। देवों ने आ कर मरुदेवी माता के अनुपम गुणगान करके उनके मृत शरीर को क्षीर सागर में बहा दिया।

मरुदेवी माता के इस दृष्टान्त की ओट ले कर कई लोग ऐसा कहने लगते हैं कि 'तप संयम का अनुष्ठान किये बिना ही जैसे मरुदेवी माता ने सिद्धिपद प्राप्त किया था वैसे हम भी सिद्धिपद प्राप्त कर लेंगे। लेकिन ऐसे आलंबन की ओट लेना दीर्घदृष्टा व विवेकी पुरुषों के लिए योग्य नहीं है।'

> किं पि कहिंपि कयाई एगे लद्धीहिं केहिंवि निभेहिं।
>
> पत्तेयबुद्ध लाभा हवंति अच्छेरयब्भूया ॥१८०॥

शब्दार्थ—'कई प्रत्येकबुद्ध पुरुष किसी समय भी कहीं भी वृक्ष बैल आदि वस्तु को देख कर, तदावरणकारक कर्मों के क्षयोपशम से या लब्धि से या किसी भी निमित्त से विषयभोग से विरक्त हो कर तत्काल स्वतः प्रतिबुद्ध हो कर स्वयमेव दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। वे प्रत्येक बुद्ध जो अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं यह तो आश्चर्यभूत है। यानी ऐसे नमूने तो विरले ही मिलते हैं। इसलिये ऐसे आलंबन की ओट में आत्मसाधना के प्रति उपेक्षा करना उचित नहीं है। बल्कि विशेष सावधान हो कर धर्माचरण में प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इस जन्म में बोये हुए उत्तम धर्मबीज का ही भविष्य में (अगले जन्म में) उत्तमफल प्राप्त हो सकता है। अतः कोई भी बहाना बना कर धर्मानुष्ठान में प्रमाद करना किसी भी हालत में उचित नहीं है।'

> निहिं संपत्तमहन्नो पत्थिन्तो जह जणो निरुत्तप्पो।
>
> इह नासइ तह पत्तेय बुद्धलच्छि पडिच्छन्तो ॥१८१॥

शब्दार्थ—'जैसे किसी निर्धन मनुष्य को अचानक रत्नादि का निधान मिल जाने पर वह प्रमाद के वश हो कर पुरुषार्थ नहीं करता तो उस निधि का भी नाश कर देता है। वैसे प्रत्येकबुद्ध की लब्धि की इच्छा करने वाला पुरुष भी तप-संयम आदि त्याग-बलिदान की क्रिया नहीं करता; अर्थात् प्रमाद में पड़ कर धर्माचरण को छोड़ देता है तो वह मोक्षरूपनिधान को नष्ट कर देता है। वह लब्धियों (सिद्धियों) के चक्कर में पड़ कर कदापि आत्महित नहीं कर सकता।'

सोऊण गई सुकुमालियाए, तह ससगभसगभयणीए।
ताव न विससीयव्व, सेयट्ठी धम्मीओ जीव ॥१८२॥

शब्दार्थ—'ससक और भसक नाम के दोनों भाइयों की बहन सुकुमालिका की क्या हालत हुई ?' इसे सुन कर चाहे शरीर में खून और मांस सूख जाय और हड्डियाँ सफेद हो जांय; फिर भी मोक्षार्थी श्रेयस्कामी धार्मिक साधुओं को विषयादि का विश्वास नहीं करना चाहिये।' प्रसंगवश यहाँ सुकुमालिका की कथा दे रहे हैं—

सुकुमालिका का दृष्टान्त

वसंतपुर नगर में सिंहसेन राजा राज्य करता था। उसकी सिंहला नाम की रानी थी। उस रानी की कुक्षि से ससक और भसक नामक दो पुत्र हुये। वे दोनों हजार-हजार योद्धाओं को पराजित कर सकने वाले बलवान थे। उन दोनों की सुकुमालिका नाम की अत्यन्त रूपवती एक बहन थी। एक समय किसी आचार्य का अनुपम अमृत-रसपूर्ण धर्मोपदेश सुन कर विरक्त ससक और भसक ने चारित्र अंगीकार कर लिया। आगे चल कर वे दोनों गीतार्थ मुनि हुए। उन्होंने अपने संसारपक्ष के नगर में जा कर अपनी बहन सुकुमालिका को प्रतिबोध दिया। इस कारण उसने भी विरक्त हो कर चारित्र

ले लिया। तत्पश्चात् वह साध्वीजी के पास रह कर आतापना के सहित छट्ठ अट्ठम (दो तीन उपवास) आदि तप करती रहती थी। ऐसा करके वह अपने अनुपम सौंदर्य व आकर्षण और गर्व को नष्ट करना चाहती थी। इसके बावजूद भी उसके अनुपमरूप से आकर्षित हो कर कई रूपलोलुप कामी भौंरे वहाँ हर समय मंडराते रहते थे, कई तो सामने ही बैठ रहते थे और अपनी विषयवासना उसके सामने प्रगट करते थे। यह देख कर अन्य साध्वियों ने सुकुमालिका साध्वी को उपाश्रय के अन्दर ही बिठाए रखनी बाहर जाने नहीं देती थीं। फिर भी उसके रूप से मोहित हो कर कुछ कामी पुरुष उपाश्रय के द्वार पर आ कर डट जाते और उसका मुख देखने की लालसा से उन्मत्त के समान घूमते और गूमते रहते। इससे तंग आ कर साध्वियों ने आचार्य महाराज से निवेदन किया—'गुरुदेव! इस सुकुमालिका के सच्चरित्र की रक्षा करने में हम लाचार हैं। हमने बहुतेरे उपाय कर लिए, फिर भी रूपलोलुप कामी जवान उपाश्रय में आ कर उपद्रव मचाते हैं, आवाजें कसते हैं। हमने उन्हें बहुत रोका, लेकिन वे मानते ही नहीं। अब बताइए, हम क्या करें?" यह सुन कर आचार्यश्रीजी ने सुकुमालिका के भाई मुनि ससक और भसक को बुला कर कहा—'वत्स! तुम साध्वियों के उपाश्रय में जाओ और अपनी साध्वीबहन की रक्षा करो। शीलपालन में उसकी सहायता करने से तुम्हें महान् लाभ होगा।' इस तरह गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके वे दोनों मुनिभ्राता वहाँ जा कर साध्वीबहन की रक्षा करने लगे। उनमें से एक तो निरन्तर उपाश्रय के दरवाजे पर बैठा रहता और दूसरा गोचरी आदि के लिए जाता था।

एक दिन रूपलोलुप जवानों के साथ उनकी लड़ाई हो गई। यह देख कर साध्वी सुकुमालिका ने विचार किया—'धिक्कार है मेरे

रूप को; जिसके कारण मेरे भाई अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन आदि छोड़ कर मेरे लिए इतना क्लेश सहन करना पड़ता है।' अत इस रूप को ही सर्वथा खत्म करने के लिए अब मैं अनशन कर लूं। इसी शरीर के लिये ये कामी पुरुष बेचैन होते है, जब इस शरीर का ही त्याग कर दूंगी तो यह झंझट ही खत्म हो जायगा।' यों सोच कर सुकुमालिका ने अनशन अंगीकार कर लिया। जैसे मालती का पुष्प थोड़े ही दिनों मे मुर्झा जाता है, वैसे ही उसका शरीर भी कुछ ही दिनों मे मुर्झा गया और एक दिन श्वास के रुक जाने से उसे मूर्च्छा आ गई। मूर्च्छा के कारण उसके भाइयो ने उसे मृत समझ कर गाँव के बाहर वन की भूमि मे जा कर परिष्ठापन कर (डाल) दिया। संयोगवश वन की ठडी-ठडी हवा लगने से सुकुमालिका मे चेतना आई। बेहोशी दूर हो गई। उसने खड़े हो कर चारों तरफ देखा कि 'मैं यहाँ इस अज्ञातस्थल मे कैसे आ गई?' इतने मे वहाँ एक सार्थवाह आ पहुचा। उसके नौकर जल और लकड़ियों के लिये जंगल मे घूम रहे थे। वे उसे वनदेवी समझ कर प्रार्थना करके सार्थवाह के पास ले आए। सार्थवाह ने भी उसके शरीर मे स्त्रियों से तैल की मालिश आदि करवाई और योग्य भोजनादि कराया; जिससे वह पुन स्वस्थ और सशक्त हुई। एक तरह से उसने फिर नई जवानी पाई। किन्तु उसका यौवन और रूप फिर उसके लिए खतरनाक बना। वह सार्थवाह उसके रूप और यौवन से मोहित हो गया। उसने कहा—"सुन्दरी! तुम्हारा यह सुन्दर शरीर विषयसुखो के उपभोग के लिए है। नही तो, यह यो ही नष्ट हो जायगा, इससे क्या फायदा? यदि तुम्हारी विषयसुख के स्वाद मे अरुचि हो तो फिर विधि ने ऐसा अनुपम रूप क्यों बनाया? कमलनयने! तुम्हे देखने के बाद मुझे दूसरी स्त्री अच्छी नही लगती। जैसे कल्पलता को चाहने वाला भौंरा दूसरी

लता को बिलकुल नहीं चाहता। वैसे ही तुम्हारे रूप से मेरे सरीखे व्यक्ति का मन मोहित हो गया है, इसलिए दूसरी कोई स्त्री मुझे बढ़िया नहीं लगती। इसलिये मुझ पर कृपा करो और कामदेवरूपी समुद्र में डूबे हुए इस प्रेमी का उद्धार।' सार्थवाह के ये वचन सुन कर सुकुमालिका ने विचार किया—'इस संसार में कर्म की लीला बड़ी विचित्र है। विधाता के अकल्प्य विधान को कौन समझ सकता है?' कहा भी है—

'अघटितघटितानि घटयति सुघटितघटितानि जर्जरीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति॥'

'विधाता ही अघटित (अयोग्य) घटनाओं को घटित करके बता देता है और जो सुघटित (अच्छी तरह बनी हुई) घटनाएं हैं, उन्हें तितरबितर कर देता है। मनुष्य जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ऐसी घटनाएँ विधि घटित कर देता है।' "यदि विधाता की ये चेष्टाए संभव न होतीं तो मेरे भाई मुझे मरी हुई समझ कर जंगल में क्यों छोड़ जाते? और इस सार्थवाह के साथ सम्पर्क भी कैसे होता? इसलिये मालूम होता है, अभी तक कुछ भोग्य वली कर्म मुझे भोगने बाकी हैं। साथ ही यह सार्थवाह भी मेरा महान् उपकारी है। इसलिये मेरे संगम के अभिलाषी इस सार्थवाह की भावना पूर्ण करूं।" ऐसा विचार कर सुकुमालिका सार्थवाह के चरणों में पड़ी और हाथ जोड़ कर बोली—'स्वामिन्! मेरा यह शरीर आपके चरणों में समर्पित है। आप इसे स्वीकार करो और अपना यथेष्ट मनोरथ पूर्ण करो।" यह सुन कर सार्थवाह बड़ा खुश हुआ और उसे अपने नगर में ले आया। उसे एक महल दे दिया और आनन्द से विषयसुखों का उपभोग करते हुए जिंदगी बिताने लगा।

काफी अर्से के बाद एक बार विहार करते हुये ससक और भसक मुनि उसी नगर मे आये। उन्होंने आहार के लिये नगर मे प्रवेश किया। भिक्षा के लिए घूमते हुए वे दोनों क्रमयोग से सुकुमालिका के ही घर धर्मलाभ देने पहुच गए। सुकुमालिका ने तो अपने भाइयों को मुनिरूप मे देखते ही पहचान लिया, परन्तु मुनिभ्राताओं ने उसे अच्छी तरह से नहीं पहिचाना। अत वे उसके सामने ताक-ताक कर देखने लगे। तब सुकुमालिका ने पूछा—'मुनिवर! आप मेरी ओर टकटकी लगाए क्यों देख रहे हैं?' वे बोले—"तुम जैसी आकृति और रूप वाली पहले हमारी एक बहन थी।" सुनते ही सुकुमालिका की आँखों से आंसू उमड पड़े। उसने रोते-रोते अपनी सारी आपबीती भाइयों को सुनाई। भाइयों ने सार्थवाह को कुछदिन तक समझा कर प्रतिबोधित करके सुकुमालिका को गृहवास से मुक्त कराया और फिर से साध्वी-दीक्षा दी। साध्वी सुकुमालिका भी शुद्ध निरतिचार चारित्र की आराधना करके अन्त मे शुद्ध आलोचनापूर्वक मर कर स्वर्ग मे पहुची।

सुकुमालिका की इस कथा से यही प्रेरणा मिलती है कि अत्यन्त धर्मिष्ठ व्यक्ति को भी विषय-विकार पर भरोसा नहीं करना चाहिये। और यह भी कदापि नही सोचना चाहिए कि "मैं वृद्धावस्था से जीर्ण हो गया हू, अब विषय-विकार मुझे क्या सतायेंगे?" साधुपुरुषों को विषय-विकारो से सदैव सावधान रहना चाहिये, ताकि बाद मे पश्चात्ताप न करना पड़े।

खरकरहतुरयवसहा, मत्तगयदा वि नाम दम्माति।

इक्को नवरि न दम्मइ, निरकुसो अप्पणो अप्पा ॥१८३॥

शब्दार्थ—'गधा, ऊँट, घोडा, बैल और मदोन्मत्त हाथी को भी युक्ति-पूर्वक वश किया जा सकता है, मगर वश में नहीं किया जा

दूसरों के द्वारा दमन किये जाने की अपेक्षा स्वयं आत्मदमन श्रेष्ठ है

सकता है तो एक निरंकुश स्वेच्छाचारी अपनी आत्मा का ही।' आत्मा को ही नियंत्रित (दमन) करना यही सर्वश्रेष्ठ है।'

वर मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।

माहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहि य ॥१८४॥

शब्दार्थ—'मैं स्वच्छन्दाचारी और असंयमी बन कर कुमार्ग में पड़ कर दूसरों के द्वारा रस्सी आदि बन्धनों और लकड़ी, चाबुक आदि के प्रहारों से काबू (दमित या नियंत्रित) किया जाऊं; इससे तो बेहतर यही है कि मैं अपने आप (आत्मा) का संयम और तप के द्वारा स्वयं वश (दमन) करके रखूं।'

भावार्थ—'जो अपनी आत्मा का तप-संयम से नियंत्रित नहीं करता, बेलगाम रहता है, वह दूसरों (दण्डशक्ति आदि) के द्वारा अवश्य दमन किया जा कर दुःखी होता है।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।

अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य ॥१८५॥

शब्दार्थ—'आत्मा का अवश्य ही दमन करना चाहिए। अपनी आत्मा (इन्द्रियों, मन, बुद्धि का) दमन (वश में) करना बहुत ही कठिन है। जिसने अपनी आत्मा का दमन (वश) कर लिया, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।' ये दोनों ही गाथा उत्तराध्ययन सूत्र में आई हैं।'

निच्चं दोससहगओ, जीवो अविरहियमसुहपरिणामो।

नवरं दिन्ने पसरे तो देइ पमाय मयरेसु ॥१८६॥

शब्दार्थ—'नित्य रागादि दोषों से लिपटा हुआ जीव आत्मा निरंतर अशुभ परिणामों से भरा रहता है। इस आत्मा को निरंकुश छोड़ दिया जाय तो वह इस संसार सागर में लोकविरुद्ध और

आगमविरुद्ध कार्यों में पड़ कर विषय-कषायादि प्रमादों से अपनी बहुत हानि करता है। मतलब है कि राग-द्वेष और प्रमाद से इस आत्मा का शीघ्र पतन होते देर नहीं लगती।'

अच्चिय-वंदिय-पूइय-सक्कारिय-पणमिओमहग्घविओ।
तं तह करेइ जीवो, पाडेइ जहऽप्पणो ठाणं ॥१८७॥

शब्दार्थ—'साधक की चाहे किसी ने (गुणग्राहक दृष्टि से) पूजा की हो, अथवा सुगंधित द्रव्य से व अलंकारों से उसका सत्कार किया हो। अनेक लोगों ने उसकी गुण-गाथा (स्तुति) गाई हो, या वन्दन किया हो। उसके स्वागत में खड़े होकर विनयपूर्वक सम्मान किया हो या मस्तक झुका कर नमस्कार किया हो, अथवा आचार्य आदि पदवी दे कर उसका गौरव (महत्त्व) बढ़ाया हो; फिर भी वह साधक अपनी मूढ़ता, अहंकार या प्रमाद के चक्कर में पड़ कर किसी अकार्य को कर बैठता है तो अपने महत्त्वपूर्ण स्थान को ही खो देता है। यानी थोड़े-से सुख के लिए बाह्य आडम्बर, प्रदर्शन या खानपान, मान-सम्मान के चक्कर में पड़ कर महान् वास्तविक सुख को ही खत्म कर देता है।'

सीलव्वयाइं जो बहुफलाइं, हंतूण य सुक्खमहिलसइ।
धीइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणिं किणइ ॥१८८॥

शब्दार्थ—'शील, व्रत आदि का आचरण स्वर्ग, मोक्ष आदि महान् फलों को देने वाला है। परन्तु धैर्य रखने में कमजोर व असंतोषी तपस्वी शील-व्रतों को भंग करके विषय-सेवनरूप सुख की अभिलाषा करता है; वह मूर्ख अपनी दुर्बुद्धि-वश करोड़ों का द्रव्य दे कर बदले में रुपये के ८० वें हिस्से के रूप में काकिणीपत्थर को खरीदता है।'

जीवो जहामणसियं हियइच्छियपत्थिएहिं सुक्खेहिं।
तोसेऊण न तीरई जावज्जीवेण सव्वेण ॥१८९॥

शब्दार्थ—'संसारी जीव को उसके मन की अभिलाषा के अनुरूप अथवा दिल में चिन्तित या प्रार्थित स्त्री आदि के सुखों से सारी जिंदगी तक संतुष्ट किया जाय; फिर भी उसका संतुष्टि या तृप्ति नहीं होती। उलटी तृष्णा की वृद्धि होती जाती है।'

सुमिणंतराणुभूयं सुक्खं समइच्छियं जहा नत्थि।

एवमिमं पि अईयं सुक्खं, सुमिणोवमं होई ॥१६०॥

शब्दार्थ—'जैसे स्वप्न अवस्था में अनुभव किया हुआ सुख जागृत अवस्था में बिलकुल नहीं रहता। वैसे ही भूतकाल में प्रत्यक्ष अनुभव किया हुआ विषयसुख भी वर्तमानकाल में उसी स्वप्न के सुख के समान हो जाता है। अतः समस्त विषयसुखों को तुच्छ, कल्पित और क्षणिक मान कर वैराग्यपूर्वक आत्मदमन करना ही सर्वथा उचित है।'

पुरनिद्धमणे जक्खो महुरा मंगू तहेव सुयनिहसो।

बोहेइ सुविहियजणं, विसूरइ बहुं च हियएण॥१६१॥

शब्दार्थ—'आगम सिद्धान्त की परीक्षा में कसौटी के पत्थर के समान यानी बहुश्रुत मंगू नाम के आचार्य मथुरा नगरी में गन्दे नाले के पास वाले यक्षमन्दिर में यक्षरूप में उत्पन्न हुए। किन्तु अपने सुविहित साधुजन (शिष्यगण) को प्रतिबोध करते समय हृदय में अत्यन्त शोक करते थे।' इसका सम्बन्ध अगली गाथा से है। यहाँ प्रसंगवश मंगू आचार्य की कथा दे रहे हैं—

मंगू आचार्य की कथा

एक बार आगमशास्त्ररूपी समुद्र के पारगामी, युगप्रधान श्रीमंगू नाम के आचार्य मथुरा नगरी में पधारे। नगरी में बहुत से धनाढ्य श्रावक रहते थे। वे साधुओं की अत्यन्त सेवा-भक्ति किया करते थे।

इस कारण आचार्य महाराज की भी वे बहुत सेवा करने लगे। आचार्यश्रीजी भी वहीं रह कर पठन-पाठन और व्याख्यान आदि करते थे। इस कारण उन्होंने अपने व्याख्यान आदि से श्रावकों के चित्त पर ऐसा जादू कर दिया कि वे इन आचार्य की गाढ सेवा-भक्ति करने लगे। वे जानते थे कि इन आचार्य भगवान को आहार आदि का दान करने से हम भव से पार होंगे। अत रागवश वहाँ के श्रावक मिष्टान्न और स्वादिष्ट सुन्दर आहार देने लगे। आचार्य के मन मे भी ऐसा आहार मिलने से रसलोलुपता जागी, और वे मन ही मन विचार करने लगे—'विहार करके अन्य स्थान पर जहां कहीं भी जायेगे तो वहां कहाँ ऐसा सरस आहार मिलेगा? यहां के श्रावक भी मेरे प्रति विशेष भक्ति रखते ही है। इसलिये अब हमे यहीं जमे रहना ठीक है।' ऐसा सोच कर वे आचार्य वहीं एक ही स्थान पर रहने लगे। न श्रावकों ने रागमोहवश उनसे कुछ कहा और न साधुओं ने ही विहार की बात छेड़ी।

धीरे-धीरे गृहस्थों के साथ उनका परिचय गाढ़ होता गया। मिष्टान्न और गरिष्ठ भोजन करने से, कोमल गुदगुदाती शय्या पर शयन करने से, और सुन्दर उपाश्रय मे रहने से वे आचार्य रस-लुब्ध हो गये। अब उन्होंने आवश्यक आदि नित्य क्रियाएं भी छोड़ दी। उलटे मन मे वे अहंकार करने लगे कि मेरे तप, त्याग, व्याख्यानादि से आकर्षित हो कर 'मुझे श्रावक कितना स्वादिष्ट भोजन देते है?' यों अहंकारवश रसगौरव (स्वादिष्ट वस्तुप्राप्ति का गर्व) करने लगे। फिर क्रमशः तीनों गौरवों (गर्वों) मे निमग्न हो कर वे सारे जगत् को तृणसमान मानने लगे, मूलगुणो में भी समय-समय पर दोष लगाने से शिथिल हो गये। और इस तरह चिरकाल तक अति-चारादि से दूषित चारित्र पालन कर और अन्तिम समय मे उसका प्रायश्चित्त किये बिना ही मर कर वे उसी नगरी के गन्दे नाले के पास

यक्षमंदिर मे यक्षरूप मे उत्पन्न हुए। वहाँ जब उन्होंने विभंगज्ञान से अपना पूर्वजन्म देखा तो बड़ा पश्चात्ताप करने लगे—'हाय ! मैंने मूर्खतावश जिह्वा के स्वाद मे लुब्ध हो कर ऐसे कुदेव के रूप मे जन्म पाया है।' एक दिन स्थंडिलभूमि जा कर लौटते हुए अपने शिष्यों को देख कर यक्ष उनका लक्ष्य करके अपनी जीभ मुख से बाहर निकाल कर दिखाने लगे। यह देख कर उन सब शिष्यों ने दिल मजबूत करके उससे पूछा कि 'यक्षराज ! आप कौन हैं ? और किस लिये और क्यों अपनी जीभ बार बार बाहर निकाल रहे हैं ?" यक्ष ने कहा—"मैं तुम्हारा गुरु मगू नाम का आचार्य हूँ। जिह्वा के स्वाद के वशीभूत हो कर मैं इसी अपवित्र देवयोनि में जन्मा हूँ।' मैंने गृहस्थ का त्याग करके चारित्र ले कर भी श्रीजिनेश्वरदेवकथित धर्म की शुद्ध रूप मे आराधना नहीं की, और तीनों गौरवों से आत्मा को मलिन बनाई। चारित्र की शिथिलता मे सारी आयु बिता दी। अब कुछ नहीं सूझता कि मैं अधन्य, पुण्यरहित और विरतिरहित क्या करूँ ? इस जन्म मे तो मैं चारित्रपालन करने मे असमर्थ हूँ। इसलिए मैं अपनी आत्मा के बारे मे सोच सोच कर चिन्तित हो उठता हूँ कि वीतराग का उत्तम मुनिधर्म प्राप्त होने पर भी उसका सम्यक् प्रकार से पालन नहीं किया, इस कारण चिरकाल तक संसार मे परिभ्रमण करना पड़ेगा। इसलिए साधुओ ! मैं आपको अपनी जीभ बाहर निकाल कर चेतावनी दे रहा हूँ कि आपने जिनेन्द्रदेव के मुनिधर्म को प्राप्त किया है। इसलिए मेरी तरह रसलोलुप न होना। यदि रसलुब्ध बन कर चारित्र के प्रति उपेक्षा कर दी तो आपको भी मेरी तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा।" इस तरह अपने पूर्वजन्म के शिष्यों को उपदेश दे कर वह यक्ष अदृश्य हो गया। उन साधुओं ने इस बात से नसीहत ले कर शुद्ध चारित्र की आराधना की और सद्गति मे पहुँचे।

इस कथा को सुन कर सभी को जिह्वा के स्वाद का त्याग करना चाहिये। वह यक्ष किस तरह शोकातुर हुआ था? यह बात अब इस नीचे की गाथा में बता रहे हैं—

निग्गंतूण घराश्रो, न कश्रो धम्मो मए जिणक्खाश्रो।
इड्ढिरससायगुरुयत्तणेण, न य चेइश्रो श्रप्पा ॥१६२॥

शब्दार्थ—'हा! मैंने गृहस्थ का त्याग करके चारित्र अंगीकार किया परन्तु सुन्दर आवास, वस्त्र आदि ऋद्धि की प्राप्ति से ऋद्धि गौरव (गर्व) स्वादिष्ट भोजन आदि के रस प्राप्त होने से रसगौरव और कोमल शय्यादिक के सुख से साता गौरव, इस तरह तीनों गर्वों के चक्कर में पड कर मैंने श्री जिनेश्वर भगवान् द्वारा उक्त धर्म की आराधना नहीं की और न मैंने अपनी आत्मा को सावधान ही किया। इसलिए आज मेरी ऐसी दशा हुई है। अतः आप सभी साधु सावधान हो कर संयम का पालन करना।'

श्रोसन्नविहारेणं, हा जह झीणंमि श्राउए सव्वे।
किं काहामि श्रहन्नो, संपइ सोयामि श्रप्पाणं ॥१६३॥

शब्दार्थ—'अफसोस है, मेरी सारी आयु चारित्र-पालन की शिथिलता (प्रमाद, असावधानी आदि) में बीत क्षीण हो गई; अब मैं अभागा धर्मरूपसम्बन्ध के बिना क्या करूं? अब (उम्र पक जाने पर) मैं आत्मा के बारे में चिन्ता कर रहा हूँ। परन्तु अब शोक करने मात्र से क्या होगा?'

हा जीव पाव भमिहिसि, जाई जोणीसयाइं बहुयाइं।
भवसयसहस्सदुल्लहंपि, जिणमयं एरिसं लद्धुं ॥१६४॥

शब्दार्थ—'अरे पापी जीव! लाखों जन्मों में भी अतिदुर्लभ और अचिंत्य चिंतामणि के समान श्रीजिनकथित धर्म को प्राप्त करके

भी स्वच्छंदता के कारण उसकी आराधना नहीं की इसलिए मुझ एकेन्द्रियादि अनेक जातियों और शीतोष्णादि अनेक योनियों में सैकड़ों बार परिभ्रमण करना पड़ेगा।'

पावो पमायवसओ जीवो संसारकज्जमुज्जुत्तो।

दुक्खेहिं न निविण्णो, सुक्खेहिं न चेव परितुट्ठो ॥१६५॥

शब्दार्थ—'यह पापी जीव विषय-कषायादि प्रमाद के वश हो कर संसारिक कार्यों में सदा उद्यमी रहा, और उनमें उसे विविध प्रकार के संयोग वियोग अथवा जन्म मरण के दुःख भी उठाने पड़े, लेकिन इन दुःखों के बावजूद भी उसे उनसे निर्वेद (वैराग्य) नहीं हुआ। और न इन्द्रिय-सुखों को पा कर भी वह संतुष्ट हुआ।'

भावार्थ—'इनके कारण वह जितना-जितना दुःख प्राप्त करता है उतना उतना पापकर्म अधिक करता जाता है और इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से भी सन्तुष्ट नहीं होता, क्योंकि ज्यों ज्यों उसे विषय सुख मिलता है, त्यों त्यों वह नय नय सुख की चाह करता जाता है। परन्तु परमानंदकारी अतीन्द्रिय सुखदायी मोक्ष की साधना से विमुख ही रहता है।'

परितप्पिएण तणुओ, साहारो जइ घणं न उज्जमइ।

सेणियराया त तह, परितप्पतो गओ नरय ॥१६६॥

शब्दार्थ—'यदि स्वतत्रता से तप संयम आदि की आराधना में विशेषरूप से उद्यम न किया जाता है तो बाद में उसे पापकर्म की निन्दा और पश्चात्ताप आदि से विशेष लाभ नहीं होता। वह लघुकर्मों का क्षय जरूर कर सकता है, परन्तु महाकर्मों का नहीं। जैसे श्रेणिक राजा भी अन्तिम समय में पश्चात्ताप करता रहा कि 'हाय! मैंने चारित्र अंगीकार नहीं किया।' फिर भी वह नरकगति में पहुंचा। इसलिये पश्चात्ताप से स्वल्प कर्मों का ही क्षय होता है।'

जीवेण जाणि विसज्जियाणि, जाईसएसु देहाणि।

थोवेहि तओ सयलं पि, तिहुयणं हुज्ज पडिहत्थं ॥१९७॥

शब्दार्थ—'विभिन्न अगणित योनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव ने एकेन्द्रियादि सैकड़ों जातियों में शरीर को ग्रहण करके पहले के जितने शरीरों को छोड़ा है, उन सारे त्यक्त शरीरों के अनंतवें भाग से भी तीनों जगत (चौदह राजलोक) संपूर्ण भर जाते हैं तो सारे शरीरों की गिनती का तो कहना ही क्या? फिर भी जीव को (जन्म-मरण के चक्र से) संताप नहीं होता।'

नह-दंतमंसकेसट्ठिएसु, जीवेण विप्पमुक्केसु।

तेसु वि हविज्ज कइलासमेरुगिरिसन्निभा कुडा ॥१९८॥

शब्दार्थ—'पूर्वजन्मों में ग्रहण करके जीव के द्वारा छोड़े हुए नखों, दांतों, मांस, बालों और हड्डियों का हिसाब लगाए तो कैलाश (हिमवान) मेरु आदि अनेक पर्वतों के समान अनंत ढ़ेर हो जांय, क्योंकि उनका भी कोई अन्त नहीं है।'

हिमवंतमलयमंदरदीवोदहिधरणिसरिसरासीओ।

अहिअयरो आहारो, छुहिएणाहारिओ होज्जा ॥१९९॥

शब्दार्थ—'संसार-समुद्र मे परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अब तक इतना आहार किया है कि उसका हिसाब लगाएं तो हिमवान पर्वत, मलयाचल पर्वत, मेरुपर्वत, जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप, लवण-समुद्र आदि असंख्य समुद्र और रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ, आदि कुल मिला कर इनके समान बड़े २ ढ़ेर कर दे तो इनसे भी अधिक आहार भक्षण किया है। अर्थात् एक जीव ने अनंत पुद्गल-द्रव्यों का भक्षण किया है फिर भी उसकी क्षुधा शांत नहीं हुई।'

जन्नेन जल पीयं धम्मायवजगडिएण त पि इह ।
सव्वेसु वि अगड-तलाय नई-समुद्देसु न वि हुज्जा ॥२००॥

शब्दार्थ—'ग्रीष्म ऋतु की धूप से पीडित इस जीव ने इतना जल पीया है कि उसका हिसाब लगायें तो इतना जल सभी कुओं, तालाबों, गंगा आदि सभी नदियों और लवणादि सारे समुद्रों में भी न हो। अर्थात् एक जीव ने आज तक जितना जल पिया है कि वह सब जलाशयों के जल से भी अनंत गुना है।

पीयं थणय-छीरं सागरसलिलाओ होज्ज बहुययरं ।
संसारंमि अणंते, माऊणं अन्नमन्नाणं ॥२०१॥

शब्दार्थ—'इस जीव ने इस अनन्त संसार में बचपन में भिन्न-भिन्न माताओं के स्तनों का दूध इतना पीया है कि जिसका हिसाब लगाया जाय तो समस्त समुद्रों के जल से भी अनंतगुना दूध हो जाय। मतलब यह है कि एक जीव ने अलग अलग नये नये शरीर धारण करके अलग-अलग माताओं का दूध सारे समुद्रों से अनन्त गुना पीया है।'

पत्ता य कामभोगा कालमणंतं इह सउवभोगा ।
अपुव्वंपि व मन्नई, तहवि य जीवो मणे सुक्खं ॥२०२॥

शब्दार्थ—'इस संसार में अनंतकाल तक जीव ने घर स्त्री वस्त्र अलंकार आदि उपभोग्य पदार्थों सहित कामभोग अनंतबार प्राप्त किये हैं; फिर भी यह जीव अज्ञानवश अपने मन में उस विषयादि सुखों को अपूर्व व एकदम नये मानता है।'

जाणइ जहा भोगिड्ढिसंपया सव्वमेव धम्मफलं ।
तहवि दढमूढहियओ, पावे कम्मे जणो रमई ॥२०३॥

शब्दार्थ—'यह जीव जानता है और प्रत्यक्ष देखता भी है कि

इन्द्रियों से उत्पन्न सुख, राजलक्ष्मी और धन-धान्य आदि की संपदाएँ यह सब धर्म के ही फल हैं। धर्माचरण के बीज होने से यह सारे साधनरूपी फल मिले हैं। फिर भी अत्यन्त वज्र-हृदय मूढ़ हो कर जान बूझकर जीव पापकर्म में रमण करता है।'

जाणिज्जइ चिंतिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं।

न य विसएसु विरज्जई अहो सुबद्धो कवडगंठी ॥२०४॥

शब्दार्थ—'जन्म, जरा और मृत्यु से होने वाले दुःखों को यह जीव गुरुमहाराज के उपदेश सुन कर जानता है और मन में चिन्तन भी करता है। फिर भी यह जीव विषयों से विरक्त नहीं होता। खेद है, निरटमहामोहान्धता के कारण कैसी मजबूत गांठ से जकड़ा हुआ है। किसी प्रकार भी वह मोह क गांठ ढीली नहीं होती कोई विरला मोक्षगामी जीव ही संतोषवृत्ति धारण करता है।'

जाणइ य जह मरिज्जइ, अमरंतं पि जरा विणासेई।

न य उव्विग्गो लोओ, अहो रहस्सं सुनिम्मायं ॥२०५॥

शब्दार्थ—'यह जीव जानता है कि सभी जीव को अपनी-अपनी आयु समाप्त होते ही अवश्य मरना है और फिर वृद्धावस्था नहीं मरे हुए जीव को भी मार डालती है। फिर भी लोग जन्म-मरण के चक्र से उद्विग्न (भयभीत) नहीं होते, उन्हें संसार से विरक्ति होती ही नहीं। 'महान् आश्चर्य है कि मोह का कितना गूढ़ रहस्यमय चरित्र है कि जीव को वह मिथ्याभ्रम में डाल कर पाप में लिप्त कर देता है।'

दुप्पयं चउप्पयं बहुपयं च अपयं समिद्ध-माहणं वा।

अणवकए वि कयंतो हरइ हयासो अपरिसंतो ॥२०६॥

शब्दार्थ—'मनुष्य आदि दो पैर वाले, गाय, भैंस आदि चार

पैर वाले, भौंरा आदि बहुत पैर वाले, सर्प आदि पैर रहित तथा धनवान, निर्धन अथवा पंडित और मूर्ख आदि सभी को बिना ही किसी अपराध के मृत्यु बिना थके या हताश हुए मार डालती है। मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती।'

न य नज्जइ सो दियहो मरियव्व चावसेण सव्वेण।
आसापासपरद्धो न करेइ य ज हिय बज्झो ॥२०७॥

शब्दार्थ—'जिस दिन मरना है, इसे यह जीव नहीं जानता, परन्तु सभी को एक न एक दिन अवश्य मरना है, इस बात को जानता है। फिर भी आशारूपी पाश में परवश हुआ और मौत के मुख में रहा हुआ यह जीव, जो हितकारक धर्मानुष्ठान है, उसे नहीं कर सकता।'

सञ्झरागजलबुब्बुओवमे जीविए य जलबिंदुचंचले।
जुव्वणे य नइवेगसंनिभे पाव जीव किमयं न बुज्झसि ॥२०८॥

शब्दार्थ—'यह जीवन संध्या की लालिमा के समान क्षणिक है, जल तरंग पानी के बुलबुले के समान नाशवान है, दर्भ के अग्र भाग पर पड़े हुए जलकण के समान चंचल है। और जवानी नदी के वेग के समान थोड़े-से समय टिकने वाली है। फिर भी पापकर्म में रचापचा जीव नहीं समझता और अपना अहित ही करता रहता है।'

ज ज नज्जई असुइ लज्जिज्जइ कुच्छणिज्जमेयंति।
त तं मग्गइ अगं, नवरमणंगुत्थ पडिकूलो ॥२०९॥

शब्दार्थ—'जिस अंग को अपवित्र समझता है, जिस अंग को देखते ही लज्जा आती है और जिस घिनौने अंग से घृणा करता है, स्त्री के उसी जघन आदि अंगों की मूढ़ पुरुष अभिलाषा करता

है। कामदेव के वश हो कर जीव स्त्री के निन्दनीय अंगों को भी अतिरमणीय मान कर प्रगटरूप से प्रतिकूल आचरण करता है।'

सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी।

कामग्गहो दुरप्पा, जेणाभिभूयं जगं सव्वं ॥२१०॥

शब्दार्थ—'सभी ग्रहों का उत्पत्तिस्थान, महान् उन्मादरूप, सभी दोषों का प्रवर्तक महाग्रह परस्त्रीगमन—आदिरूप कामग्रह है। कामरूपी महादुरात्मा ग्रह के उत्पन्न होने पर वह चित्त को भ्रम मे डाल देता है, इसने सारे जगत् को प्रभावित व पराजित कर रखा है। इसलिये कामरूपी महाग्रह को छोड़ना अत्यन्त कठिन है।'

जो सेवइ किं लहइ, थामं हारेइ दुब्बलो होइ।

पावेइ वेमणस्सं, दुक्खाणि अ अत्तदोसेणं ॥२११॥

शब्दार्थ—'जो पुरुष कामभोगो का सेवन करता है, वह क्या पाता है? पाता क्या है? खोता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती उसके शरीर का बल क्षीण हो जाता है, वह वीर्यहीन हो जाता है, उसके चित्त मे उद्वेग होता है। इसके कारण वैमनस्य भी पनपता है। और स्वच्छंद आचरण (आत्मदोष) से क्षयरोग, प्रमेह आदि अनेक रोगो के दुःख भी वह पाता है।'

जह कच्छुल्लो कच्छुं कंडूयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं।

मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बिंति ॥२१२॥

शब्दार्थ—'जैसे खुजली के रोग से पीड़ित मनुष्य अपने नखों से उस स्थान को बार-बार खुजलाने मे दुःख को सुख मानता है; वैसे ही मोहमूढ़ मनुष्य विषयभोगों की विडंबना को सुख मानता है। कामांधजीव विषयसुख को ही सारभूत समझता है।'

विसयविस हलाहल विसयविस उक्कड पियताणं ।
विसयविसाइन्न पिव विसयविसविसूइया होई ॥२१३॥

शब्दार्थ—'ज्ञानी विवेकी महात्माओं ने विषय को हलाहल विष माना है। शब्दादिविषयरूपी विष से संयमरूपी जीवन का नाश हो जाता है विषयरूपी उग्रविष पीने से जीव उसके भयकर परिणाम से अनतदु:ख प्राप्त करता है। अयत उन्हें परिणामों से अनत बार जनमना और मरना पडता है। और अन्त में उसका डेरा दुर्गति में ही जा कर लगता है।'

एव तु पचहिं आसवेहिं रयमायणित्तु अणसमय ।
चउगइदुहपेरत, अणुपरियट्टति ससारे ॥२१४॥

शब्दार्थ—'और इस तरह पाचों इन्द्रियों के विकारों से अथवा प्राणातिपातादि पाँच आश्रवों से युक्त जीव मलिनपरिणामों से प्रतिक्षण पापकर्मरूपी मल को ग्रहण करता रहता है। इस कारण वह जीव नरक आदि चारगति के दु:खरूप इस ससारचक्र म मोह-मूढ हो कर परिभ्रमण करता है।'

सव्वगईपक्खदे, काहति अणंतए अकयपुन्ना ।
जे य न सुणंति धम्म, सोऊण य जे पमायति ॥२१५॥

शब्दार्थ—'जिस मनुष्य ने पुण्य नहीं किया; दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करके रखने वाले शुद्ध धर्म का श्रवण नहीं किया, अथवा धर्मश्रवण करने पर भी जो उसके आचरण म मद्य-विषय-कषाय निद्रा विकथारूप पाच प्रकार के प्रमाद करता है, वह जीव इस संसार की चारों गतियों में अनन्तबार चक्कर लगाता है।'

अणुसिट्ठा य बहुविहं मिच्छदिट्ठी य जे नरा अहमा ।
बद्धनिकाइयकम्मा सुणंति धम्मं, न य करेंति ॥२१६॥

शब्दार्थ—'सम्यग्दर्शन-ज्ञानरहित मिथ्यादृष्टिजन या जो अधम-मनुष्य निकाचितरूप से ज्ञानावरणीयादि कर्मों के बन्धन के कारण कदाचित् अनेक त्यागीजनों के धर्मोपदेश, प्रेरणा आदि से अथवा स्वजनों के अनुरोध से धर्मश्रवण तो कर लेता है; मगर भलीभांति धर्माचरण नहीं करता। सारांश यह है कि लघुकर्मा जीव ही धर्म की प्राप्ति कर सकते हैं।'

पंचेव उज्झिऊणं पंचेव य रक्खिऊण भावेणं।
कम्मरयविप्पमुक्का सिद्धिगईमणुत्तरं पत्ता ॥२१७॥

शब्दार्थ—'हिंसा आदि पांच आश्रवों को छोड़ कर और अहिंसा आदि पांच महाव्रतों (संवरों) का आत्मा के शुभ भावों से रक्षण करके जो आठकर्मोंरूपी मल से सर्वथा मुक्त हो कर निर्मल आत्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही सर्वोत्कृष्ट सिद्धिगति को पाते हैं। इसलिए हिंसादि पांच आश्रवों का त्याग और अहिंसादि पांच संवरों का अप्रमत्तरूप से पालन ही सिद्धिगति (मुक्ति) की प्राप्ति का कारण है।'

नाणे दंसण-चरणे तव-संयम-समिइ-गुत्ति-पच्छित्ते।
दम-उसग्गववाए दव्वाई अभिग्गहे चेव ॥२१८॥
सद्दहणायरणाए निच्चं उज्जुत्त-एसणाई ठिओ।
तस्स भवोहितरणं, पवज्जाए जम्मं तु ॥२१९॥

शब्दार्थ—'सम्यग् अवबोधरूप ज्ञान में, तत्त्वश्रद्धारूप दर्शन में और आश्रवनिरोध-संवर (व्रत) ग्रहणरूप चारित्र में, बारह प्रकार के तप में, १७ प्रकार के संयम में, ईर्या-समिति आदि पांच समितियों में, मनोगुप्ति आदि निवृत्तिमय ३ गुप्तियों में, पांच इन्द्रियों के दमन (वशीकरण) में, शुद्धमार्ग के आचरणरूप उत्सर्ग

(अथवा किसी प्रिय वस्तु का व्युत्सर्ग करने) में, द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप ४ प्रकार के अभिग्रह धारण करने में तथा श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करने में या पूर्वोक्त बातों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति करने में जो साधक एषणादिभिक्षाचरीविधि में कमर कस कर जुटा रहता है, उस मुमुक्षु साधक का प्रव्रज्या (मुनिदीक्षा) से संसारसमुद्रतरण अवश्य हो जाता है। यानी श्रद्धापूर्वक धर्माचरण में जुटा रहने वाला संसार-समुद्र को अवश्य पार कर लेता है। मगर जो श्रद्धारहित हो कर धर्माचरण करते हैं, उनके पल्ले तो जन्म मरण आदि का चक्कर ही पड़ता है।'

भावार्थ—'इसलिए घरबार छोड़ कर दीक्षा लेने वाले प्रत्येक साधक को श्रद्धापूर्वक अहर्निश धर्माचरण में उद्यम करना चाहिए। अपनी भिक्षाचरी की क्रिया भी ४२ दोषों से रहित हो कर गवेषणा-ग्रहणैषणा-परिभोगैषणापूर्वक करनी चाहिए, तभी संसार-समुद्र को पार करने के लिए ली गई मुनिदीक्षा और मानवजन्म सफल हो सकते हैं। अन्यथा, श्रद्धारहित की गई धर्मक्रिया से मोक्ष के बदले संसार की ही साधना होती है। कहा भी है—

> 'क्रियाशून्यस्य यो भावो भावशून्यस्य या क्रिया।
> अनयोरन्तरं दृष्टं भानुखद्योतयोरिव ॥'

'क्रियाशून्य व्यक्ति के भाव और भावशून्य व्यक्ति की क्रिया में इतना अन्तर दिखता है, जितना सूर्य और जुगनू में है। क्रियाशून्य भाव सूर्य के सदृश है और भावशून्य क्रिया जुगनू के समान है।'

मतलब यह है कि श्रद्धा और आचरण के गुणों से रहित साधक का जन्म और मुनिदीक्षा दोनों निष्फल हैं।

> जे घरसारणपसत्ता छक्कायरिऊ सकिंचणा अजया।
> नवर मुत्तूण घरं घरसंकमणं कयं तेहिं ॥२२०॥

शब्दार्थ—'जो साधु अपने घरबार आदि का त्याग करके फिर उपाश्रय आदि घरों की मरम्मत करवाने, उसे बनवाने आदि में फंस जाते हैं, वे हिंसादि आरम्भों के भागी होने से छहों काय के जीवों (समस्त प्राणियों) के शत्रु हैं, द्रव्यादि परिग्रह रखने-रखाने के कारण वे सकिंचन (परिग्रही) हैं और मन-वचन-काया पर संयम न रखने के कारण असंयत (असयमी) हैं। उन्होंने केवल अपने पूर्वाश्रम (गृहस्थाश्रम) का घर छोड़ा और साधुवेष के बहाने नये घर (उपाश्रय) में संक्रमण किया है। यानी एक घर को छोड़ कर प्रकारान्तर से दूसरा घर अपना लिया है। उसका वेष केवल विडम्बना के सिवाय और कुछ भी नहीं है।'

उस्सुत्तमायरंतो बन्धइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ।
संसारं च पवड्ढइ मायामोसं च कुव्वइ य ॥२२१॥

शब्दार्थ—'जो जीव सूत्र (शास्त्रों में उल्लिखित मर्यादा) के विरुद्ध आचरण करता है, वह अत्यन्तगाढ़-निकाचितरूप में चीकने ज्ञानावरणीय कर्मों का बन्धन करता है; अपने आत्मप्रदेशों के साथ ऐसे स्निग्धकर्मों को चिपका कर संसार की वृद्धि करता है। ऐसा करने के साथ-साथ वह मायामृषा (कपटसहित असत्याचरण=दम्भ) का सेवन करता है; वह भी उसके अनन्तसंसारवृद्धि का कारण बनता है।'

जइ गिण्हइ वयलोवो, अहव न गिण्हइ सरीरवुच्छेओ ।
पासत्थसंगमो वि य, वयलोवो तो वरमसंगो ॥२२२॥

शब्दार्थ—अगर सुविहित साधु पार्श्वस्थ (उत्सूत्राचारी) के द्वारा लाया हुआ आहार-पानी व वस्त्र आदि ग्रहण करता है तो उसके महाव्रत का लोप होता है और नहीं ग्रहण करता तो उसका शरीर टिक नहीं सकता। इस प्रकार ये दोनों ही कष्टरूप हैं। मगर

अनुभवियों की सलाह है कि ऐसे मौके पर शरीर को परेशानी में डाल देना या छोड़ देना अच्छा, लेकिन पासत्थसाधक का संग करके व्रतलोप करने की अपेक्षा पासत्थ का संग न करना ही अच्छा है।'

आलावो सवासो वीसंभो संथवो पलवो य।

हीणायारेहिं समं सव्वजिणेहिं पडिकुट्ठ ॥२२३॥

शब्दार्थ—'हीन आचार वाले साधु के साथ बातचीत करने, साथ रहने, उसका विश्वास करने, गाढ़ परिचय करने और वस्त्रादि के लेने देने का व्यवहार करने इत्यादि का ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरों ने निषेध (मना) किया है।'

अन्नुन्नजंपिएहिं हसिउद्धसिएहिं खिप्पमाणो य।

पासत्थमज्झयारे बलावि जई वाउलो होइ ॥२२४॥

शब्दार्थ—'पासत्थों के साथ परस्पर बातचीत करने से, अथवा निन्दाविकथादि बातें परस्पर करने से, हंसी मजाक या मखौल व तानेबाजी करने से पासत्थों के साथ रहने वाला सुविहित साधु धीरे धीरे किसी बात को बारबार जोरदार प्रेरणा के कारण एक दिन व्याकुल (व्यग्र) हो उठता है और शुद्ध स्वधर्म संयममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए पासत्थों का सम्पर्क त्याज्य ही समझना चाहिए।'

लोए वि कुसंसग्गीपियं जणं दुन्नियत्थमइवसणं।

निंदइ निरुज्जमं पियकुसीलजणमेव साहुजणो ॥२२५॥

शब्दार्थ—'जिसे कुसंगियों का संसर्ग करने का शौक है, जो उद्धतवेषधारी है और जूआ आदि दुर्व्यसनों में ही रातदिन रचापचा रहता है, जैसे लोकव्यवहार में ऐसे लोगों की निन्दा होती है, वैसे ही सुविहित साधुजनों में भी ऐसे कुवेषधारी साधु की भी अवश्य

निन्दा होती है, जो चारित्रपालन में शिथिल या आलसी है, जिसे कुशीलजन ही प्रिय लगते हैं।'

निच्च संकियभीओ गम्मो सव्वस्स खलियचारित्तो।
साहुजणस्स अवमओ, मओ वि पुण दुग्गइं जाइ ॥२२६॥

शब्दार्थ—'मेरा दुष्ट आचरण कोई देख न ले, इस शंका से जो सदा शंकित रहता है; मेरा पाप खुल न जाय, इस दृष्टि से जो सदा भयभीत रहता है; मेरी बुरी प्रवृत्ति का कोई भंडाफोड़ न कर दे, इस डर से जो बालक आदि तक से दबा हुआ रहता है, वह चारित्र-विराधक कुशील साधु इस लोक में साधुजनों द्वारा निन्दनीय होता है, और परलोक में भी वह दुर्गति का अधिकारी बनता है। इसलिए चाहे प्राण चले जांय, मगर चारित्र की विराधना नहीं करना चाहिए।'

गिरिसुअ-पुप्फसुआणं सुविहिय-आहरणं कारणविहिन्न।
वज्जेज्जसीलविगले उज्जुयसीले हविज्ज जई ॥२२७॥

शब्दार्थ—सुविहित साधुओ! पर्वतीय प्रदेश में रहने वाले भीलों के तोते और फूलों के बाग में रहने वाले तपसों के तोते के उदाहरण से उन दोनों के दोष-गुण का कारण संग को ही समझो। उत्तम व्यक्ति के संग से गुण और अधम के संग से दोष पैदा होते हैं इसी तरह आत्मार्थी साधुओं को भी आचारहीन दु:शील साधुओं संग छोड़ कर अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् आराधना कर में पुरुषार्थ करना चाहिए। क्योंकि जैसी सोहबत होगी, वैसा असर होगा। जैसा संग होगा, वैसा ही रंग चढ़ेगा।' यहाँ ... वश उन दो तोतों का दृष्टान्त दे रहे है—

गिरिशुक और पुष्पशुक का दृष्टान्त

वसंतपुर नगर में कनककेतु नामक राजा राज्य करता था।

दिन जगल की सैर करने के लिए वह घोड़े पर बैठ कर नगर के बाहर चल पडा। परन्तु घोडा विपरीत चाल सीखा हुआ होने से अत्यन्त तेज दौडा और राजा को वह एक बड़े घोर जगल में ले पहुचा आखिरकार घोडा अत्यन्त थक कर अपने आप एक जगह खड़ा हो गया। राजा घोड़े से नीचे उतरा और अकेला ही किसी विश्रामस्थान की तलाश मे इधर उधर घूमने लगा। इतने म ही कुछ दूरी पर बहुत-से मनुष्यों का शोर सुनाई दिया। इसलिए राजा उसी ओर विश्राम लेने के लिए चल पडा। राजा ने कुछ ही कदम रखे थे कि एक पेड की डाली पर लटकते पींजरे मे बद एक तोता जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"अरे भीलो! भागो भागो! कोई बडा राजा आया है, उसे पकड लो! उसे पकडने से वह तुम्हें लाख रुपये देगा।" तोते की आवाज सुन कर भील राजा की ओर दौड़े आ रहे थे। राजा ने एकदम चौकन्ना हो कर अपना घोडा सभाला और उस पर सवार हो कर भागा। घोड़ा इतना सरपट दौड़ा कि थोड़ी ही देर म उसने राजा को एक योजन दूर पहुचा दिया। राजा को वहाँ एक तापस-आश्रम दिखाई दिया। उस आश्रम के चारों ओर एक सुरम्य फुलवाडी थी, जिसमें एक ऊँचे पेड पर लटकते हुए पींजरे में एक तोता बन्द था। उसने राजा को अपनी ओर आते देख कर जोर से पुकारा—"तापसो! पधारो पधारो! आपके आश्रम की ओर एक महान् अतिथि चला आ रहा है, उसका स्वागत और सेवा भक्ति करो।" तोते की बात सुनते ही सभी तापस राजा के स्वागत के लिए पहुचे और उसे सम्मानसहित अपने आश्रम में ले आए और स्नान भोजनादि से राजा की सेवा की। इससे राजा अत्यन्त सतुष्ट हुआ। स्वस्थ हो कर राजा ने उस तोते से पूछा—'शुकराज! मैंने तुम्हारे जैसा ही एक तोता भीलों की पल्ली मे देखा था, उसने मुझे बाधने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु एक तुम हो, जिसने मेरी

वर्ती सेवाभक्ति कराई। दोनों के स्वभाव में इतने बड़े अन्तर का क्या कारण है?' तोते ने कहा—'मुनिए, मैं इसका कारण बताता हूँ। कादम्बी नाम की महाटवी में हम दोनों भाई साथ-साथ रहते थे। एक ही माता-पिता की संतान होते हुए भी हम दोनों में अन्तर का कारण यह बना कि एक दिन मेरे इस भाई (तोते) को भीलों ने पकड़ लिया और उसे पर्वतीय प्रदेश में रखा, इसलिए उसका नाम पर्वतशुक पड़ गया और मुझे तापसों ने पकड़ कर इस पुष्पवाटिका में रखा, इसलिए मेरा नाम पड़ा—पुष्पशुक! मेरा वह भाई रातदिन भीलों के सहवास में रहने के कारण भीलों की मारने-पीटने, बांधने, सताने आदि की बातें ही हमेशा सुनता, इससे उसने भीलों की-सी बातें ही सीखीं। और मुझे तापसों का सत्संग मिला। मैंने इनके उत्तम वचन सुने, इनके शुभगुणों की बातें ही मैंने सीखीं। इसलिए मुझ में शुभ गुणों के संस्कार आए। राजन्! शुभ और अशुभ संगति ही इसमें कारण है, यह आपने अपनी आँखों से देख लिया।" कहा भी है—

'महानुभावसंसर्गः कस्य नोन्नतिकारणम्?
गंगाप्रविष्टरथ्याम्बु त्रिदशैरपि वन्द्यते ॥'

'महान् प्रभावशाली व्यक्तियों का संसर्ग किसकी उन्नति का कारण नहीं होता? देखो, गंगानदी में मिले हुए गली के गंदे पानी को देव भी नमस्कार करते हैं?' और भी—

'वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥'

'पर्वत के दुर्गम स्थानों पर वनचर लोगों के साथ घूमना अच्छा, लेकिन इन्द्र के भवनों में भी मूर्ख लोगों का संसर्ग करना अच्छा नहीं।'

तोते की बुद्धिमत्तापूर्ण बातें सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। कुछ ही देर में राजा की भारी सेना, जो पीछे-पीछे आ रही थी, वहाँ आ पहुंची। उसके साथ राजा अपने नगर को लौट गया। इस प्रकार सुसंग कुसंग का फल जान कर भ्रष्टाचारियों का कुसंग छोड़ कर सदाचारियों के सुसंग में रह कर अपने तप जप-संयम में पुरुषार्थ करना चाहिये। शास्त्र में भी बताया है—

> वरमग्गिम्मि पवेसो वरं विसुद्धेण कम्मुणा मरणं।
> मा गहियव्वयभंगो मा जीयं खलियसीलस्स ॥'

'अग्नि में प्रवेश करना अच्छा और विशुद्ध कर्म करते हुए अनशन करके मर जाना भी अच्छा, लेकिन ग्रहण किये हुए व्रतों का भंग करना ठीक नहीं और न ऐसे शीलभ्रष्ट का जीना ही अच्छा है।'

> ओसन्नचरणकरणं जइणो वदंति कारणं पप्प।
> जं सुविइयपरमत्था, ते वदंते निवारंति ॥२२८॥

शब्दार्थ—'किसी कारणवश सुविहित साधु मूलगुणरूप चरण और पंचसमिति आदि उत्तरगुणरूप करण से शिथिल या भ्रष्ट साधु को भी वन्दना करते हैं। परन्तु जिन्होंने परमार्थ को भलीभांति जान लिया है, वे 'हम तत्त्वज्ञ सुविहित मुनियों के द्वारा वन्दन कराने योग्य नहीं हैं, इस प्रकार आत्मदोष को जान कर वन्दना करते के लिए उद्यत पासत्था आदि साधुओं को रोके और उन्हें कहे कि आप हमें वन्दना न करें। भावार्थ यह है कि मूल उत्तरगुणों से रहित साधुओं से वन्दना न लें।'

> सुविहिय वंदावंतो नासेई अप्पयं तु सुपहाओ।
> दुविहपहविप्पमुक्को कहमप्पं न याणई मूढो ॥२२९॥

बड़ी सेवाभक्ति कराई। दोनों के स्वभाव में इतने बड़े अन्तर का क्या कारण है?' तोते ने कहा—'मुनिए, मैं इसका कारण बताता हूँ। कादम्बी नाम की महाटवी में हम दोनों भाई साथ-साथ रहते थे। एक ही माता-पिता की संतान होते हुए भी हम दोनों में अन्तर का कारण यह बना कि एक दिन मेरे इस भाई (तोते) को भीलों ने पकड़ लिया और इसे पर्वतीय प्रदेश में रखा, इसलिए उसका नाम पर्वतशुक पड़ गया और मुझे तापसों ने पकड़ कर इस पुष्पवाटिका में रखा, इसलिए मेरा नाम पड़ा—पुष्पशुक! मेरा वह भाई रातदिन भीलों के सहवास में रहने के कारण भीलों की मारने-पीटने, बांधने, सताने आदि की बातें ही हमेशा सुनता; इससे उसने भीलों की-सी बातें ही सीखीं। और मुझे तापसों का सत्संग मिला। मैंने इनके उत्तम वचन सुने, इनके शुभगुणों की बातें ही मैंने सीखीं। इसलिए मुझ में शुभ गुणों के संस्कार आए। राजन्! शुभ और अशुभ संगति ही इसमें कारण है, यह आपने अपनी आँखों से देख लिया।" कहा भी है—

'महानुभावसंसर्गः कस्य नोन्नतिकारणम्?
गंगाप्रविष्टरथ्याम्बु त्रिदशैरपि वन्द्यते ॥'

'महान् प्रभावशाली व्यक्तियों का संसर्ग किसकी उन्नति का कारण नहीं होता? देखो, गंगानदी में मिले हुए गली के गंदे पानी को देव भी नमस्कार करते हैं?' और भी—

'वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥'

'पर्वत के दुर्गम स्थानों पर वनचर लोगों के साथ घूमना अच्छा; लेकिन इन्द्र के भवनों में भी मूर्ख लोगों का संसर्ग करना अच्छा

लेकिन इन्द्र के भवनों में भी मूर्ख लोगों का संसर्ग करना अच्छा

तोते की बुद्धिमत्तापूर्ण बातें सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। कुछ ही देर में राजा की सारी सेना, जो पीछे पीछे आ रही थी, वहाँ आ पहुंची। उसके साथ राजा अपने नगर को लौट गया। इस प्रकार सत्संग कुसंग का फल जान कर भ्रष्टाचारियों का कुसंग छोड़ कर सदाचारियों के सुसंग में रह कर अपने तप जप-संयम में पुरुषार्थ करना चाहिये। शास्त्र में भी बताया है—

> वरमग्गि गमि पवेसो वर विसुद्धण कम्मुणा मरणं।
> मा गहियव्वयभंगो मा जीय खलियसीलस्स ॥'

'अग्नि में प्रवेश करना अच्छा और विशुद्ध कर्म करते हुए अनशन करके मर जाना भी अच्छा, लेकिन ग्रहण किये हुए व्रतों का भंग करना ठीक नहीं और न ऐसे शीलभ्रष्ट का जीना ही अच्छा है।'

> जोसन्नचरणकरणं अइलो वदति कारणं पप्प।
> ज सुविइयपरमत्था ते वदते निवारंति ॥२२८॥

शब्दार्थ—'किसी कारणवश सुविहित साधु मूलगुणरूप चरण और पंचसमिति आदि उत्तरगुणरूप करण में शिथिल या भ्रष्ट साधु को भी वन्दना करते हैं। परन्तु जिन्होंने परमार्थ को भलीभांति जान लिया है वे 'हम नरवन्द्य सुविहित मुनियों के द्वारा वन्दन कराने योग्य नहीं हैं, इस प्रकार आत्मदोष को जान कर वन्दना करने के लिए उद्यत सामत्या आदि साधुओं को रोके और उन्हें कहे कि आप हमें वन्दना न करें। भावार्थ यह है कि मूल उत्तरगुणों से रहित साधुओं से वन्दना न लें।'

> सुविहिय वंदावंतो नासेइ अप्पयं तु सुपहाओ।
> दुविहपहविप्पमुक्को कहमप्प न याणई मूढो ॥२२९॥

शब्दार्थ—'जो पासत्था आदि शिथिलाचारी साधु सुविहित साधुओं से वन्दना करवाता है, वह अपने ही सुप्रभाव को नष्ट करता है। अथवा वह सुपथ (मोक्षमार्ग) से अपनी आत्मा को दूर भगाता है। क्योंकि आचारभ्रष्ट साधु साधुधर्म और श्रावकधर्म दोनों मार्गों से रहित होता है। पता नहीं, वह मिथ्याभिमानी मूढ अपने-आपको क्यों नहीं जानता कि मैं दोनों मार्गों से भ्रष्ट हो रहा हूं; इससे मेरी क्या गति होगी ?'

अब श्रावक के गुणों का वर्णन करते हैं—

वदइ उभओकालपि चेइयाइं थयथुईपरमो ।
जिणवरपडिमाघर धूवपुप्फगधच्चणुज्जत्तो ॥२३०॥

शब्दार्थ—'जो सुबह-शाम (दोनों समय) और अपि शब्द से मध्याह्नकाल में भी (यानी तीनों काल) 'भक्तामरस्तोत' आदि से स्तवन और 'संसार दावानल०' आदि से स्तुति मे तत्पर हो कर चैत्यवन्दन करता है तथा जिनवरप्रतिमागृह मे धूप, फूल, सुगन्धित द्रव्य से अर्चन—(पूजन) करने में उद्यम करता है, वह श्रावक कहलाता है।'

सुविणिच्छियएगमइ, धम्मंमि अनन्नदेवओ य पुणो ।
न य कुसमएसु रज्जइ, पुव्वावरवाहयत्थेसु ॥२३१॥

शब्दार्थ—'जो जैनधर्म मे अटल, सुनिश्चित, एकाग्रमति है और वीतरागदेवों के सिवाय अन्य देवों को नही मानता, और न पूर्वापरविरोधी असंगत अर्थों (वातों) वाले कुशास्त्रों में जिसका अनुराग होता है; वही श्रावक कहलाता है। सच्चा श्रावक देव, गुरु, धर्म और शास्त्र की भलीभांति परीक्षा करके धर्माराधना करता है।'

दट्ठूण कुलिंगी तस थावर भूयमद्दणं विविहं ।
धम्माओ न चालिज्जइ, देवेहिं सइ दएहिं ॥२३२॥

शब्दार्थ—'दृढधर्मी श्रावक अपने हाथ से रसोई आदि बनाने में विविध प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों का मर्दन (आरम्भजनित हिंसा) करते हुए कुलिंगियों (अन्य धर्मपथ के वेष वालों) को देख कर अपने धर्म से इन्द्रसहित देवों द्वारा चलायमान किये जाने पर भी विचलित नहीं होता।'

वंदइ पडिपुच्छइ पज्जुवासेइ साहुणो सययमेव ।
पढइ सुणइ गुणइ य जणस्स धम्मं परिकहेई ॥२३३॥

शब्दार्थ—'ऐसा श्रावक स्वपरकल्याण के साधक साधुओं का सतत वंदन करता है, प्रश्न पूछता है, उनकी सेवाभक्ति करता है, धर्मशास्त्र पढ़ता है, सुनता है और सुनी हुई बात पर अर्थपूर्ण चिन्तन करता है और अपनी बुद्धि के अनुसार दूसरों को या अल्पज्ञों को धर्म की बात बताता है या धर्म का बोध देता है।'

दढसीलव्वयनियमो पोसह आवस्सएसु अक्खलिओ ।
महुमज्जमंस—पंचविहबहुबीयफलेसु पडिक्कंतो ॥२३४॥

शब्दार्थ—'वह श्रावक ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत (शील) के सहित ५ अणुव्रतों एवं नियमों पर दृढ़ रहता है। पौषध तथा आवश्यक अचूक तौर पर नियमितरूप से करता है। साथ ही मधु (शहद) मद्य (शराब) और मांसाहार, व बड़, गुल्लर (उदुम्बर) आदि ५ प्रकार के बहुबीज वाले फलों तथा बैंगन आदि बहुबीज वाले व आलू आदि अनन्तकायिक सजीवों का त्यागी होता है।'

नाहम्मकम्मजीवी पच्चक्खाणे अभिक्खमुज्जुत्तो ।
सव्वं परिमाणकडं अवरज्झइ तं पि संकेतो ॥२३५॥

शब्दार्थ—'कर्मादान कहलाने वाली १५ प्रकार की आजीविका या किसी भी प्रकार की अधर्मवर्द्धक आजीविका श्रावक नहीं करता, अपितु निर्दोष व्यवसाय करता है। वह १० प्रकार के प्रत्याख्यानों (त्याग-नियमों) में सदा उद्यत रहता है, धन-धान्य आदि परिग्रह की मर्यादा करता है तथा आरम्भादि पाप-दोष वाले कार्यों को भी शंकित हो कर करता है, बाद में इसके लिए प्रायश्चित्त ले कर उससे मुक्त होता है। यही श्रावक का वृत्ति कहलाती है।'

परतित्थियाण पणमण-उब्भावण-थुणण-भत्तिराग च।
सक्कार सम्माण दाण च विणयं च वज्जइ ॥२३७॥

शब्दार्थ—'श्रावक बनने के बाद वह अन्यतीर्थिक (दूसरे धर्म-सम्प्रदाय वाले) साधुओं को गुरुबुद्धि से प्रणाम (वन्दनानमस्कार), उनकी बढ़ाचढ़ा कर तारीफ, या उनकी स्तुति, अथवा उनके प्रति भक्तिपूर्वक अनुराग, उनका वस्त्रादि से सत्कार, खड़े हो कर सम्मान या उन्हें उत्तमपात्र मान कर आहारादि दान या उनके पैर धोने आदि के रूप में विनय करने का त्याग करता है।'

श्रावक सुपात्रगुरुबुद्धि से भोजन किसको और किस विधि से देता है ?, यह आगे की गाथा में बताते हैं—

पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ।
असई अ सुविहिआणं भुंजइ कयदिसालोओ ॥२३८॥

शब्दार्थ—भोजन के समय श्रावक इन्द्रियसंयमी साधुओं को पहले निर्दोष आहार-पानी आदरपूर्वक दे कर बाद में स्वयं भोजन करता है। अगर ऐसे सुपात्र-सुविहितसाधुओं का निमित्त न मिले तो जिस दिशा में साधु-मुनिवर विचरण करते हों, उस दिशा में अवलोकन करके 'यदि इस समय साधुमुनिवर पधार जांय तो अच्छा हो', इस प्रकार की भावना के साथ भोजन करता है।

शब्दार्थ—'सुश्रावक साधुओं, चैत्यों (जिनमंदिरों) आदि के विरोधी, उपद्रवी और निन्दा करने वाले तथा जिनशासन का अहित करने वाले का अपनी पूरी ताक़त लगा कर प्रतीकार करता है।'

भावार्थ—'मेरे अकेले की थोड़े ही जिम्मेवारी है ? दूसरे बहुत-से लोग हैं, वे अपने आप इनकी रक्षा करेंगे या मैं अकेला क्या कर सकता हूं ?' इस प्रकार की कायरता के विचार ला कर वह इनकी उपेक्षा नहीं करता। मतलब यह है कि सुश्रावक जिनशासन की बद-नामी हरगिज नहीं होने देता।'

विरया पाणिवहाओ विरया निच्चं च अलियवयणाओ।
विरया चोरिक्का ओ, विरया परदारगमणाओ ॥२४३॥

शब्दार्थ—'सुश्रावक हमेशा प्राणिवध से विरत होता है, मिथ्या-भाषण से दूर रहता है, चोरी से भी विरत होता है और परस्त्री-गमन से भी निवृत्त होता है।'

विरया परिग्गहाओ अपरिमियाओ अणततण्हाओ।
बहुदोससंकुलाओ नरयगइगमणपंथाओ ॥२४४॥

शब्दार्थ—'अपरिमित, (अमर्यादित) असीम, अनन्त तृष्णाएँ नरकगति में ले जाने वाली राहें हैं और बन्धन आदि दोषों से घिरी हुई हैं; इसलिए श्रावक असीम परिग्रह (तृष्णा) से विरत होता है।'

मुक्का दुज्जणमित्ती, गहिया गुरुवयण-साहूपडिवत्ती।
मुक्को परपरिवाओ, गहिओ जिणदेसिओ धम्मो ॥२४५॥

शब्दार्थ—'सुश्रावक दुर्जनों की मैत्री (सोहबत) छोड़ कर तीर्थंकर आदि गुरुओं के वचनों को मान्य करता है और साधुओं की विनय-भक्ति करता है। वह सदा परनिन्दा से दूर रहता है और रागद्वेष

को छोड़ कर जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट ममताभावरूपी धर्म का सादर ग्रहण करता है।'

> सर्वनियमशीलकलिया, सुसावगा अ हवंति इह सुगुणा।
>
> ते सिं न दुल्लहाइं निव्वाण विमाणसक्खाइं ॥२४६॥

शब्दार्थ—'जो बारह प्रकार के तप, कई श्रावकधर्म के उपयुक्त नियम तथा शील-सदाचार आदि गुणों से सम्पन्न सद्गुणी सुश्रावक होते हैं, उनके लिए निर्वाण या वैमानिक देवलोक के सुख कोई दुर्लभ नहीं हैं। अर्थात् स्वर्गसुखों का उपभोग कर वह क्रमशः मोक्ष सुख भी प्राप्त कर लेता है।'

> सीइज्ज कया वि गुरु तंपि सुसीसा सुनिउणमहुरेहिं।
>
> मग्गे ठवंति पुणरवि जह सेलगपंथगो नाय ॥२४७॥

शब्दार्थ—'किसी समय कर्मों की विचित्रता के कारण गुरु प्रमाद वश हो कर धर्ममार्ग से शिथिल-पतित-हीन लगते हैं तो निपुण सुशिष्य उन्हें भी अत्यन्त नैपुण्ययुक्त मधुरवचनों तथा व्यवहारों से पुनः सन्मार्ग (संयमपथ) पर स्थिर कर देते हैं। जैसे शैलक राजर्षि नामक गुरु को जाना माना पंथकशिष्य सुमार्ग पर ले आया था।

शैलकाचार्य और पंथकशिष्य की कथा

द्वारिकापुरी कुबेरनिर्मित अलकापुरी की तरह शोभायमान थी। वहाँ श्रीकृष्ण वासुदेव राज्य करते थे। उसी नगरी में थावच्चा नामक एक सार्थवाह अपनी पत्नी के सहित रहता था। उसके थावच्चाकुमार नामक एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र था। उसकी शादी बत्तीस सुन्दरियों के साथ हुई थी। वह अपनी पत्नियों के साथ दोगुन्दक देव के समान अनुपम सुखों का उपभोग कर रहा था। एक बार भगवान् श्रीअरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। बाहर के

उपवन मे विराजे। उनके पदार्पण का वृत्तान्त सुन कर थावच्चा-कुमार भी उनके दर्शन-वन्दन को गया। भगवान के मुंह के संसार-सागरतारिणी धर्मदेशना सुन कर थावच्चाकुमार का मन संसार से विरक्त हो गया। माता-पिता से आज्ञा प्राप्त करके उसने एक हजार पुरुषों के साथ भागवती दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा के बाद उसने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया।

एक बार भ० अरिष्टनेमि की आज्ञा ले कर आचार्य थावच्चापुत्र अपने शिष्यसमुदाय-सहित शैलकपुर मे आए। नगर का राजा उनके वन्दन करने के लिए आया। मुनि से धर्मोपदेश सुन कर उसने उनसे श्रावकधर्म के १२ व्रत स्वीकार किये। वहाँ से विहार करके आचार्य थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी मे आए और वहाँ के 'नीलाशोक' उद्यान मे विराजे। उस नगरी मे शुक नामक परिव्राजक का एक परमभक्त सुदर्शनसेठ रहता था। वह भी आचार्य के पास आया। उनसे धर्मचर्चा करके उसने प्रतिबोध प्राप्त किया और मिथ्यादर्शन व शौच-मूलक धर्म को छोड़ कर जिनेन्द्रकथित विनय-मूलक धर्म स्वीकार किया। शुकपरिव्राजक को जब इस बात का पता लगा तो वह अपने हजारशिष्यों के सहित सुदर्शन सेठ के यहाँ पहुंचे। सुदर्शन से उन्होंने पूछा—"सुदर्शन! सुना है, तुमने मेरे शौचमूलक धर्म को छोड कर विनयमूलक धर्म ग्रहण किया है? मैं जानना चाहता हूं कि वह धर्म तुमने किससे और क्यों ग्रहण किया है?" सुदर्शन ने शान्तभाव से कहा—"धर्म ग्रहण तो अपनी मर्जी पर निर्भर है। मुझे विनयमूलक धर्म सत्य जचा और मैंने इसी नगरी मे विराजित आचार्य थावच्चापुत्र से उसे ग्रहण किया है। आप चाहे तो मेरे साथ चल कर आचार्यश्री से धर्मचर्चा कर लें।" अत शुकपरिव्राजक सुदर्शन को साथ ले कर आचार्यश्री के पास पहुचे। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध मे कई प्रश्न और शंकाएं उपस्थित कीं।

लेकिन आचार्यश्री की अकाट्य युक्तियों और उत्तर के सामने वे निरुत्तर हो गए। अन्तत शुकपरिव्राजक ने विनयमूलक धर्म को ही यथार्थ समझ कर अपने हजार शिष्यों के सहित आचार्यश्री से मुनि दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा के बाद में इन्होंने क्रमश १४ अंग शास्त्रों का अध्ययन किया। थावच्चापुत्र आचार्य ने इन्हें योग्य समझ कर आचार्य पद दिया। और स्वयं ने एक हजार साधुओं के साथ शत्रुंजयपर्वत पर एक मास की संलेखना की साधना स्वीकार करके अन्त में केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त की।

एक बार विचरण करते हुए शुकाचार्य अपने हजार शिष्यों के साथ शैलकपुर पधारे। शैलकराजा उन्हें वन्दना करने आया। उनसे धर्मोपदेश सुन कर राजा को संसार से वैराग्य हो गया। इन्होंने अपने पुत्र मंडुककुमार को राजगद्दी पर बिठा कर पंथक आदि ५०० मंत्रियों के सहित मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। शैलकमुनि ने भी क्रमशः ११ अंगसूत्रों का अध्ययन किया। उनके गुरु ने योग्य जान कर उन्हें आचार्यपद दिया। शुकाचार्य ने एक हजार साधुओं के साथ पवित्र तीर्थधाम श्रीसिद्धाचल पहुंच कर संल्लेखनापूर्वक अनशन ग्रहण किया, और अन्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया।

एक बार आचार्य शैलकराजर्षि के शरीर में रूखा सूखा, नीरस आहार करने से महाव्याधियाँ पैदा हो गई। इन दुःसाध्य व्याधियों के होते हुए भी आ० शैलक कठोर तप करते रहते। वे एक बार विहार करते-करते शैलकपुर पहुंचे। उनके नगर पदार्पण के समाचार सुन कर मंडुकनृप भी उनके दर्शनार्थ गया। आचार्यश्री का धर्मोपदेश सुन कर राजा जीव अजीव आदि ६ तत्त्वों का जानकार हुआ। तत्पश्चात् उसने आचार्य शैलकराजर्षि का शरीर रुग्ण मास से रहित,

सूखा-सा, जीर्ण-शीर्ण देख कर विनयपूर्वक अर्ज की—"स्वामिन्! आपका शरीर किसी भयंकर रोग से जर्जरित हो रहा मालूम होता है। अतः आप किसी बात का संकोच न करें। मेरी यानशाला में पधारें। वहाँ शुद्ध औषध द्वारा योग्य चिकित्सा करवाने तथा पथ्यकर भोजन के सेवन से आपका समस्त रोग नष्ट हो जायगा।' आचार्य शैलकराजर्षि राजा मंडुक की बात मान कर अपने शिष्यों सहित राजा की यानशाला में पधारे। यहाँ राजा द्वारा औषधोपचार और पथ्यभोजन के प्रबन्ध से उनका शरीर कुछ ही दिनों में बिलकुल स्वस्थ हो गया। किन्तु आचार्य रोजाना स्वादिष्ट भोजन करने के इतने आदि हो गए कि वे अब स्वादिष्ट भोजन पाने के लोभवश वहाँ से अन्यत्र कहीं विहार नहीं करना चाहते थे। वहीं जम कर रहने लगे। शिष्यों ने जब देखा कि वे स्वादलोलुप हो कर कहने-समझाने पर भी विहार नहीं करते तो केवल एक मुनि पंथक शिष्य को छोड़ कर दूसरे सब साधु वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए। प्रतिदिन स्वादिष्ट गरिष्ठ आहार मिलता था, सोने के लिए सुखशय्या थी ही, सेवा करने के पथक मुनि था, फिर क्या कहना था! शैलकराजर्षि रसलोलुप हो कर इतने सुखशील हो गए कि अपने नित्यकृत्य भी छोड़ बैठे। आहार भी भिक्षा के दोषों से युक्त (अशुद्ध) करने लगे।

कार्तिक सुदी पूर्णिमा का चातुर्मासिक पर्वसमाप्ति का दिन था। आचार्यश्री स्वादिष्ट भोजन करके सन्ध्यासमय ही सुखनिद्रा में सो गए थे। पंथक मुनि ने गुरुजी की निद्राभंग करना उचित न समझ कर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण किया और उसके अन्त में क्षमितक्षमापना (क्षमायाचना) करने के लिए गुरु की शय्या के पास आए, अपने मस्तक से उनके चरणों का स्पर्श किया और ज्यों ही वे क्षमायाचना के लिए उद्गार निकालते हैं, त्यों ही आचार्य शैलकराजर्षि

की नींद उड़ गई। इस कारण वे क्रोधातुर हो कर बोले—"अरे! किस दुष्ट ने मेरी नींद उड़ा दी?" पथकमुनि ने कुछ भी क्रोध न करते हुए सविनय उत्तर दिया—"पूज्य! आज चातुर्मासिक पर्व दिवस था। मैं प्रतिक्रमण करके आपसे क्षमायाचना करने के लिए आया था, इससे आपके चरणों का स्पर्श करने से आपकी नींद में खलल पड़ी है। मेरे इस अपराध को क्षमा करिए, गुरुदेव! भविष्य में ऐसा अपराध न करूंगा।" पन्थक मुनि के द्वारा बार बार विनम्र शब्दों में अपने ही अपराध का निवेदन और क्षमायाचना का स्वर सुन कर शैलकराजर्षि एकदम सावधान हो कर उठ बैठे। अन्तर में चिन्तन की धारा बह चली—"धन्य है इस शिष्य पंथक को! कितना क्षमावान, कितना विनीत और कितना आत्मालोचक है यह! धिक्कार है मुझे! मैं स्वादिष्ट भोजन के लोभ में चातुर्मासिक प्रतिक्रमण जैसे नित्यकृत्य, नियम और धर्म को भी छोड़ बैठा; इस पर रोष किया, इसे डांटा भी सही, मगर इसने मेरी सेवा नहीं छोड़ी, मेरे प्रति अपना दायित्व और कर्तव्य निभाया! मुझे उन्मार्ग पर जाते हुए इसने रोका; सन्मार्ग पर लगाया!" इस प्रकार आत्मनिन्दा करते हुए राजर्षि के वैराग्यपूर्ण हृदय से आशीर्वाद के ये उद्गार बरस पड़े—"वत्स पन्थक! धन्य हो तुम्हें! मैं तो तुम्हारा गुरु कहला कर भी उलटे रास्ते पर चल पड़ा था, लेकिन तुमने अपनी विनम्रता, सेवा और सद्भावना से मुझे मोहनिद्रा से जगा कर भवसागर में गिरने से बचाया है! अब मुझे अपनी आलोचना करके प्रायश्चित्त ले कर आत्मशुद्धि करना है और तब हमें यहाँ एक दिन भी नहीं ठहरना है।" इस प्रकार शैलकराजर्षि प्रमाद दूर करके वहाँ से अन्यत्र विहार करके शुद्ध चारित्र पालन करने लगे। धीरे धीरे सभी बिछुड़े हुए शिष्य गुरु का पुनः चारित्रदृढ़ता सुन कर उनके पास आ गए। उसके पश्चात् वे चिरकाल विभिन्न प्रदेशों

मे स्वपरकल्याणार्थ विचरण करते हुए अनेक भव्यजीवों को प्रतिबोध दे कर ५०० शिष्यों सहित श्रीसिद्धाचलतीर्थ पहुंचे। वहाँ अनशन-तप स्वीकार करके उन्होंने सिद्धपद प्राप्त किया।

इसी प्रकार सुशिष्य अपने प्रमादी गुरु को भी निपुणतायुक्त मधुर वचनों से सन्मार्ग पर ले आते है, यही इस कथा का सारांश है।

दस-दस दिवसे-दिवसे, धम्मं बोहेइ अहव अहिअयरो।
इअ नदीसेणसत्ती, तह वि य से संजमविवत्ती ॥२४८॥

शब्दार्थ—"प्रतिदिन दस या इससे भी अधिक व्यक्तियों को नदीषेण अपनी वचनशक्ति से धर्म का प्रतिबोध दिया करते थे; फिर निकाचितकर्मबन्धन के कारण उनके भी संयम (चारित्र) का विनाश हुआ। अतः निकाचितकर्मबन्धन का भोग अत्यन्त बलवान है, यही इस गाथा का भावार्थ है।" यहाँ प्रसंगवश नन्दीषेणमुनि के जीवन की घटना दे रहे हैं—

प्रतिबोधकुशल नन्दीषेणमुनि की कथा

नन्दीषेण के पूर्वजन्म का संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है—'मुख-प्रिय नामक एक ब्राह्मण किसी गांव में रहता था। उसने एक बार एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने का संकल्प कर लिया। फिर उसने सोचा—'ब्राह्मणों को भोजन आदि परोसने एवं घर का कामकाज करने के लिए एक अच्छा-सा ईमानदार नौकर मिल जाय तो बहुत अच्छा हो।" फलत उसने अपने पडौस में रहने वाले 'भीम' नामक दास से इस बारे में पूछा। उसने कहा—"मैं आपके घर का काम-काज इसी शर्त पर कर सकता हूं कि ब्राह्मणों का भोजन हो जाने के बाद बचा हुआ सारा अन्नादि आप मुझे दे दें।" मुखप्रिय ने उसकी बात मंजूर कर ली। अब भीम उसके घर का कामकाज करने लगा।

और ब्राह्मणों के भोजन के बाद बचे हुए शेष भोजन को ले जाता। वह इस अवशिष्ट भोजन को शहर में विराजित साधु साध्वियों को बुला ला कर भिक्षा के रूप में दे देता था। इस पुण्य के प्रभाव से आयुष्य पूर्ण कर वह दास का जीव दिव्यसुखभोग वाले देवलोक का देव बना। वहां से च्यवन कर वह राजगृह नगर में राजा श्रेणिक के यहां नन्दीषेण नाम के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

इधर लाख ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले ब्राह्मण का जीव अनेक भवों में भ्रमण करने के बाद किसी अटवी में एक हथनी की कुक्षि में पैदा हुआ। हथनियों का स्वामी यूथपति (हाथी) किसी हथनी के जो भी बच्चा (हाथी) होता, उसे पैर के नीचे कुचल कर मार देता था। अतः उस हथनी ने सोचा—"मेरे गर्भ में इस बार जो बच्चा है, उसे मैं ऐसी जगह जन्म दूं, ताकि यूथपति को पता न लगे और वह उसे मारे नहीं। अगर वह बचा रहा तो भविष्य में वही यूथपति बन जायगा।" हथनी ने मन ही मन उपाय सोचा और वह झूठमूठ ही एक पैर से लंगड़ाती हुई चलने लगी। इस कारण वह कभी एक पहर से, कभी दो पहर से, कभी एक दो दिन के बाद अपने टोले में जा कर मिलती थी। यों करते करते जब प्रसवकाल नजदीक आया तो वह एक तापस-आश्रम में पहुंच गई और वहीं शिशुहाथी को जन्म दिया; और पुनः जा कर अपने टोले में मिल गई। उसके पश्चात् वह रोजाना अपने टोले में सबसे पीछे रह कर अपने शिशु को स्तनपान कराने तापसों के आश्रम में चली जाती और वापिस सद्भाव से आ कर अपने टोले में मिल जाती। इस प्रकार उसने गुप्तरूप से हस्तिशिशु का संवर्द्धन किया। तापस भी उसे अपने पुत्र के समान पालते थे। इसलिए वह तापसों का अत्यन्त प्रीतिभाजन बन गया। तापसों की संगति से वह भी अपनी सूंड में पानी भर कर आश्रम के वृक्षों को सींचने लगा। इस कारण तापसों ने उसका

यथार्थ नाम 'सेचनक' रख दिया। सेचनक धीरे-धीरे आश्रम में पल कर अतिबलिष्ठ जवान हो गया।

एक दिन सेचनक मस्ती से वन में घूम रहा था, तभी हाथियों का यूथपति (उसका पिता) उधर आ निकला। दोनों ने एक दूसरे को देखा और दोनो परस्पर भिड़ गये। इस आपसी युद्ध मे सेचनक ने यूथपति को यमलोक का मेहमान बना दिया। उसी दिन से वह सेचनक स्वयं यूथपति बन गया। एक दिन उसने सोचा— जिस तरह मेरी माता ने इस आश्रम मे गुप्तरूप से मुझे जन्म दिया, पाला-पोसा, बड़ा किया और मैं अपने पिता को मार कर स्वयं यूथपति बना; इसी प्रकार भविष्य में इस टोले की कोई हथिनी भी इसी प्रकार गुप्तरूप से आश्रम में किसी बच्चे को जन्म देगी तो वह भी बड़ा हो कर मुझे मार कर स्वयं यूथपति बन बैठेगा। अतः इस झंझट की जड़-आश्रम को ही क्यों न खत्म कर दिया जाय।' मन मे निर्णय करके सेचनक आश्रम मे पहुचा और बावला बन कर उसने आश्रम की तमाम झोपड़ियां नष्टभ्रष्ट कर डालीं। इससे तापस बड़े क्रुद्ध हुए और परस्पर कहने लगे-"अरे! देखो तो सही इस कृतघ्न हाथी को! हमने तो इसका पुत्रवत लालनपालन किया और आज यह हमारे ही आश्रम को उजाड रहा है। अतः अब किसी भी तरह से इसे बन्धन मे डलवा कर सजा देनी चाहिये।' तापसों ने राजा श्रेणिक के पास जा कर प्रार्थना की—"राजन्! हम जिस वन मे रहते है, उस मे एक बहुत श्रेष्ठ हाथी है। वह राजा के ग्रहण करने योग्य हस्तिरत्न है; इसलिए आप उस हाथी को वहां से पकड़ मंगावे।" श्रेणिकराजा ने तापसों की बात सुन कर उस सेचनक हाथी को सारे परिवार-सहित वन मे जा कर पकडने की बहुत चेष्टा की, लेकिन सफलता न मिली। सयोगवश इतने मे नन्दीषेणकुमार भी खेलता-खेलता वहाँ आ पहुचा। उसने ज्यों ही हाथी को सम्बोधित करके उसकी

नन्दीषेणमुनि ने सामायिक से ले कर दस पूर्वो तक का शास्त्रज्ञान प्राप्त किया। साथ ही वह छट्ठ-अट्ठम-आतापना आदि तपस्याएं करता हुआ महाकष्ट और अनेक उपसर्ग समभावपूर्वक सहने लगा, जिससे उसे क्रमशः बहुत-सी लब्धियां प्राप्त हो गई। मगर उसके साथ-साथ कामोदय में भी दिनोंदिन वृद्धि होती जाती थी।

एक दिन नन्दीषेणमुनि के मन में विचारों का झंझावात उठा कि 'मैंने भगवान और देवों के मना करने पर भी उत्साहित हो कर मुनि-दीक्षा ली; परन्तु काम का वेग तेजी से बढ़ता जा रहा है, इसलिए कहीं ऐसा न हो कि यह काम अपने अंगुल में फंसा कर मेरे महाव्रतों को ले बैठे। अतः समय रहते कोई ऐसा उपाय कर लू, जिससे काम मुझे परवश करके अपने चगुल मे फसाए, उससे पहले मैं अपना इहलौकिक कार्य सिद्ध कर लू।' नन्दीषेण ने उसके उपाय के रूप में आत्महत्या कर लेने का निश्चय किया। परन्तु ज्यो ही उसने शस्त्र से घात करने या गले मे फंदा डालने आदि प्रयास किये, त्यों ही शासनदेवी ने उसके सारे प्रयास विफल कर दिये। फिर किसी दिन उसके मन मे प्रबल कामज्वर का तूफान उठा कि वह पहाड पर चढ़ कर झंपापात करने (नीचे गिरने) लगा। मगर इस बार भी पर्वत से नीचे गिरते हुए को शासनदेवता ने हाथों मे झेल कर बचा लिया और कहा—"महानुभाव! तुम्हारा इस तरह आत्महत्या करने का प्रयास वृथा है। क्या आत्महत्या कर लेने से तुम्हारे निकाचित कर्मों का क्षय हो जायगा? निकाचित कर्मो को तो भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं। तीर्थंकर जैसों के भी निकाचित भोगावली कर्म भोगे बिना सर्वकर्मों का क्षय नही हुआ तो तुम कौनसी बिसात मे हो?" शासनदेव के ये वचन सुन कर नंदीषेणमुनि अकेले विहार करके एक दिन छट्ठ (बेले) तप के पारणे के लिए आहारार्थ राजगृही नगरी के उच्च-नीच-मध्यमकुलों में घूमते हुए

अनायास ही अनजाने में वेश्या के यहाँ पहुँच गए। ज्यों ही उन्होंने द्वार पर 'धर्मलाभ' शब्द का उच्चारण किया, त्यों ही अन्दर से वेश्या की आवाज आई—"यहाँ धर्मलाभ से क्या काम है? यहाँ तो अर्थलाभ की जरूरत है! तुम तो नंगे और निर्धन हो, अर्थलाभ कैसे दे सकोगे?" वेश्या के वचन मुनि के मन में तीर की तरह चुभ गये। उनका स्वाभिमान जागा और तुरंत ही उन्होंने घास की झोंपड़ी में से एक तिनका खींचा और अपनी तपोलब्धि के प्रभाव से साढ़े बारह करोड़ सोनैयों की वर्षा कर दी। फिर मानिनी वेश्या को ललकार कर कहा—'अगर तुम्हें धर्मलाभ की जरूरत नहीं है तो इस धन के ढेर को उठा लो।' यों कहकर मुनि ज्यों ही वेश्यागृह से बाहर निकलने लगते हैं, त्यों ही वेश्या ने दौड़कर उनकी चादर का पल्ला पकड़ लिया और उनके सामने अपनी बाँह फैलाकर कहा—"प्राणनाथ! यह मुफ्त का धन मेरे किस काम का? हम वारांगनाएँ हैं। विषयसेवन के द्वारा पुरुषों का मनोरंजन करने के पश्चात् ही हम अपने परिश्रम के बदले में धन लेती हैं। आप या तो इस धन को अपने साथ ले जाइए, या फिर मेरे यहीं आनन्द से रह कर इस धन के बदले में मेरे साथ विषयसेवन का उपभोग करें। आपका यह सुकोमल सुन्दर शरीर, यह मस्ताती जवानी क्या यों ही तप की भट्टी में झोंक देने या अन्य कष्ट सहन करके सुखाने के लिए है? इसलिए आइए! अनायास ही मिले हुए इस धन, यौवन, मेरे सुन्दर तन और घर का मनचाहा उपभोग कीजिए!' वेश्या की कोमल अभ्यर्थना सुनकर भोगावली कर्म के उदय के कारण नन्दीषेणमुनि का मन पिघल गया। उन्होंने अपना रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि साधुवेष के उपकरण वहीं एक खूँटी पर टाँग दिये और वेश्या के यहाँ ही रहने लगे। परन्तु वेश्या के साथ विषयसुखों का उपभोग करते हुए भी वे इतने जागरूक थे

कि उन्होंने साधुवेष उतारा तभी से ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर लिया कि 'मैं रोजाना जब तक दस व्यक्तियों को धर्म का प्रतिबोध नहीं दे दूंगा, तब तक अन्नजल ग्रहण नहीं करूंगा।' इस तरह प्रतिदिन नन्दीषेण का प्रतिबोध का क्रम चलता रहा। जो भी उनसे प्रतिबोध पाता, वह भगवान महावीर स्वामी के पास जा कर दीक्षा ले लेता। यों वेश्या के यहाँ रहते हुए नंदीषेण को १२ वर्ष बीत गए।

एक दिन ऐसा हुआ कि नंदीषेण ने ६ व्यक्तियों को तो प्रतिबोधित कर दिया, परन्तु दसवां सुनारजाति का व्यक्ति ऐसा था कि वह किसी भी मूल्य पर नन्दीषेण की बात मानने को तैयार न था। जब नन्दीषेण त्याग-वैराग्य और सांसारिक विषयों की अनित्यता बता कर उसे प्रतिबोध देने लगा तो उसने तपाक से कह दिया—"इस तरह की बातें बघारते हो तो पहले तुम खुद ही गृहत्याग करके चारित्र ग्रहण क्यों नहीं कर लेते? क्यों वेश्या के यहाँ पड़े हो?" जब नन्दीषेण ने उससे कहा कि 'मेरे तो मोहकर्म का उदय है' तब उसने भी वही बात दोहरा दी।" वेश्या ने उत्तम स्वादिष्ट भोजन बना लिया था, वह ठंडा हो रहा था। जब उसने दासी को कहला कर भेजा कि भोजन ठंडा हो रहा है, जल्दी पधारो' तो नन्दीषेण ने उत्तर दिया कि "दसवां आदमी प्रतिबोधित होते ही मैं आता हूँ।' पर दसवां आदमी कोई तैयार नहीं हो रहा था। आखिर कई घंटों की प्रतीक्षा के बाद वेश्या स्वयं बुलाने आई और हाथ पकड़ कर कहने लगी—'प्राणनाथ! पधारो न! देर क्यों कर रहे हैं अब!' 'अभी आया दसवे पुरुष को प्रतिबोध दे कर' वेश्या दूसरी और तीसरी बार बुलाने आ चुकी; और उसने कहा—'प्रिय! शाम होने आई है। मैं भी भूखी हूँ, आपने अभी तक कुछ नहीं खाया है; चलो।" परन्तु नन्दीषेण ने कहा—"सुनयने! चाहे कुछ

भी हो जाय, दसवें आदमी का प्रतिबोध दिए बिना मैं भोजन नहीं कर सकता। मैं अपना नियम भंग नहीं कर सकता।" वेश्या ने तैश में आ कर कह दिया—"जब दसवां और कोई आदमी प्रतिबोध पाने को तैयार नहीं होता तो उसके स्थान पर आप अपने को प्रतिबोधित मान लें और किसी भी तरह से इस नियम को पूरा करके भोजन तो कर लें।" वेश्या के वचन सुन कर नन्दीषेण का सोया हुआ मन जाग्रत हो गया। नन्दीषेण के भोगावली कर्म अब क्षीण होने को थे। सहसा उसने निश्चय कर लिया कि मैं ही प्रतिबोध के लिए तैयार क्यों न हो जाऊं!" बस, शीघ्र ही खूंटी पर टंगे हुए अपने मुनिवेश के उपकरण उतार कर धारण किये और वेश्या को 'धर्मलाभ' कह कर वहाँ से चलने लगा। वेश्या ने बहुत आनाकानी करते हुए कहा—"स्वामिन्! मैंने तो मजाक में यह बात कही थी। आपने इसे सच्ची कर बताई। अतः आप मुझे अकेली को छोड़ कर कहाँ जा रहे हैं? आपके बिना मेरी जिन्दगी सूनी हो जायगी।" नन्दीषेण बोले—"तुम्हारे साथ मेरा इतना ही सम्बन्ध था। अब मैं हर्गिज यहाँ नहीं रह सकता।" यों कह कर नन्दीषेण सीधे भ० महावीर के पास पहुंचे और उनसे पुनः मुनिदीक्षा ले कर निरतिचार चारित्राराधना करने लगे। अन्तिम समय में अनशन करके आयुष्य पूर्ण कर वे देवलोक में पहुंचे। जैसे नन्दीषेण मुनि दशपूर्वधर थे, उपदेशलब्धिसम्पन्न और प्रतिबोधकुशल भी थे, मगर निकाचित कर्म बंधे हुए होने के कारण वे उन्हें भोगे बिना चारित्राराधना न कर सके। इसलिए कर्मों का कोई विश्वास नहीं करना चाहिये।

कलुसीकओ य किट्टीकओ खउरीकओ मलिणिओ य।
कम्मेहि एस जीवो नाऊण वि मुज्झई जेण ॥२४६॥

शब्दार्थ—'जैसे धूल से भरा हुआ पानी कीचडवाला (मैला) हो जाता है, लोहे के जंग लग जाने पर वह भी मलिन हो जाता है

और लड्डू पुराना हो जाने पर उसका स्वाद बिगड़ जाता है, उसमें से बदबू आने लगती है, उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों से लिप्त हो कर मलिन हो जाता है, विषय, कषाय, विकथा, प्रमाद आदि बुराइयों के जग लग जाने से बिगड़ जाता है, अथवा विषयवासनाओं आदि के चक्कर में वर्षों फंसा रह कर अपना स्वभाव खराब कर लेता है। संसारी जीव यह जानते हुए भी मोह से मूढ़ बना रहता है, इसके पीछे निकाचित कर्मदोष ही कारण है।'

कम्मेहिं वज्जसारोवमेहिं, जउनंदणो वि पडिबुद्धो।

सुबहुं पि विसूरंतो, न तरइ अप्पक्खमं काउं ॥२५०॥

शब्दार्थ—'यदुनन्दन श्री कृष्ण क्षायिकसम्यक्त्वी होने के कारण स्वयं जागृत थे और अपनी पापकरणी के लिए बहुत पश्चात्ताप भी करते थे, किन्तु वज्रलेप के समान गाढ चिपके हुए निकाचित कर्मों के कारण आत्महितकारक तप, जप आदि कोई भी अनुष्ठान न कर सके। अपने आत्महित की साधना करना सरल बात नहीं है। इसके लिए महान् पुण्योदय आवश्यक है।'

वाससहस्सं पि जई काउणं संजमं सुविउलंपि।

अंते किलिट्ठभावो न विसुज्झइ कुंडरीउव्व ॥२५१॥

शब्दार्थ—'एक हजार वर्ष तक प्रचुरमात्रा में तप-संयम की आराधना करके भी कोई मुनि यदि अन्तिम समय में अशुभ परिणाम ले आता है, तो वह कर्मक्षय करके विशुद्ध नहीं हो सकता। वह अपने अन्तिम क्लिष्ट (रागद्वेषयुक्त) भावों के कारण दुर्गति में ही जाता है; जैसे कुण्डरीकमुनि मलिन परिणामों के कारण नरक में गया।'

अप्पेण वि कालेण केई जहागहियसीलसामन्ना।

साहंति नियकज्जं पुंडरीयमहारिसीव्व जहा ॥२५२॥

शब्दार्थ—'जिस भाव से शील चारित्र-ग्रहण करते हैं, उसी भाव से शील चारित्र की आराधना करने वाले कई साधु अल्पकाल में ही अपना कार्य (सद्गति प्राप्ति रूप या मोक्षप्राप्तिरूप कार्य) सिद्ध कर लेते हैं, जैसे महर्षि पुण्डरीक ने अल्पकाल में ही सद्गति प्राप्त कर ली थी।'

इस सम्बन्ध में पुण्डरीक और कुण्डरीक दोनों की कथा एक दूसरे से सम्बन्धित होने से दोनों की कथा एक साथ ही दी जा रही है—

कुण्डरीक और पुण्डरीक की कथा

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत महाविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती-विजय में पुण्डरीकिणी नाम की महानगरी थी। वहाँ महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा की रानी से पुण्डरीक और कुण्डरीक नाम के दो पुत्र हुए। एक बार महापद्म राजा को संसार से विरक्ति हो जाने से उसने अपने बड़े पुत्र पुण्डरीक को राजगद्दी तथा छोटे पुत्र कुण्डरीक को युवराजपद दे कर स्वयं ने एक स्थविर मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। महापद्ममुनि चारित्र की सम्यक् आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पहुंचे। पुण्डरीक राजा राज्यसंचालन करने लगे।

एक दिन भाइयों ने किसी स्थविर मुनि से धर्मोपदेश सुना, जिससे दोनों को संसार से विरक्ति हो गई। पर आते ही बड़े भाई पुण्डरीक ने अपने छोटे भाई कुण्डरीक से कहा—'भाई ! मैं स्थविरमुनि से मुनिदीक्षा ले कर स्व पर-कल्याण करना चाहता हूँ। तुम यह राज्य ग्रहण करो और प्रजा का पुत्रवत् पालन करो।" कुण्डरीक ने फौरन कहा—"बड़े भाई ! मुझे इस वैराग्य में बाधक राज्य से क्या प्रयोजन ! पिताजी ने आपको राज्य दिया है, आप ही इसे सम्भालें।

मैं तो स्थविर मुनि से सर्वविरतिचारित्र ग्रहण करना चाहता हूं।" यों सविनय निवेदन करके अपने बड़े भाई से आज्ञा ले कर कुण्डरीक ने मुनिधर्म ग्रहण कर लिया। दीक्षा के बाद उसने ११ अंगशास्त्रों का अध्ययन किया। स्थविरमुनियों के साथ उग्रविहार करने और प्राय रूखा-सूखा नीरस आहार करने से कुण्डरीक के शरीर मे एक महारोग पैदा हो गया।

एक बार विहार करते हुए वे पुंडरीकिणी नगरी आए। पदार्पण के समाचार सुनकर पुण्डरीक राजा भी उन्हें सहर्ष वन्दनार्थ पहुंचा। राजा ने पहले अन्य स्थविरमुनियों को और फिर अपने भाई कुण्डरीक मुनि को वन्दना की तो उन्हें अत्यन्त रुग्ण और दुर्बल जान कर वह अपनी यानशाला मे विनति करके ले गया। वहाँ राजा ने कुण्डरीक मुनि की चिकित्सा शुद्ध औषध द्वारा करवाई। इससे उनका शरीर स्वस्थ हो गया। अतः स्थविर मुनियों ने तो वहाँ से विहार करने की इच्छा राजा के सामने प्रगट की; मगर कुण्डरीक मुनि स्वादिष्ट, मिष्ट और गरिष्ठ भोजन मे आसक्त होने के कारण विहार के बारे में चुप रहे। फिर पुण्डरीक राजा स्थविरमुनियों को वन्दन करके अपने मुनि-भ्राता की प्रशंसा करने लगे—"भाई! धन्य है आपको! आप बड़े पुण्यवान हैं, कृतार्थ हैं; अपने उत्तम मनुष्यजन्म सफल बना लिया है; क्योंकि आप चारित्र अंगीकार करके तप-संयम की आराधना कर रहे हैं। मैं तो अधन्य हूँ, पुण्यहीन हूं; क्योंकि मैं राज्यसुख मे मूर्च्छित हूं।" इस प्रकार राजा के द्वारा कुण्डरीक मुनि की बारबार प्रशंसा किये जाने पर भी उनके मन में जरा भी प्रसन्नता पैदा नहीं हुई। आखिरकार लज्जावश उदास मन से कुण्डरीक मुनि ने भी राजा से विहार की अनुमति मांगी और स्थविरमुनियों के साथ विहार कर दिया। परन्तु मन मे रह-रह कर पांचों इन्द्रियों के विषयभोगों की ललक उठती रही। अन्ततः एक हजार वर्ष तक पालन किए

हुए चारित्र को मिट्टी में मिला देने वाले अशुभ परिणामों ने जोर पकड़ा और एक दिन वे अपने गुरुदेव से पूछे बिना ही चुपके से अकेले चल दिये और पुण्डरीकिणी नगरी जा पहुँचे। वहाँ राजमहल के निकटवर्ती अशोकवन में अशोकवृक्ष की शाखा पर अपने उपकरण टांग कर उसी वृक्ष के नीचे अनमना व चिन्तातुर हो कर बैठ गये। सहसा उनकी धायमाता की दृष्टि उस पर पड़ी। धायमाता ने कुण्डरीक के चेहरे पर से उसके दुःखित होने का अंदाजा लगा कर पुण्डरीक राजा को जा कर खबर दी। राजा सुनते ही भ्रातृस्नेहवश उसके पास पहुंचा। उसके चेहरे पर से उसके मनोगत भावों को ताड़ कर राजा ने एक ओर ले जा कर उससे पूछा—'भाई! क्या आपकी इच्छा सासारिक विषयभोगों के आस्वाद करने की हुई है? जो भी बात हो, आप निःसकोच हो कर साफ साफ कहो!" कुण्डरीक ने सासारिक सुखभोग और राज्यप्राप्ति की अपनी अभिलाषा को स्पष्ट स्वीकार किया। उदारमना पुण्डरीक राजा ने तत्काल अपने कुटुम्बियों को बुलाया और सबके साथ विचारविमर्श करके कुण्डरीक का राज्याभिषेक कर दिया।

कुण्डरीक ने राजगद्दी पर बैठते ही बहुत दिनों से दबी हुई विषयेच्छाओं को उभारा। शरीर कमजोर था, पाचनशक्ति क्षीण हो चुकी थी, लेकिन डट कर स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन किया, अन्य विषयाभिलाषाओं को भी वह तृप्त करने लगा। परिणामस्वरूप उसके शरीर में भयकर वेदना हुई, लेकिन घरवालों व जनता ने किसी ने भी उसकी चिकित्सा आदि न करवाई, न ही सेवा की। सभी ने यही सोचा कि 'इस पापात्मा ने इतने वर्षों के चारित्र का तिलाञ्जलि दे कर राज्य ग्रहण किया है, यह हमें क्या सुख देगा?' कुण्डरीक को मन्त्री आदि के इस रूखे व उपेक्षाभरे व्यवहार से बड़ा बुरा लगा और गुस्सा चढ़ा। वह मन क्रोध से भन्नाते हुए मन ही मन

निश्चय किया—'ठीक है, इस समय मेरी कोई सेवा नहीं करता; मैं स्वस्थ हो जाने पर इन सबकी खबर लूंगा। एक-एक को चुन-चुन कर सजा दूंगा।' यों आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के भयंकर परिणामों से उसी रात को मर कर वह तैंतीस सागरोपम की आयुवाला सप्तम नरक का अधिकारी हुआ। सच है, जो दुर्लभ चारित्ररत्न को पा कर विषयसुख के कीचड़ में पड़ता है, वह कुण्डरीक के समान दुर्गति ही प्राप्त करता है।

इधर पुण्डरीक ने कुण्डरीक को राज्य सौंप कर उसी समय स्वयं चातुर्याम (भ० अरिष्टनेमि आदि २२ तीर्थंकरों के समान महाविदेह क्षेत्र में भी चार महाव्रत ही लिये जाते हैं) महाव्रत अंगीकार करके कुण्डरीक के ही मुनिवेष के उपकरण धारण कर लिये और मन ही मन ऐसा अभिग्रह धारण करके वहाँ से प्रस्थान किया—"स्थविरमुनियों के दर्शन-वन्दन जब तक नहीं कर लूंगा, तब तक मैं आहार ग्रहण नहीं करूंगा।" नंगे पैर पैदल चलने का पुण्डरीक को अभ्यास नहीं था, इस कारण रास्ते में कांटे-कंकर आदि से पैर छिद गये, भूख-प्यास के मारे शरीर लड़खड़ा गया, फिर भी साहसी और वैराग्यवली पुण्डरीक उत्साहपूर्वक इन उपसर्गों व कष्टों को सहते हुए और मन में स्थविरमुनियों के दर्शन-वन्दन की उत्कण्ठा लिए आगे से आगे बढ़ते गये। आखिर वे अत्यन्त थके, भूखे-प्यासे कष्ट-पीड़ित-से दूसरे दिन स्थविरमुनियों के पास पहुंचे। उन्हें विधिपूर्वक वन्दन करके उनसे प्रार्थना करके उनके मुख से चार महाव्रतों का विधिवत् ग्रहण किया। उसके पश्चात् जैसा भी रूखा-सूखा नीरस आहार मिला, ले कर छठ (बेले) तप का पारणा किया। अत्यन्त थकावट तथा रूखा-सूखा आहार करने के कारण आधीरात को शरीर में अचानक भयंकर पीड़ा हुई। मगर पुण्डरीक मुनि ने तीव्र शुभ परिणामों से उसे दृढ़तापूर्वक सहा। विशुद्ध ध्यान में लीन होते हुए

ही मृत्यु का स्वीकार किया और सीधे ३३ सागरोपम की आयु वाले सर्वार्थसिद्ध विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहां से आयुष्य पूर्ण कर वे पुनः महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर धर्मकरणी करके वहां से सिद्धगति में पहुंचे।

इसी प्रकार थोड़े समय तक भी जो शुद्धरूप से चारित्र का प्रतिपालन करता है, वह पुण्डरीकमहर्षि के समान अक्षयसुख प्राप्त करता है।

काऊण संकिलिट्ठं सामन्नं दुल्लहं विसोहिपयं।
सुज्झिज्जा एगयरो करिज्ज जइ उज्जमं पच्छा ॥२५३॥

शब्दार्थ—'जिसने पहले चारित्र (श्रामण्य) को दूषित कर दिया हो, उसे बाद में चारित्र की शुद्धि करना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। परन्तु यदि कोई चारित्र की विराधना हो जाने के तुरंत बाद ही प्रमाद को छोड़ कर विशुद्धरूप से चारित्रपालन करने में उद्यम करता है तो वह कदाचित् अपनी शुद्धि कर सकता है।'

उज्झिज्ज अंतरच्चिय, खंडिय सबलादउव्व हुज्ज खणं।
ओसन्नो सुहलेहड न तरिज्जव पच्छ उज्जमिउं ॥२५४॥

शब्दार्थ—'परन्तु जो साधक साधुधर्म अंगीकार करने के बाद बीच में व्रतभंग करके चारित्र को खंडित कर देता है तथा प्रतिक्षण अशुद्ध भावों के वश अनेक प्रकार के अतिचारों (दोषों) का सेवन करके चारित्र को कलुषित (मलिन) बनाता रहता है, उस शिथिल और सुखलम्पट साधु का पुनः संयम की शुद्धि के लिये उद्यम करना दुष्कर है।

अवि नाम चक्कवट्टी चइज्ज सव्वं पि चक्कवट्टिसुहं।
न य ओसन्नविहारी दुहिओ ओसन्नयं चयइ ॥२५५॥

शब्दार्थ—'छह खण्ड (राज्य) का अधिपति चक्रवर्ती अपने चक्रवर्तीजीवन के सभी सुखों को छोड़ने को तैयार हो सकता है, लेकिन शिथिलविहारी दुखित होते रहने पर भी अपनी शिथिलाचारिता को छोड़ने को तैयार नहीं होता। क्योंकि चीकने (निकाचित) कर्मों से लिप्त होने के कारण वह अपनी आचारभ्रष्टता को छोड नहीं सकता।

नरयत्थो ससिराया, बहु भणइ देहलालणासुहिओ।
पडिओमि मए भाओ अ, तो मे जाएअ तं देह ॥२५६॥

शब्दार्थ—"नरक मे निवास करते हुए शशिप्रभ राजा ने अपने भाई से बहुत कुछ कहा—"भाई! मैं पूर्वजन्म मे शरीर के प्रति अत्यन्त लाडप्यार करके सुखलम्पट बन गया था, इसी कारण इस जन्म मे नरक मे पडा हूँ। अब तुम मेरे पूर्वजन्म के उस देह को खूब यातना दो, उसकी भर्त्सना करो।"

प्रसंगवश यहाँ शशिप्रभ राजा की कथा दी जा रही है—

शशिप्रभराज की कथा

कुसुमपुर नगर मे जितारि नामक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे—शशिप्रभ और सूरप्रभ। अपने बडे पुत्र शशिप्रभ को राजपद तथा छोटे पुत्र सूरप्रभ को युवराजपद दे कर राजा धर्माराधना मे तत्पर हो गया। एक बार नगर में चतुर्ज्ञानधारक श्री विजयघोषसूरि पधारे। उनके दर्शन-वन्दनार्थ शशिप्रभ और सूरप्रभ दोनों भाई पहुंचे। गुरुदेव से धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् सूरप्रभ को संसार से विरक्ति हो गई। प्रतिबुद्ध सूरप्रभ ने घर आ कर अपने बडे भाई से सविनय निवेदन किया—"बन्धु! यह संसार असार है। इन क्षणिक विषयसुखों का भी कोई भरोसा नहीं है। इसलिए मै इन सब विषयों व उनके साधनों को छोड कर साधुधर्म अंगीकार करके तप-

संयम में उद्यम करूंगा, जिससे स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर सकूं।" सुनते ही शशिप्रभ ने कहा—"भैया! किसी धूर्त के बहकावे में आ गए दिखते हो। यही कारण है कि जो विषयसुख अभी प्राप्त हैं, अपने हाथ में हैं, उन्हें ठुकरा कर तुम भविष्य के अप्राप्तसुखों को पाने की इच्छा कर रहे हो! तुम विचारमूढ़ मालूम होते हो। अरे! भविष्य के सुख देखे किसने हैं? और कौन जानता है, धर्म का फल मिलेगा या नहीं?" सूरप्रभ ने शान्तभाव से कहा—"भाई! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? धर्म का फल अवश्य ही मिलता है, क्योंकि पुण्य और पाप का फल तो प्रत्यक्ष प्राप्त होता हुआ हम देखते हैं। देखिए, संसार में एक जीव रोगी है, एक निरोग है, एक सुरूप है, दूसरा कुरूप; एक धनवान है, दूसरा निर्धन; एक भाग्यशाली है, एक अभागा है, ये और इस प्रकार के सब अन्तर पुण्य पाप के ही फल हैं।" इस प्रकार का तात्त्विक उपदेश देने पर भी शशिप्रभ को गुरुकर्मा होने के कारण जरा भी प्रतिबोध न लगा। आखिर सूरप्रभ ने वैराग्यभाव से अकेले ही मुनिदीक्षा ग्रहण की और तपसंयम की आराधना करके आयुष्य पूर्ण कर वह ब्रह्मदेव लोक में देव बना।

शशिप्रभ राजा आसक्तिपूर्वक राज्यसंचालन करता हुआ विषयसुखों में, रागरंग में, ऐशोआराम में, बढ़िया खान-पान में, शरीर को मलमल कर नहाने धोने और वस्त्राभूषणों से सजाने संवारने में ही रातदिन डूबा रहता था। वह अपनी जिंदगी में कुछ भी त्याग, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान, तप, जप आदि न कर सका। फलतः शरीर-सुखासक्ति की भावना में ही मर कर तीसरी नरक का नारकीय जीव बना। सूरप्रभदेव ने अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म के भाई को नरक में स्थित देखा। उसे बड़ा अफसोस हुआ। वह पूर्वजन्म के भाई स्नेहवश नरकभूमि में पहुंचा और अपने नारक बने हुए भाई को उसके पूर्वजन्म का स्वरूप बताया। साथ ही यह भी कहा—

"भाई ! पूर्वजन्म मे मैंने तुम्हें बहुत समझाया, लेकिन तुम बिलकुल न माने। इसीलिए अब तुम इस नरक मे पैदा हुए हो।" देव की बात सुन कर शशिप्रभ नारक ने अपने पूर्वजन्म का स्वरूप विभंगज्ञान से जाना तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने वेदनाभरे स्वर मे कहा—"भाई ! मैंने पूर्वजन्म मे शरीर के लालन-पालन और विषयसुखों मे आसक्त हो कर धर्म की बिलकुल आराधना नहीं की। अब तो मैं नरक मे पड़ा हुआ क्या कर सकता हूँ ! तुम पूर्वजन्म की भूमि मे जाकर मेरे उस शरीर को यातना दो, ठोकरें मार-मार कर उसकी भर्त्सना करो ताकि मैं किसी भी तरह से कर्म का बोझ हलका करके इस नरक से निकल सकूं।" इस पर सूरप्रभदेव ने कहा—

> को तेण जीवरहिएण, संपय जाइएण हुज्ज गुणो।
>
> जइ सि पुरा जायंतो, तो नरए नेव निवडंतो ॥ २५७ ॥

शब्दार्थ—'भाई ! पूर्वजन्म के निर्जीव (मृत) शरीर को अब लातें मारने, पीडा देने व विडम्बित करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यदि तुमने पूर्वजन्म मे ही उस शरीर को तप-संयमादि मे लगा कर थोडी-सी भी पीडा दी होती तो नरक से भी तुम्हें लौटने का मौका आता अथवा नरक मे जाने का अवसर ही न आता ! पर अब क्या हो सकता है ? अब तो अपने किये हुए कर्मों का फल तुम्हें भोगना ही पडेगा। इनसे छुटकारा दिलाने मे अब कोई भी समर्थ नहीं है।"

इस प्रकार नरक में स्थित अपने भाई शशिप्रभ के जीव को प्रतिबोध दे कर सूरप्रभ देव अपने स्थान पर लौट आया। हे भव्यजीवो ! शशिप्रभ के इस दृष्टान्त को जान कर—

> जावाउ सावसेसं जाव य थोवोवि अत्थि ववसाओ।
>
> ताव करिज्ज अप्पहियं, मा ससिराया व्व सोइहिसि ॥२५८॥

शब्दार्थ—'जहाँ तक अपनी आयु शेष हो, जहाँ तक अपने शरीर और मन में थोड़ा सा भी उत्साह है, वहाँ तक आत्महितकारी तप संयमादि का अनुष्ठान कर लेना चाहिये, अन्यथा बाद में शशिप्रभ राजा की तरह पछताने का मौका आएगा।'

> चित्तूण वि सामन्नं संजमजोएसु होई जो सिढिलो ।
> पडइ जइ वयणिज्जे सोयइ य गओ कुदेवत्तं ॥२५९॥

शब्दार्थ—'जो साधक साधुजीवन (श्रमणत्व) ग्रहण करके संयम की साधना में शिथिल (प्रमादी) बन जाता है वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है परलोक में भी कुदेवत्व या दुर्गति प्राप्त कर वह पछताता है। शिथिलाचार दोनों लोकों में हानिकारक है। इसलिए शिथिलाचारिता त्याग करना चाहिये।

> सुच्चा ते जियलोए जिणवयणं जे नरा न याणंति ।
> सुच्चाण वि ते सुच्चा जे नाऊण वि न करेंति ॥२६०॥

शब्दार्थ—जो मनुष्य अपने अविवेक या प्रमाद के कारण जिन वचनों को जानते नहीं, इस जीवलोक में उनकी दशा शोचनीय होती है लेकिन उनसे भी बढ़ कर अति-शोचनीय दशा उन लोगों की होती है, जो जिनवचनों को जानते बूझते हुए भी प्रमादवश तदनुसार अमल में नहीं लाते। वस्तुतः जानबूझ कर भी प्रमादवश जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता, उसकी अन्त में बड़ी दुर्दशा और दुर्गति होती है।'

> दावेऊण धणनिहिं तेसिं उप्पाडियाणि अच्छीणि ।
> नाऊण वि जिणवयणं जे इह विहलंति धम्मधणं ॥२६१॥

शब्दार्थ—'इस संसार में जो जिनवचन को भलीभांति जान कर भी विषय, कषाय और प्रमाद के वशीभूत हो कर अपने धर्मरूपी

धन को खो देते हैं, उन्होंने स्वर्ग, रत्न आदि धन का खजाना रंकजनों को दिखा कर उनकी आँखें फोड़ दी है। मतलब यह है कि अभागा व्यक्ति धर्म (ज्ञानदर्शनरूपी)-धन पा कर भी उसका वास्तविक फल नहीं कर सकता।'

ठाणं उच्चुच्चयर मज्झ हीणं च हीणतरगं वा।
जेण जहिं गतव्वं चिट्ठा वि से तारिसी होई ॥२६२॥

शब्दार्थ—'देवलोकरूपी उच्च स्थान, मोक्षगतिरूपी उच्चतर स्थान मनुष्यगतिरूपी मध्यम स्थान, तिर्यञ्चगतिरूपी हीन और नरकगतिरूपी हीनतर स्थान मे से जिस जीव को जिस स्थान में जाना हो, वह वैसी ही चेष्टा करता है।' जैनशास्त्र मे बताया है—'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' (जो जीव जिस लेश्या मे मरता है, वह मर कर उसी लेश्या वाले स्थान में पैदा होता है)।

जस्स गुरुंमि परिभवो, साहुसु अणायरो खमा तुच्छा।
धम्मे य अणहिलासो, अहिलासो दुग्गइ एओ ॥२६३॥

शब्दार्थ—'जिसके मन मे गुरु के प्रति अपमान की वृत्ति है, साधुओं के प्रति अनादरबुद्धि है, जो बात-बात मे रोष से उबल पड़ता है, जिसकी क्षान्ति आदि दश प्रकार के श्रमणधर्म में बिलकुल रुचि नहीं है, ऐसी अभिलाषा दुर्गति मे ले जाने वाली है।'

सारीरमाणसाण, दुक्खसहस्साणं वसणपरिभीया।
नाणकुसेण मुणिणो, रागगइंदं निरुंभंति ॥२६४॥

शब्दार्थ—'शारीरिक और मानसिक हजारों दुःखों के आ पड़ने से डरे हुए या डरने वाले मुनिवर ज्ञानरूपी अंकुश से रागरूपी हाथी को वश में कर लेते हैं।'

भावार्थ—'अनेक प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि उत्पन्न करने वाले रागद्वेष आदि दोषों के विशेषज्ञ मुनिराज सतत अपने ज्ञानबल से नियंत्रित करते रहते हैं।'

मुग्गइमग्गपईवं नाण दितस्स हुज्ज किमदेयं।
जह त पुलिंदएण दिन्न सिवगस्स नियनेत्तं ॥२६४॥

शब्दार्थ—'मोक्षरूपी सद्गति के मार्ग को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान निज ज्ञानी गुरुदेव (धर्माचार्य) ने ज्ञानरूपी नेत्र दिये हैं, ऐसे उपकारी गुरु को नहीं देने योग्य कौन सी वस्तु है? ऐसे ज्ञानदाता गुरु के चरणों में तो अपना सर्वस्व जीवन समर्पित करने योग्य है। जैसे उस पुलिंद भील ने अपनी आँख महादेव को समर्पित कर दी थी। इसी प्रकार सच्चे देवाधिदेव व गुरुदेव के प्रति भक्तिभाव रखना चाहिये।'

प्रसंगवश यहाँ पुलिंद भील की कथा दी जा रही है—

पुलिंद भील की कथा

विन्ध्याचल पर्वत की एक गुफा में किसी व्यन्तर से अधिष्ठित महादेव की मूर्ति थी। उसकी पूजा करने के लिए पास के ही गाँव का मुग्ध नामक व्यक्ति रोजाना आया करता था। वह पहले उस स्थान की सफाई करता, फिर शुद्धजल से शिवमूर्ति का प्रक्षालन करता, तत्पश्चात् केसर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से उसका पूजा करता था। उसके बाद पुष्पमाला चढ़ा कर धूप दीप आदि यथाविधि करता था। फिर एक पैर से खड़ा हो कर वह शिवजी की स्तुति, ध्यान आदि करके मध्याह्न के समय अपने घर लौट कर भोजन किया करता था। इस तरह का उसका नित्यक्रम था। एक दिन जब मुग्ध पूजा करने आया तो देखा कि किसी ने अपने द्वारा की गई पूजा की सामग्री को हटा कर धतूरा कनेर आदि के पुष्पों से

शिवमूर्ति की पूजा की है। यह देख उसने सोचा—"इस जंगल में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो मेरी पूजासामग्री हटा कर हमेशा शिवमूर्ति की पूजा करता है? आज छिप कर उसे देखना चाहिये।" अतः मुग्ध पुजारी वहीं एक ओर छिप कर बैठ गया। तीसरे पहर में एक कालाकलूट व दाहिने हाथ में धनुष लिए तथा बाएं हाथ में आक, धतूरा, कनेर वगैरह के फूल आदि पूजा का सामान लिए हुए वहाँ आया। उसके मुंह में पानी भरा हुआ था। वह पैरों में जूता पहने ही सीधे मूर्ति के पास पहुंचा और तुरत मुंह में भरे हुए जल से मूर्ति के एक पैर का प्रक्षालन कर वहां आक, धतूरे आदि के फूल चढ़ा दिए। फिर उसने मूर्ति के पास मांस की एक पेशी रखी और इस प्रकार की भक्ति करके 'नमस्कार हो परमात्मा महादेव को' यों बोल कर शीघ्र ही वहाँ से निकल कर जाने लगा। तभी महादेव ने आवाज दे कर उसे बुलाया और पूछा—"ऐ सेवक! आज तुझे इतनी देर कैसे हुई? तुझे भोजन तो आराम से मिलता है न? तू निर्विघ्न तो रहता है न?" महादेवजी के प्रश्न सुन कर उसने उत्तर दिया—'स्वामिन्! जब आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे चिन्ता किस बात की?' यों कह कर वह भील चल दिया।

उसके चले जाने के बाद मुग्ध मूर्ति के पास आ कर बोला—"शिवजी! आज मैंने आपका ऐश्वर्य अपनी आँखों से देख लिया। जैसा आपका यह भील सेवक है, वैसे ही आप दीखते हो! क्योंकि मैं प्रतिदिन पवित्रतापूर्वक केसर, चन्दन तथा सुगन्धित पुष्प, धूप आदि से आपकी पूजा करता हूँ; फिर भी आप मुझ पर कभी प्रसन्न नहीं होते, और न मेरे साथ कभी बातचीत ही करते हैं, लेकिन उस गंदे, कालेकलूट और आपकी बेअदबी (आशातना) करने वाले भील के साथ प्रगट हो कर प्रसन्न हो कर बातचीत करते हैं।" यह सुन कर महादेव ने कहा—"वत्स! तुम्हारी और उस भील की

भक्ति में कितना अंतर है, यह मैं कभी तुम्हें बताऊंगा।" मुग्ध शिवजी की बात सुन कर अपने घर चला गया। दूसरे दिन मुग्ध उसी तरह पूजा करने आया, तब उसने देखा कि शिवजी के ललाट पर रहने वाला तीसरा नेत्र किसी ने गायब कर दिया है।" यह देख मुग्ध के मन में बड़ा खेद हुआ वह फूट-फूट कर रोने लगा—"अरे रे! यह क्या गजब हो गया? किस दुष्ट ने परमात्मा की तीसरी आँख निकाल ली? अब क्या होगा?" इस प्रकार काफी देर तक वह रोता रहा, फिर उसने पूजा आदि नित्यकृत्य पूर्ण किया।

कुछ समय बाद वह भील भी वहाँ आ पहुंचा। उसने जब महादेवजी की तीसरी आँख निकली हुई देखी तो कुछ देर तक तो वह भी मुग्ध की तरह अफसोस करता रहा। फिर उसने बाण से अपनी एक आँख निकाल कर शिवजी के कपाल पर लगा दी। जब तीनों नेत्र पूरे हो गए तब उसने प्रतिदिन की तरह पूजा की। उस समय शिवजी प्रगट हो कर बोले—'वत्स! मैं आज तेरी भक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। आज से तुझे बहुत सम्पत्ति मिला करेगी।" भील को यों वरदान दे कर शिवजी ने मुग्ध पुजारी से कहा—'देख लिया न तुमने, तुम्हारी और इस भील की भक्ति का अन्तर? ऐसी हार्दिक भक्ति से देव प्रसन्न होते हैं, केवल बाह्य भक्ति से नहीं।' यों कह कर शिवजी अन्तर्हित हो गए।

जिस प्रकार उस भील ने शिवजी की आन्तरिक भक्ति की उसी प्रकार सुशिष्यों को अपने गुरुदेव तथा ज्ञानदाता गुरुदेव की शुद्ध मन से भक्ति करनी चाहिए, यही इस कथा का तात्पर्य है।

सिंहासण निसन्न सोवाग सेणिओ नरवरिंदो।

विज्जं मग्गइ पयओ, इय साहुजणस्स सुयविणओ ॥२९९॥

क्या शर्त है ?" माली ने कहा—"मेरे साथ काम-क्रीडा करके मेरी इच्छा पूर्ण कर दे।" सुन्दरी बोली—"अभी तक मैं कुमारिका हूं। आज से पांचवे दिन मेरी शादी होने वाली है। शादी करते ही पहले दिन अपने पति के पास जाने से पहले मैं तुम्हारे पास आने का वचन देती हूं। अब तो मानोगे ?" माली ने उसकी बात मान ली। सुन्दरी वचनबद्ध हो कर वहां से अपने घर चली आई।

पांचवें दिन उसकी शादी हो गई। जब वह सुहागरात के समय पति के पास पहुची तो उसने माली को दिये गए वचन का सारा हाल अपने अपने पति को बताया और माली के पास जाने की आज्ञा मांगी। पति ने उसे सत्यवादी समझ कर जाने की आज्ञा दे दी। अतः कामोत्तेजक तथा शृंगारप्रसाधन की सर्वसामग्री ले कर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर वह आधी रात को ही वहाँ से चल पडी। गॉव से बाहर निकलते ही चोरों का सामना हुआ। वे उसके वस्त्राभूषण लूटने को तैयार हुए तब सुन्दरी ने कहा—"मैं माली के पास जा कर वापिस लौटते समय तुम्हें सारे वस्त्राभूषण उतार कर दे दूंगी। अभी तो मुझे जाने दो।" चोरों ने भी उसे सत्यवादी समझ कर जाने दिया। आगे जाते हुए रास्ते मे एक राक्षस मिला। वह उसे खाने को उद्यत हुआ। सुन्दरी ने उसे भी वचनबद्धता की सारी बाते कह कर वापिस लौटते समय आने का वचन दे कर उससे पिंड छुडाया। इस प्रकार संकटों को पार करती हुई बड़ी मुश्किल से वह बाग मे माली के पास पहुंची।

उसकी नई शादी, नई जवानी और नया आकर्षक रूप देख कर माली अत्यन्त हर्षित हुआ। मगर माली ने उससे पूछा—"सुनयने ! इस समय आधी रात को तू अकेली यहॉ तक कैसे आ पाई ?" सुन्दरी

की याद दिलाते हुए पति की आज्ञा से ले

ऍ आद्योपान्त कह सुनाईं। उसे सुन कर

माली ने सोचा—"धन्य है इस महिला को ! यह केवल अपने वचन का पालन करने के लिए अंधेरी रात में इतनी मुसीबतें झेल कर चोर और राक्षस को भी अपने बुद्धिकौशल से वचन दे कर मेरे पास आई है ! जब इसके पति ने, चोर और राक्षस ने इसको सत्यवादिनी देख कर इसे छोड़ दी, तब मुझे भी इस सत्यवादिनी स्त्री को छोड़ देना चाहिए।" फलतः माली ने सुन्दरी से कहा—"जाओ, मैं तुम्हें छोड़ता हूँ। आज से तुम मेरी बहन हो, मैं तुम्हारा भाई हूँ। तुम्हें कष्ट दिया उसके लिए क्षमा करो।' यों कह कर उसके चरणों में पड़ कर नमस्कार करके सम्मानसहित उसे अपने घर भेजी। रास्ते में जाते हुए उसे वह राक्षस मिला। उसके पूछने पर उसने माली के साथ हुई सारी घटना बता दी। सुन कर राक्षस ने विचार किया—'जब ऐसी नवयुवती सुन्दरी को सत्यवादिता के कारण माली ने सहगमन किए बिना ही छोड़ दी, तो मैं ऐसी *सत्यवादिनी सती का भक्षण क्यों करूँ ?'* अतः राक्षस ने उसे अपनी बहन बना कर ससम्मान जाने दी। आगे जाते हुए उसे वे चोर मिले। उनसे भी जब सुन्दरी ने माली और राक्षस का वृत्तान्त सुनाया तो उनका भी हृदय बदल गया। उन्होंने भी उसके जेवर, वस्त्र आदि न लूट कर, उसे बहन कह कर जाने की छुट्टी दे दी। आखिर वह अपने पति के पास पहुँची और उसे उसने सारी आपबीती सुनाई। इस पर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने अपने घर का सर्वस्व अधिकार उसे दे दिया।

इस कहानी को सुना कर अभयकुमार ने सभी उपस्थित लोगों से पूछा—"बताओ, इन चारों में से किसने दुष्कर कार्य किया है और क्यों ?" इसे सुन कर जो स्त्रीजाति पर अविश्वास रखते थे, उन्होंने कहा—"हमारी दृष्टि से उस स्त्री के पति ने ही दुष्कर कार्य किया है क्योंकि नई नई शादी थी, नई जवान रूपवती पत्नी को सुहागरात

के प्रथम संगम के दिन परपुरुष के पास भेज दी।" परस्त्रीलम्पट कामी पुरुष बोल उठे—"हमारी समझ में माली ने बड़ा दुष्कर किया है। आधीरात का समय था, एकान्त स्थान था और नवयौवना सुन्दरी स्त्री स्वयं चला कर पास में आई थी, फिर भी अपनी विषयेच्छा छोड़ कर मन को वश में रखा; उस स्त्री के साथ सहवास न किया।" जो मांसलोलुप लोग थे, उन्होंने राक्षस के त्याग की सराहना की। आम्रफल चुराने वाला चोर भी वहीं खड़ा था। उससे न रहा गया। उसने कहा—'मेरी राय में तो इन तीनों से बढ़ कर दुष्कर कार्य करने वाले उन चोरों को कहना चाहिए; जिन्होंने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित और पास में आई हुई उस स्त्री को लूटे बगैर छोड़ दी।" यह सुन कर मानवस्वभाव के पारखी अभयकुमार ने फौरन उस चाण्डाल को गिरफ्तार कर लिया और एकान्त में ले जा कर उससे पूछा—"सच-सच बता; क्या तू ने ही राजाजी के बाग में से आम चुराया है ? सच नहीं बताएगा तो भयंकर सजा दूंगा।" चाण्डाल ने भयभीत हो कर कहा—"हाँ, मंत्रीवर ! मैंने ही आम का फल चुराया है !" "भला, इतना सख्त पहरा होते हुए भी तूने कैसे और किस लिए आम चुराया ?" अभयकुमार ने पूछा। चाण्डाल ने अपनी गृहिणी को गर्भप्रभाव से इस बेमौसम में आम खाने का दोहद उत्पन्न होने और अन्य कोई चारा न देख कर अपनी दो विद्याओं के बल से राजोद्यान से आम प्राप्त करने का यथातथ्य निवेदन किया। अतः अभयकुमार ने उसे ले जा कर श्रेणिक राजा के सामने हाजिर किया। राजा ने उस चोर को मृत्युदण्ड देने का हुक्म सुनाया। इसे पर दयालु अभयकुमार ने राजा से कहा—"पिताजी ! इस सजा के देने से पहले इससे आप दो विद्याएं तो ग्रहण कर लें। उसके बाद जैसा उचित हो, वैसा करें।" इस पर राजा श्रेणिक सिंहासन पर बैठे-बैठे ही अपने

सामने रस्सियों से हाथ बांधे हुए चाण्डाल से विद्या सीखने लगा। मगर राजा को इतनी मेहनत करने पर भी उसका एक अक्षर भी याद न हुआ। यह माजरा देख कर अभयकुमार बोला— राजन् ! विद्या इस तरह से कभी नहीं आएगी। विद्या विनय से आती है। आप तो सिंहासन पर बैठे हैं और विद्यादाता को आपने हाथ जकड़े हुए नीचे खड़ा कर रखा है ! अब मेरी राय में विद्यागुरु को सिंहासन पर बिठाइए और आप स्वयं सामने हाथ जोड़ कर बैठिए, तभी विद्या आएगी।" राजा ने वैसा ही किया। इससे दोनों विद्याएँ शीघ्र ही हासिल कर लीं। विद्याग्रहण के बाद राजा ने उसे मारने की सजा देने का हुक्म सुनाया। अब अभयकुमार से न रहा गया। उसने कहा—'महाराज ! आपकी यह आज्ञा अनुचित है। क्योंकि नीति शास्त्र में बताया है कि 'एक अक्षर का भी ज्ञान देने वाले को जो गुरुरूप में नहीं मानता, वह मर कर सौ बार कुत्ते की योनि में और अन्त में चाण्डालयोनि में जन्म लेता है।' इसलिए अब जब यह चाण्डाल आपका विद्यागुरु हो गया, तब आप इसे कैसे मार सकते हैं ? अब तो आपके लिए यह आदरणीय और पूज्य हो गया है !" राजा ने अभयकुमार की बात मान कर चाण्डाल को बन्धनमुक्त करा कर उसकी सजा रद्द कर दी और अत्यन्त भक्ति सम्मान पूर्वक प्रचुर धन, वस्त्र आदि दे कर ससत्कार उसे विदा किया।

जब लौकिक विद्या के लिए भी इतने विनय की आवश्यकता है तो लोकोत्तर विद्या के लिए तो कहना ही क्या ? इसलिए प्रत्येक शिष्य को अपने गुरुजनों से विनयपूर्वक ही शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए, यही इस कथा का साराश है। अब प्रकारान्तर से विनय से सम्बन्धित बातें कहते हैं—

विज्जाए कासवमसियाए दगसूयरो सिरिं पत्तो।
पडिओ मुसं वयंतो सुयनिण्हवणा इय अपत्था ॥२६७॥

शब्दार्थ—'रातदिन शरीर को बार-बार पानी में ही डुबोए रखने वाले (अतिस्नानी) किसी त्रिदण्डी सन्यासी ने किसी नापित से विद्या सीखी। विद्या के प्रभाव से उसकी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा होने लगी। परन्तु किसी के द्वारा 'यह विद्या किससे सीखी ?' यों पूछे जाने पर जब उसने अपने 'विद्यागुरु' का नाम छिपाया तो उसकी विद्या नष्ट हो गई। इस दृष्टान्त को समझ कर श्रुतनिन्हवता करना, यानी शास्त्रज्ञान देने वाले का नाम छिपाना लाभदायक नहीं। ऐसा करने से विद्यानाश के सिवाय भयंकर ज्ञानावरणीय कर्मरोग बढ़ता है।' प्रसंगवश यहाँ अतिस्नानी त्रिदण्डी की कथा दी जा रही है—

अतिस्नानी त्रिदण्डी की कथा

स्तम्भपुर मे चंडिल नाम का एक अतिचतुर नाई रहता था। वह अपनी विद्या के बल से लोगो की हजामत करके अपने अस्त्रों को आकाश मे अधर रख दिया करता था। एक दिन किसी त्रिदण्डी ने नाई का यह चमत्कार देखा तो उसके मुंह मे भी नाई से विद्या ग्रहण करने की लार टपकी। त्रिदण्डी ने उस नाई की खूब सेवा की और प्रसन्न करके उससे यह विद्या सीख ली। उसके बाद घूमता-घामता त्रिदण्डी हस्तिनापुर आया। वहाँ के लोगों ने त्रिदण्डी का चमत्कार देखा तो वे आश्चर्यचकित हो गए; उसकी खूब सेवा-भक्ति करने लगे। धीरे-धीरे सारे नगर मे उसकी शोहरत हो गई। वहा के उस समय के राजा पद्मरथ के कानों मे भी त्रिदण्डी के चमत्कार की बात पडी। राजा भी उस कौतुक को देखने के लिए आया और उसने फिर सविनय त्रिदण्डी से पूछा—"स्वामिन्! आप अपने त्रिदण्ड को आकाश में अधर लटका कर रखते है; यह किसी तप का प्रभाव है या किसी विद्या का ?" त्रिदण्डी ने उत्तर दिया—"राजन्! यह विद्या की ही शक्ति का प्रभाव है।" तब राजा ने पूछा—"स्वामिन्! वह चित्तचमत्कारिणी विद्या आपने किससे सीखी ?" इस पर त्रिदण्डी ने लज्जावश

अपने विद्यागुरु नाई का नाम न ले कर झूठमूठ ही बात बनाई कि "राजन्! हम कई वर्षों पहले हिमालय गए थे। वहां हमने तपस्या व कष्टकारी अनुष्ठान द्वारा सरस्वतीदेवी की आराधना की थी। उस समय सरस्वतीदेवी ने प्रत्यक्ष हो कर मुझे यह अम्बरावलम्बिनी विद्या दी थी। सरस्वतीदेवी ही मेरी विद्यागुरु है।" त्रिदण्डी के इस प्रकार असत्य कहते ही आकाश में अधर लटकता हुआ उसका त्रिदंड खटाक से जमीन पर आ गिरा। इसे देख कर त्रिदण्डी अत्यन्त लज्जित हुआ। उपस्थित लोग भी उसकी हंसी उडाने और धिक्कारने लगे। इससे दुःखित होकर वह वहाँ से चुपचाप चला गया।

जैसे वह त्रिदण्डी विद्यागुरु का नाम छिपाने से अत्यन्त दुःखी हुआ, वैसे ही जो कुशिष्य अपने गुरु का नाम छिपाता है, वह दुःखी और धिक्कार का पात्र होता है, यही इस कथा का तात्पर्य है।

सयलम्मि वि जीयलोए तेण इह घोसिओ अमाघाओ।

इक्कं पि जो दुहत्तं सत्तं बोहेइ जिणवयणे ॥२६८॥

शब्दार्थ—'जो व्यक्ति इस संसार में जन्ममरण के दुःख से पीड़ित एक भी प्राणी को श्रीजिनवचन का बोध कराता है, वह इस १४ रज्जुप्रमाणलोक में अमारिपटह से घोषणा कराने जितना लाभ प्राप्त करता है, क्योंकि एक भी व्यक्ति जिनशासन को भलीभांति प्राप्त कर लेने पर अनन्तजन्ममरण के चक्र से बच जाता है।

सम्मत्तदायगाणं दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु।

सव्वगुणमेलियाहिं वि उवयारसहस्सकोडीहिं ॥२६९॥

शब्दार्थ—'सम्यक्त्व-(बोधिबीज) प्रदाता गुरुजनों के उपकार का बदला चुकाना अनेक जन्मों में भी दुःशक्य है। क्योंकि अनेक भवों में भी गुरुदेव के करोड़गुना उपकारों से उपकृत व्यक्ति सारे गुणों द्वारा दो-तीन-चार गुना प्रत्युपकार मिला कर भी अनन्तगुना

उपकार तक नहीं पहुंच सकता। इसलिए सम्यक्त्वदाता धर्मगुरु का उपकार दुनिया में सर्वोत्कृष्ट है। उनकी भक्ति करनी चाहिये।'
अब सम्यक्त्व का फल बताते हैं —

सम्मत्त'मि उवलद्धे ठइयाइ' नरयतिरियदाराइं।

दिव्वाणि माणुसाणि य मोक्खसुहाई सहीणाई ॥२७०॥

शब्दार्थ—सम्यक्त्व प्राप्त होने पर उस जीव के नरक और तिर्यञ्चगति के बहुत-से द्वार बन्द हो जाते हैं। यानी इन दोनों गतियों में उसका जन्म नहीं होता। क्योंकि सम्यक्त्वधारक मनुष्य प्राय: देवायु का बन्ध करता है। और देव प्रायः मनुष्यायु बांधता है। इसलिए सम्यक्त्वी के दोनों अशुभगतियों के द्वार बन्द हो जाते हैं। देव, मनुष्य और मोक्ष सम्बन्धी सुख उसके हस्तगत हो जाते हैं।

प्रकान्तर से सम्यक्त्व का फल बताते हैं :—

कुसमयसुईण महण, समत्त' जस्स सुट्ठियं हियाए।

तस्स जगुज्जोयकरं नाणं चरणं च भवमहणं ॥२७१।

शब्दार्थ—'जिस व्यक्ति के हृदय में कुसमय (मिथ्यादर्शनियों के सिद्धान्त) का नाशक सम्यक्त्व सुस्थिर हो गया, समझ लो, उसको भव-भ्रमण का नाश करने वाले विश्व का उद्योत करने वाला केवल-ज्ञान और यथाख्यातचारित्र प्राप्त हो गया।' क्योंकि सम्यक्त्व न हो तो ज्ञान ज्ञान नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र नहीं प्राप्त होता। और चारित्र के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त होता। अत मोक्ष का मुख्य कारण सम्यक्त्व है।

सुपरिच्छियसमत्तो नाणेणालोइयसब्भावो।

निव्वणचरणाढत्तो इच्छियमत्थ पसाहेइ ॥२७२॥

शब्दार्थ—'जिसने अच्छी तरह परीक्षा करके दृढ सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है, सम्यग्ज्ञान से जो जीव अजीव आदि तत्त्वों का स्वरूप भलीभांति जानता है, और इस कारण से अतिचाररहित चारित्र के पालन में संलग्न है, यानी निश्चयदृष्टि से जो सतत परभावों को छोड कर स्वभाव में ही रमण करता है, वह जीव रत्नत्रय का सम्यक् आराधना के फल स्वरूप इष्ट अर्थ-शाश्वतसुखरूप मोक्षार्थ को साध लेता है।'

जह मलिणाएहि पडरमि कुव्वइ रागरंगेहिं ।
सोमच्छा वडसोहा, इय सम्मत्तं पमार्णाहिं ॥२७३॥

शब्दार्थ-भावार्थ—'जैसे वस्त्र बुनते समय ताना (मूल तन्तु) स्वच्छ हो, किन्तु उसके साथ बाना वाले, वस्त्रादि आदि रंगाव रंग के तन्तुओं के हों तो उस वस्त्र की शोभा मारी जाती है वैसे ही पहले सम्यक्त्व निर्मल हो, लेकिन उसके साथ विषयकषायप्रमादादि के आ मिलने पर वह बिगड़ जाता है। इसलिए सम्यक्त्व को मलिन करने वाले विषय-कषाय आदि प्रमादशत्रुओं से बचना चाहिए, यही इसका निष्कर्ष है।'

नरएसु सुरवरेसु य, जो बंधइ सागरोवम इक्कं ।
पलिओवमाण बंधइ, कोडिसहस्साणि दिवसेण ॥२७४॥

शब्दार्थ—'सौ वर्ष की उम्र वाला आदमी अगर पापकर्म करता है तो एक सागरोपम की आयु वाली नरकगति का बन्धन करता है और उतना ही पुण्यकर्म उपार्जन करता है तो एक सागरोपम वाली देवगति का बन्धन करता है। ऐसा पुरुष एक दिन में सुर दुर्गतिसम्बन्धी हजार करोड़ पल्योपम जितना आयुष्य बांध लेता है उतना ही पाप पुण्य एक दिन में जीव उपार्जन कर लेता है। इसलिए प्रमादपूर्ण आचरण छोड़ कर निरन्तर पुण्योपार्जन करते रहना चाहिए।'

पलिओवम संखिज्जं, भागं जो बंधइ सुरगणेसु ।
दिवसे-दिवसे बंधई सवासकोडी असंखिज्जा ॥२७५॥

शब्दार्थ—'जो पुरुष मनुष्यजन्म में सौ वर्ष के पुण्याचरण से देवगणों में पल्योपम के संख्यातवें भाग का अल्पायुष्य बांधता है, इस हिसाब से वह पुरुष प्रतिदिन असंख्यात करोड़ वर्ष का आयुष्य बांधता है। क्योंकि पल्योपम के संख्यातवें भाग से १०० वर्ष के दिनों का भाग देने से भाग्यफल प्रत्येक दिन का असंख्यात करोड वर्ष आता है।'

एस कम्मो नरएसुवि बुहेण नाऊण नाम एय पि ।
धम्ममि कह पमाओ निमेसमित्तं पि कायव्वो ॥२७६॥

शब्दार्थ—'इसी क्रम से नरकों के आयुष्यबंध का भी हिसाब लगा कर भलीभांति समझ कर पण्डितपुरुष को वीतरागकथित क्षमा आदि दस प्रकार के श्रमणधर्म की आराधना में पलभर भी प्रमाद क्यों करना चाहिए ? मतलब यह है कि सतत धर्माराधन में तत्पर रहना चाहिए।'

दिव्वालंकारविभूसणाइं रयणुज्जलाणि य घराइं ।
रूवं भोगसमुदओ सुरलोगसमो कओ इहं ॥२७७॥

शब्दार्थ—'देवलोक में जैसे दिव्य छत्र, सिंहासन आदि ऐश्वर्यालंकार है, जैसे दिव्य मुकुट आदि आभूषण है, रत्नों की राशि की उज्ज्वल धरती और रत्नमय प्रासाद हैं, शरीर का कान्तिमय रूप सौभाग्य है और अत्यन्त अद्‌भुत भोगसामग्री है, ऐसी मनुष्यलोक में कहाँ से हो सकती है ?' इसलिए धर्मकार्य मे उद्यम करना चाहिये, ताकि ऐसा सुखप्राप्ति हो सके। यही इस गाथा का तात्पर्य है।'

देवाण देवलोए अ सुक्खं त नरो सुभणिओ वि ।
न भणइ वाससएण वि जस्स वि जीहासय हुज्जा ॥२७८॥

शब्दार्थ—'यदि किसी मनुष्य की सौ जिह्वाएं हों, वोलने में भी निपुण हो और सौ वर्ष तक भी देवलोक में देवताओं के सुख का वर्णन करे, तो भी वह उस सुख का वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे दिव्यसुखों में देवता मग्न रहते हैं। उसका वर्णन साधारण मनुष्य नहीं कर सकता।'

नरएसु जाइं अइकक्खडाइं दुक्खाइं परमतिक्खाइं ।
को वन्नेही ताइं, जीवंतो वास कोडी वि ॥२७९॥

शब्दार्थ—'नरकगति में जो अत्यन्त दुःसह और विपाक की वेदना से अत्यन्त तीक्ष्ण क्षुधा, तृषा, परवशता आदि दुःख हैं उन दुःखों का करोड़ वर्ष तक भी जिंदा रह कर मनुष्य वर्णन करे, फिर भी वर्णन करने में समर्थ नहीं होता।

कक्खडदाह सामलि असिवण वेयरणि पहरणसएहिं ।
जा जायणाउ पावंति, नारया तं अहम्मफलं ॥२८०॥

शब्दार्थ—'नरक के जीवों को अत्यन्त तेज जलती आग में डाल कर पकाया जाता है, सेमर के पेड़ के तीखे पत्तों से उनका अंग छेदन होता है तलवार की नोक जैसे तीखे दुःखदायी पत्ते वाले वृक्षों के जंगल में परिभ्रमण करना पड़ता है, वैतरणी नाम की नदी का गर्मागर्म शीशे के समान जल पीना पड़ता है, और कुल्हाड़ा, फरसा आदि सैकड़ों प्रकार के शस्त्रों से अंग काट डाले जाने से बड़ी पीड़ा पाता है। यह सब यातनाएं अधर्म, अनीति, अन्याय इत्यादि अधमकृत्य का फल है। अब तिर्यचगति के दुःखों का वर्णन करते हैं—

निरियाए मकुसागनिवाय-वह-बंधण-मारण-सयाइं ।
न विइहय पावंता, परत्थ जइ नियमिया हुंता ॥२८१॥

शब्दार्थ—'तिर्यचयोनि में हाथी, घोड़ा, बैल आदि को अंकुश, चाबुक, जमीन पर गिराने, लकड़ी आदि से मारने, रस्सी, साँकल आदि से बांधने और जान से मार डालने इत्यादि के जो सैकड़ों दुःखों के अनुभव होते हैं। वह ऐसे दुःख नहीं पाता, बशर्ते कि पूर्वजन्म में स्वाधीन धर्मनियमादि का पालन करता ।'

अब मनुष्यगति के दुःखों का वर्णन करते हैं—

आजीवसंकिलेसो, सुक्खं तुच्छं उवद्दवा बहुया ।
नीयजणसिट्ठणा विय, अणिट्ठवासो अमाणुस्से ॥२८२॥

शब्दार्थ—"और मनुष्यजन्म में भी जिंदगीभर मानसिक चिंता, अल्पकालस्थायी तुच्छ विषयसुख, अग्नि, चोर आदि का उपद्रव, नीच लोगों की डांटफटकार, गालीगलौज आदि दुर्वचन सहन करना और अनिष्टस्थान में परतंत्रता से रहना पड़ता है। ये सब दुःख के हेतु हैं। इसलिए मनुष्यजन्म में भी सुख नहीं है।"

चारगरोहवहबंधरोगधणहरणमरणवसणाइं ।
मणसंतावो अजसो, विग्गोवणया य माणुस्से ॥२८३॥

शब्दार्थ—'और मनुष्यजन्म में किसी भी अपराध के कारण कारागृह में बन्द होना, लकड़ी आदि से मारपीट, रस्सी, साँकल आदि बंधन, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न रोग, धन का हरण, मरण, आफत, मानसिक उद्वेग, अपकीर्ति और अन्य भी बहुत प्रकार की विडंबनाएं दुःख का कारण है। मनुष्यलोक में भी सुख कहाँ है ?'

चितासंतावेहिय, दारिद्दरुआहिं दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूण वि माणुस्सं, मरंति केवि सुनिव्विण्णा ॥२८४॥

शब्दार्थ—'मनुष्यजन्म पा कर भी बहुत लोगों को कुटुम्ब-परिवार के भरण पोषण आदि की चिन्ता सताती रहती है, चोर, डाकू लुटेरे आदि का रातदिन डर रहता है, पूर्वजन्म में किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप गरीबी होती है, व्याधि-रोग के कारण अत्यन्त दुःखित होना पड़ता है और अन्त में मृत्यु का दुःख भी महाभयंकर है। इसलिये चिन्तायुक्त मनुष्यजन्म निष्फल है। अतः अमूल्य मनुष्य जन्म प्राप्त कर धर्मकार्य में पुरुषार्थ करना चाहिये।'

देवताओं को भी सुख नहीं है, इस सम्बन्ध में कहते हैं—

देवा वि देवलोए दिव्वाभरणाणुरंजियसरीरा ।
जं परिवडंति तत्तो तं दुक्खं दारुणं तेसिं ॥ २८५ ॥

शब्दार्थ—"देवलोक में दिव्य अलंकारों से सुशोभित शरीर वाले देवताओं को भी वहाँ से च्यवन करके अशुचि से भरे हुए गर्भवास में आना पड़ता है, वह उनके लिए अतिदारुण दुःख है। इसलिये देवलोक में भी सुख नहीं है।"

तं सुरविमाणविभवं चिंतिय चवणं च देवलोगाओ ।
अइबलियं चिय जं नवि फुट्टइ सयसक्करं हिययं ॥२८६॥

शब्दार्थ—'स्वर्गलोक का वह प्रसिद्ध अत्यन्त अद्भुत वैभव छोड़ने और उस देवलोक से च्यवन का मन से विचार करके घन व लोहे की तरह दोनों ओर से मार पड़ती है, वैसे ही देवलोक के जीव को एक ओर सुखवैभव छोड़ने का दुःख और दूसरी ओर मनुष्यलोक में गन्दे अशुचिपूर्ण गर्भावास में उत्पन्न होने का महादुःख होता है। ऐसा विचार करते हुए भी उसका अत्यन्त कठोर व बलिष्ठ हृदय फूट नहीं जाता। और फिर देवगति के दारुण दुःखों का वर्णन करते हैं—

ईसा-विसाय-मय-कोह-माण-माया-लोभेहिं एवमाईहिं ।
देवा वि समभिभूया, तेसिं कत्तो सुहं नाम ॥ २८७ ॥

शब्दार्थ—"देवों में भी परस्पर ईर्ष्या होती है, दूसरे देवों के द्वारा किये हुए तिरस्कार से विषाद होता है, अहंकार, अप्रीतिरूप क्रोध, असहनशीलता, माया, कपटवृत्ति, लोभ और आसक्ति इत्यादि मन के विकारों से देव भी दबे हुए रहते है। वास्तव में उन्हें भी सुख कहां से मिल सकता है ?"

धम्म पि नाम नाऊण, कीस पुरिसा सहति पुरिसाण ।
सामित्ते साहीणे, को नाम करिज्ज दासत्त ॥ २८८ ॥

शब्दार्थ—"इस तरह प्रचुरदुःखमय-संसारोच्छेदक सर्वज्ञप्रणीत सद्धर्म को सद्गुरु से जान कर स्वपरकल्याण की साधना करने में प्रयत्नशील सत्पुरुष की तरह जागृत होने के बदले, स्वहितसाधन से जीव क्यों उपेक्षा करता है ? शुद्ध देव, गुरु और धर्मतत्त्व को यथार्थ रूप से जानने के बाद उसकी आराधना में प्रमाद करना अत्यन्त अनुचित है। अरे ! ऐसा कौन मूर्ख है कि स्वामित्व छोड़ कर दासत्व स्वीकार करने को तैयार हो ? जो साधक सर्वसुखदायी श्रीजिनेश्वर-कथित सद्धर्म का अनादर कर विषयकषायादि प्रमाद मे ही तत्पर रहता है; वह सद्गति का अनादर करके दुर्गति मे अवश्य ही जाता है और दासत्व प्राप्त करता है, परन्तु जो जिनवचन की आज्ञारूप धर्म का पालन करता है, वह सब पर स्वामित्व प्राप्त करता है। इसलिए श्रीजिनप्ररूपित धर्म की आज्ञा माननी चाहिये।"

ससारचारए चारएव्व, आवीलियस्स बधेहिं ।
उव्विग्गो जस्स मणो, सो किर आसन्नसिद्धिपहो ॥ २८९ ॥

शब्दार्थ—"इस चारगतिरूप संसार के परिभ्रमण-समान कैदखाने में अनेक प्रकार के कर्मबन्धन से पीड़ित जिस पुरुष का मन उद्विग्न

हो गया हो, अर्थात् 'इस संसार बन्धन से मैं कैसे छुटकारा पाऊँगा ?' ऐसे रातदिन विचार करने वाले जीव को निश्चय ही निकट भव्य जानना। उसका संसार परिमित है और वह जल्दी ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।'

मासग्गलभवसिद्धियस्स जीवस्स लक्खणं इणमो।

विसयसुहेसु न रज्जइ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥ ४६० ॥

शब्दार्थ-भावार्थ- जो जीव अल्पकाल में ही जन्म मरण (संसार) का अन्त कर मोक्षगति पाने वाला हो, वह पांच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, और सब-संयमरूप स्वपरक योग साधना में पूरी ताकत लगा कर पुरुषार्थ करता है। यही आत्मार्थी का वास्तविक लक्षण है।

इज्ज न म न देहबलं धिइमइसत्तेण जइ न उज्जमसि।

अच्छिहिसि चिरं कालं बलं च कालं च सोयंतो ॥४६१॥

शब्दार्थ-भावार्थ—' हे शिष्य ! इस समय तो शरीर में ताकत है फिर भी तू धैर्य, बुद्धिबल और उत्साह के साथ धर्म में उद्यम नहीं करेगा तो बाद में पश्चात्ताप करेगा— हाय ! अब तो शरीर में ताकत न रही। यह धर्मकार्य अब तो नहीं हो सकता कैसे करूँ? यों विचार करते करते चिरकाल तक तू संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। अर्थात् धर्म की आराधना नहीं करेगा तो मुझे बाद में बहुत अर्से तक पछताना पड़ेगा—'हाय ! अब क्या करूँ ! अब तो शरीर में शक्ति नहीं रही !' इस प्रकार तुझे अफसोस करने का समय आयेगा।'

लद्धिल्लियं च बोहिं अकरिंतो अणागयं च पत्थंतो।

अन्नदाइं बोहिं लब्भसि कयरेण मुल्लेण ॥४६२॥